THE BOOK WAS DRENCHED

आधुनिक भारत

[आचार्य जावड़ेकर की मराठी पुस्तक का रूपांतर]

श्री हरिभाऊ उपाध्याय



भूमिका-लेखक

श्री कन्हैयालाल माणेकलाल मुन्शी

भूतपूर्व गृह-मंत्री बंबई प्रांत



हिन्दी मन्दिर, प्रयाग

प्रकाशक
बृहस्पति उपाध्याय
हिन्दी मंदिर, प्रयाग

प्रथम संस्करण
१९४४ : ११००
मूल्य
चार रुपये
सजिल्द : पाँच रुपये

मुद्रक
श्रीनाथदास अग्रवाल
टाइम टेबुल प्रेस, बनारस

भूमिका

आधुनिक भारत हमारे राष्ट्रीय आन्दोलन का सुन्दर इतिहास है। अन्य राष्ट्रीय आन्दोलनों से हिन्द का राष्ट्रीय आन्दोलन निराला है। उसकी आधार भूमि आध्यात्मिक है। सत्याग्रह ने उसको तीक्ष्ण धार दी है। उस आन्दोलन का चित्र इस पुस्तक में चित्रित है। उस आन्दोलन को समझने के लिए इस पुस्तक के समान अन्य कोई पाठ्य-पुस्तक नहीं मिलेगी।

जैसी लोक-प्रियता इसने असल मराठी में प्राप्त की थी वैसी ही लोक-प्रियता यह हिन्दी अनुवाद भी प्राप्त करेगा।

—*कन्हैयालाल माणेकलाल मुन्शी*

विषय-सूची

पूर्वार्द्ध

उत्तरार्द्ध

आधुनिक भारत

पूर्वार्द्ध

: १ :

हिन्दुस्तान क्यों और कैसे जीता गया ?

सोलहवीं सदी से योरप में मानव-संस्कृति एक नयी दिशा की ओर जाने लगी। योरपीय समाज और राज्य में एक नयी क्रान्ति होने लगी। समाज में अमीर-उमरावों का महत्त्व कम होने लगा और समाज-व्यवस्था तथा राजनीति में व्यापारी-वर्ग को विशेष महत्त्व मिलने लगा। वहाँ के व्यापारी-वर्ग की महत्वाकांक्षा को एक नवीन चेतना मिली। मानव-संस्कृति के इतिहास में व्यापारी-युग का प्रारम्भ प्रायः तब से हुआ जब से (अर्थात् पन्द्रहवीं सदी के अखीर से) वास्कोडिमागा ने आफ्रिका होकर हिन्दुस्तान आने का जल-मार्ग खोज निकाला। ग्रेट ब्रिटेन योरप में एक छोटा राष्ट्र है, परन्तु फिर भी सोलहवीं और सत्रहवीं सदी में वह इस व्यापारी-युग की संस्कृति में बहुत आगे बढ़ गया और सत्रहवीं सदी के अन्त में तो इस द्वीप के राज्य-सूत्र व्यापारी मध्यमवर्ग के लोगों के हाथों में आगये। इससे पहले वहाँ समाज में और राजकाज में अमीर-उमरा और धर्माधिकारियों को जो अग्रस्थान मिलता था, वह बिलकुल जाता रहा और ब्रिटिश-राष्ट्र एक व्यापारी-राष्ट्र और ब्रिटिश-संस्कृति एक व्यापारी-संस्कृति बन गयी।

इस नवीन व्यापारी-युग के कारण मानव-संस्कृति जहाँ कुछ बातों में आगे बढ़ी वहाँ कुछ अंशों में पीछे भी हटी। परंतु आज इस युग का अन्त करके मानव-संस्कृति एक दूसरे युगमें प्रवेश कर रही है, परन्तु इस नवीन युग में प्रवेश करने से पहले यदि व्यापारी-युग में हुई प्रगति को आत्मसात् किये बगैर आगे जाने की कोशिश की गयी तो फिर पीछे हटना

पड़ेगा। अतः यह उचित है कि इस युग की महिमा को ठीक ठीक समझ लिया जाय, उसके गुण-दोषों की अच्छी तरह छानबीन कर ली जाय, फिर कोई समाज या राष्ट्र अपना कदम आगे बढ़ावे। योरप को वहाँ के व्यापारी-वर्ग ने स्वराष्ट्र-संघटन और परराष्ट्र-आक्रमण के सम्बन्धमें बहुत-सी नयी बातें बतायी हैं और दूसरे राष्ट्रों पर आक्रमण करने के बाद उसका अधिक से अधिक लाभ अपने राष्ट्र के लोगों को कैसे पहुँचाया जाय, अपने राष्ट्रकी सम्पत्ति, सत्ता और वैभव की अधिक से अधिक वृद्धि कैसे की जाय—इसका भी ज्ञान इस व्यापारी-वर्ग ने योरप को पहले-पहल कराया।

इस व्यापारी-वर्गके आगे आने के मार्ग में धर्माधिकारी, अमीर-उमरा और राजालोग बाधकस्वरूप थे। इसलिए उन्होंने पहले तो धर्म-संस्थाओं के खिलाफ़ बग़ावत खड़ी की, अमीर-उमरा का जोर हटाने में राजाओं की सहायता की और अन्त को राजा के खिलाफ़ भी बग़ावत का झण्डा उठाया और सारे शासनसूत्र अपने हाथ में ले लिये। यह धार्मिक, समाजिक तथा राजनैतिक परिवर्तन अथवा क्राँति पहले इंग्लैण्ड में हुई और फिर फ्रान्स, इटली, जर्मनी आदि दूसरे देशों में क्रम से उसका प्रवेश हुआ। इस क्रान्ति-कार्य में जो देश जितने पीछे रह गये, वे संसार की राजनीति में भी उसी हिसाब से पिछड़े रह गये और जिन देशों ने इस नये युग का महत्त्व बिलकुल ही नहीं समझा और न उसका स्वरूप ही जिनके ध्यान में आ सका वे, जिन देशोंने इस युग की महिमा को ठीक ठीक आत्मसात् कर लिया था उनके सम्पर्क में आते ही, हार गये। संसार के व्यवहारों में पीछे रहने का यह अनिवार्य फल है। परन्तु जो लोग मानवसंस्कृति की एक अवस्था में पीछे रह गये, वे उसकी दूसरी अवस्था में संसार में बहुत आगे भी बढ़ सकते हैं। हाँ, उसके लिए यह जरूरी है कि अपने और दुनिया के अनुभवों से सबक लेकर आगे कदम बढ़ाने का और अपनी बुद्धि से नयी खोज और आविष्कार करके विश्व-संस्कृति में वृद्धि करने का सामर्थ्य और पराक्रम उनमें हो।

अच्छा, तो जब योरप के व्यापारी-समाज की महत्वाकांक्षा पूरे ज़ोर में थी और वह अमेरिकासे हिन्दुस्तान और चीन तक सारी दुनिया में

व्यापार के बहाने घूम-घाम रहा था, उस समय हिन्दुस्तान की क्या दशा थी ? उस समय जब कि योरपके व्यापारियोंसे उसका सम्बन्ध हुआ अमेरिका, आफ्रिका और आस्ट्रेलिया के लोगों की तरह हिन्दुस्तानी जंगली नहीं थे। तब तो हिन्दुस्तान में हिन्दुओं और मुसलमानों के प्रबल राज्य और साम्राज्य थे। धनोत्पादन और युद्ध-कला में वे तत्कालीन योरपीय राजाओं से पीछे नहीं थे। अकबर या औरंगजेब के साम्राज्यों के मुकाबले में एलिजाबेथ अथवा एन का राज्यविस्तार और वैभव बिलकुल नाचीज़ था। एलिजाबेथ के राज्यकाल से लेकर एन के शासनकाल में ब्रिटिश व्यापारी पश्चिम में अमेरिका से लेकर पूर्व में हिन्दुस्तान और चीन में फैल गये थे। भिन्न-भिन्न देशों में उन्होंने अपने छोटे-छोटे उपनिवेश और व्यापारी-कोठियाँ कायम कर ली थीं। इन कोठियों की हिफाज़त के लिए वे कुछ शस्त्रास्त्र और सैनिक अपने पास रखते थे और जिस समुद्र पर किसी राजा की सत्ता नहीं थी, उस पर भी वे अपना प्रभुत्व और धाक जमाने लगे थे। इसी जमाने में इन व्यापारी लोगों ने अपने देश के शासनसूत्र अमीर-उमरा और राजाओं के हाथ से छीन लिये और समाज-संघटन, राज्यव्यवस्था, व्यापारिक-संघटन, युद्ध-शास्त्र, सामाजिक-शास्त्र और भौतिक-विद्या में कितने ही नये नये शोध किये। इस कारण उनके मन में यह अभिमान भी उत्पन्न होगया था कि हम हिन्दुस्तान और एशिया के हिन्दू, मुसलमान और बौद्धों की अपेक्षा अधिक सुसंस्कृत और सभ्य हैं।

जब हम यह कहते हैं कि ब्रिटिश-राष्ट्र व्यापारी-राष्ट्र है और ब्रिटिश-संस्कृति व्यापारी-संस्कृति है, तो इसका क्या अर्थ हो सकता है ? ब्रिटेन के सभी लोग व्यापारी हैं अथवा दूसरे राष्ट्रोंमें कोई व्यापारी ही नहीं हैं, ऐसा इसका अर्थ नहीं हो सकता। बल्कि यह है कि ब्रिटेन में व्यापारी लोगों की प्रधानता है और वहाँ की संस्कृति पर उस वर्ग की गहरी छाप पड़ी है। परन्तु इतने से ही इस वाक्य का असली अर्थ व्यक्त नहीं होता। ब्रिटेन के व्यापारियों को आखिर यह प्रधानता कैसे मिली ? जब इसका विचार करते हैं तो यह दिखाई देता है कि वहाँ के व्यापारी-वर्गने अपने राष्ट्रकी शासन-सत्ता अपने हाथों में ली और धर्माधिकारियों तथा अमीर-

उमराओंके वर्ग की प्रधानता मिटा दी अर्थात् ये व्यापारी लोग राजकाजी और लड़वैये थे। हमारे देशके व्यापारी-वर्ग की तरह महज् व्यापार करके पेट भरनेवाले निरुपद्रवी जीव नहीं थे। राजा और अमीर-उमरा अर्थात् लॉर्ड्स तो हमारी रक्षा करके देश में शांति स्थापित करें और हम सिर्फ व्यापार करके पेट भरते रहें, यह वृत्ति उन्होंने छोड़ दी थी। उन्होंने इस सिद्धान्त को भी गलत ठहरा दिया कि शासन करना महज उमरावों का ही काम है। जब उन्होंने देखा कि अमीर-उमरा देशमें शान्ति-स्थापन नहीं कर सकते और आपस में लड़भिड़ कर उल्टी अशांति पैदा करते हैं और व्यापार-धंधों की स्थिरता नष्ट करते हैं, तो उन्होंने शासन-कार्य अपने ही हाथों में ले लिया। इतना ही नहीं, बल्कि राज्यविस्तारका जिम्मा भी खुद ले लिया। पहले यह होता था कि अमीर-उमरा जाकर किसी देशपर कब्जा करते थे, राज्य-विस्तार करते थे, पीछे व्यापारी लोग जाकर अपना व्यापार जमाते थे। अब इस क्रमको बदलकर उन्होंने नया मार्ग निकाला कि व्यापारी पहले दूसरे देशों में जाकर व्यापार का अड्डा जमायें और पीछे अपने राष्ट्र का झण्डा वहाँ गाड़ दें। पहले राज्यविस्तार और फिर व्यापार-विस्तार के बजाय पहले व्यापार-विस्तार और फिर राज्य-विस्तार—यह विचार-शृंखला उन्होंने रूढ़ि की। मतलब यह कि जो अंग्रेज इधर आये, वे महज व्यापार करनेवाले नहीं थे, बल्कि लड़वैये और दूसरे देशों पर कब्जा करके राज्य-विस्तार करनेवाले व्यापारी थे। समुद्री डाकुओं से और लूटमार से अपनी रक्षा करने के लिए वे शस्त्रास्त्र और युद्ध-सामग्री अपने पास रखते थे। दूसरे देशों में जहाँ-जहाँ अपनी व्यापारी-कोठियाँ उन्होंने कायम की थीं, वहाँ वहाँ अपने उपनिवेश और छावनियाँ उन्होंने बना ली थीं। जो राजा व सरदार उनके व्यापार को संरक्षण न दे सकें, उनको पदच्युत करके राज्यक्रान्ति कैसे की जाय, यह विद्या वे जानते थे और यदि उन्हें कमजोर समझकर कोई कुचलने की कोशिश करे, तो उनके देशकी राजसत्ता का बल उनकी सहायता के लिए आ सकता था। उनके अपने देशमें जिन लोगों के हाथ में राजसत्ता थी, वे परदेशों की अपनी व्यापारी-कोठियों की रक्षा करना अपना कर्त्तव्य समझते थे, क्योंकि वे व्यापारी-वर्ग के ही प्रतिनिधि थे। ब्रिटिश लोग

व्यापारी हैं, अथवा उनकी संस्कृति व्यापारिक है, इस वाक्य का अर्थ इतना गहरा है।

राजशास्त्र की दृष्टि से विचार करें तो सत्रहवीं सदी में जो मराठा-संस्कृति उदय हुई और अठारहवीं सदी के मध्य तक जिसने सारे हिन्दुस्तानका सार्वभौमत्व प्राप्त करनेमें काफी सफलता पायी वह ब्रिटिश-संस्कृति से राष्ट्रीयता और प्रजातंत्र इन दो बातों में पिछड़ी हुई दिखाई देती है। जिस समय मराठे लोग शिवाजीके नेतृत्व में हिन्दू-राज्यकी स्थापना कर रहे थे, उसी समय ब्रिटिश लोग क्रामवेलके नेतृत्व में अपने ही धर्म और देशके राजाको पदच्युत करके प्रजातंत्र की स्थापना का प्रयत्न कर रहे थे। फिर सम्भाजी के वध के बाद (१६८९ ई०) जब मराठे विधर्मियों की सत्ता और आक्रमण को निवारण करके स्वराज्य और स्वधर्म के संरक्षण में लगे हुए थे और उसके लिए उन्होंने असीम स्वार्थत्याग करके सफलता प्राप्त की, उसी समय ब्रिटिश लोगों ने अपने देश के जालिम राजा, दूसरे जेम्स, को गद्दी से उतार कर उस संग्राम में सफलता प्राप्त की जो क्रामवेलके समय से अनियंत्रित राजसत्ता और प्रातिनिधिक लोकसत्ता में हो रहा था, और इस प्रकार अपने देशमें लोक-नियंत्रित (अर्थात् प्रजासत्तात्मक) राज की स्थापना की। इस बात को ध्यान में रक्खा जाय तो जिस समय मराठे सिर्फ परधर्मियों और परकीयों के राज्यों को नष्ट करके स्वधर्मीय राजा के राज्य-स्थापन करने के विचार और प्रयत्न में लगे थे, उसी समय ब्रिटिश लोग इस सिद्धान्त की प्रस्थापना में लगे हुए थे कि राजा चाहे स्वकीय हो चाहे स्वधर्मी हो, यदि वह जालिम है तो उसे हटाकर दूसरे राजा को गद्दीपर बिठाना और लोकमतानुसार शासनकार्य चलाना उनका कर्त्तव्य है। इस तत्व की प्रस्थापना ब्रिटेन के व्यापारी-वर्ग के नेताओं ने व्यापारी और किसान वर्ग का नेतृत्व करके उनके धन-जन-बल पर की। इस कारण वह राष्ट्र राजकीय-संस्कृति की दृष्टि से दूसरे सब राष्ट्रों के आगे निकल गया। इधर मराठोंने अपनी स्वतंत्रता कायम रहने तक यह सबक नहीं सीखा, फलतः ब्रिटिश लोगों की गुलामी स्वीकार करके दूसरे भारतीयों के साथ-साथ उन्हें भी प्रजातन्त्र का सिद्धान्त सीखना पड़ा।

अंग्रेजों ने यहाँ के व्यापारियों को अपनी मुट्ठी में लेकर राजक्रान्ति तो की, परन्तु राजसत्ता अपने ही हाथों में रक्खी। अंग्रेजों के राज्य-विस्तार में गुप्त नामक जैन व्यापारी की बहुत सहायता मिली। यह घराना धर्मनिष्ठ था और उसने हिन्दुस्तान में बड़े सुन्दर मन्दिर बनवाये हैं। इस घराने की यह तजवीज थी कि प्रत्येक लड़ाई के समय या उससे पहले हिंदुस्तान के राजाओं की जानकारी और रुपये पैसे की सहायता अंग्रेजों को दे तथा उनके शांतिपूर्ण शासन का जाल सारे हिन्दुस्तान में फैला दिया जाय। क्लाइव से लार्ड कैनिंग के शासनकाल तक यह व्रत उन्होंने बराबर निभाया, जिसके लिए उन्हें ब्रिटिश अधिकारियों की ओर से सिफारिशी पत्र मिले। सारा हिन्दुस्तान जीतकर जब ब्रिटिश राजनीतिज्ञ अफगानिस्तान और ईरान में अपने पाँव फैला रहे थे, तब सर अलेक्जेंडर बर्न्स ने १८३७ में इस खानदान का वर्णन इस प्रकार किया है—

'स्वरूपचन्द गुप्त शालिवर्मा कच्छबाशा के वंशज काबुल-कन्दहार, समरकन्द, हिरात और अन्य स्थानों के कई एशियाई लोगोंकी अनेक गतिविधियों पर सतर्क होकर नज़र रखते हैं और ब्रिटिश अधिकारियों के लाभ के लिए अपनी जानकारी भेजते रहते हैं। तमाम युद्ध, संधि और सैनिक बातों की व्यवस्था उनकी जानकारी पर ही अवलंबित रहती है, इसलिए सरकार उनकी बहुत ऋणी है।' इस प्रकार ये ब्रिटिश पक्ष के बड़े विश्वसनीय और राजनिष्ठ लोग थे। इनकी जानकारी सही और विश्वसनीय होती थी। इसी तरह लॉर्ड एलिनबरा ने, १८४४ ईस्वी में अंग्रेजों को जो मदद इनकी दुकान या पेढ़ी की ओर से मिली, उसकी बहुत प्रशंसा की है। वह लिखता है कि 'आप मेरे ही नहीं, जिस सरकार का मैं प्रतिनिधि हूँ उसके भी सच्चे मित्र हैं। उस सरकार के कल्याण के लिए और पूर्वीय देशों में उसका राज्य कायम करने में जो सेवा आपकी तरफ से हुई है उसे हम कभी नहीं भूल सकते। मराठा और जाट युद्धों में, तथा मेरे शासनकाल के दूसरे युद्धों में, अंग्रेज अधिकारियों को जिस सबसे बड़ी अर्थात् आर्थिक सहायता की जरूरत थी वह आपने बहुत उदारता के साथ की है।' बंगाल के जगत्सेठ अमीचंद भी गुप्तघराने के आत्मीय थे जिन्होंने लार्ड क्लाइव और सरकार की तरफ

सहायता की थी। लार्ड क्लाइव १७६५ में लिखे अपने एक प्रमाणपत्र में लिखते हैं—

'आप लोगों ने लगभग ५० लाख रुपये इकट्ठा करके जगह जगह मकान बनवाकर पूर्वी देशों की खबरें भेजने के लिए डाक बांधने का जो निश्चय किया है, उसे सुनकर मुझे बड़ी खुशी हुई है। आपने खुद अपना रुपया लगाकर लोगों को जो हमारे छत्र के नीचे लाने की आयोजना की है, उसे सुनकर भी मुझे बड़ा आनन्द हुआ है। खास कर अरकाट में आपने और आपके लोगोंने जो सहायता की है, उसे मैं कभी नहीं भूल सकता।'

ग्वालियर का किला फतह करने में इस घराने ने जो सहायता दी, उसके सम्बन्ध में इस क़िले का विजेता अपने १७८२ के पत्र में लिखता है—'ग्वालियर के जैसे अगम्य और अभेद्य किले को सर करने में अगर महाराजाधिराज सवाई सिकन्दर स्वरूपचन्द गुप्त की हार्दिक सहायता न होती तो किसी भी दशा में वह किला जीता नहीं जा सकता था। किले में जाने के गुप्त मार्ग की जानकारी बड़े परिश्रम से प्राप्त करके उन्होंने हमें दी, जिससे हम आसानी से किला ले सके।'

खिड़की की लड़ाई (१८१७) में पूना-विजय कराने में इस खानदान ने जो काम किया, उसके बारे में जेनिन्स लिखता है—'आपने एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण, गुप्त ख़बर ऐसे ऐन मौके पर दी कि उसके बिना हमें विजय पाने में बहुत समय और परिश्रम लगता।' गुप्त घराने के व्यापारियों ने ब्रिटिश व्यापारी राज्यकर्ताओंको हिन्दुस्तान जीतने में जो सहायता की, वह जिस तरह ब्रिटिश राज्यकर्ता नहीं भूलेंगे, उसी तरह हिन्दुस्तान के लोग भी उसे नहीं भूल सकते।

लार्ड क्लाइव ने जब बंगाल फतह किया तो हिन्दू व्यापारियों और राजाओं अर्थात् जमीदारों ने ब्रिटिश राज्य की स्थापना में सहायता की। अंग्रेज लेखक एस. सी. हिलने अपनी पुस्तक '१७५६—५७ ई. का बंगाल' की प्रस्तावना में लिखा है—'इस देशके व्यापार और उद्योग धन्धे प्रायः पूरी तरह हिन्दू लोगों के ही हाथ में थे, इसलिए व्यापार के लिए आकर बसनेवाले योरपीय व्यापारियोंका स्वभावतः

ही उनसे निकट सम्बन्ध बंधा और इस भौतिक स्वार्थ के आधार पर हिन्दू और योरपीय व्यापारियों का एक प्रकार का गुप्त गुट्ट ही इस समय बन गया था।' १७५५ में स्कॉट नामक एक योरपियन ने बंगाल के बारे में एक पत्र लिखकर बंगालकी स्थिति का वर्णन किया है। उसका यह मत था कि यहाँ के व्यापारी व हिन्दूराजा राजक्रांति के काम में योरपियनोंकी सहायता करेंगे। श्री चार्ल्स एफ. नोबुल ने २२ सितम्बर १७५६ ई० को ईस्ट इंडिया कम्पनी की सिलेक्ट कमिटी को एक पत्र में लिखा था कि* कर्नल स्कॉट ने बंगाल की परिस्थिति का जो निरीक्षण किया, उससे ऐसा मालूम होता है कि हिन्दू राजा और प्रजा मुसलमानी शासकों से बहुत नाराज है और उनकी जालिमाना हुकूमत के तौक को उठा लेनेका मौका ढूँढ़ती है। पी. ई. रॉबर्ट्स अपनी 'ब्रिटिश हिंदुस्तान का इतिहास' नामकी पुस्तक में लिखता है कि '१७५६-५७ में बंगाल में जो राजक्रान्ति हुई वह मुख्यतः अथवा पूर्णतः योरपियन व्यापारी छावनी के द्वारा हिन्दुस्तानी प्रान्त को जीत लेने के जैसी नहीं थी, बल्कि स्वदेशी (हिन्दू) व्यापारी और साहूकार वर्ग तथा ब्रिटिशों के संयुक्त प्रयत्न द्वारा विदेशी (मुसलमान) राज्य को उखाड़ फेंकने जैसा स्वरूप उसका था। यद्यपि व्यापार के लिए आवश्यक शांति की दृष्टि से स्वदेशी और ब्रिटिश व्यापारी दोनों का इसमें समान हित था, फिर भी प्रत्यक्ष उथलपुथल में अंग्रेज ही अग्रसर हुए और राजसत्ता भी अकेले वे ही हड़प बैठे।'† वही लेखक आगे लिखता है— 'अलीवर्दीखाँ की मृत्यु के पहले भी सूक्ष्म निरीक्षकों को यह साफ दिखाई देता था कि यह झगड़ा अधिक टल नहीं सकता। नवाब अन्यायी था, यह कहने की अपेक्षा वह सख्त था कहना अधिक उचित होगा।' अंग्रेज अपने व्यापार पर लगे अनेक असह्य बन्धनों से अत्यन्त असंतुष्ट थे। आर्म १७५२ में ही क्लाइव को लिखता है—'इस बुड्ढे कुत्ते को जरा अच्छी तरह दाग दिया जाय तो अच्छा। यदि कम्पनी ने ऐसा नहीं किया तो बंगाल में उसके लिए व्यापार करना असंभव हो जायगा।' जब तक अलीवर्दीखाँ जीवित था, तब तक यह असन्तोष भीतर ही भीतर

---

* Rise of the Christian Powers by Major Basu p. 45.

† History of Br. India Page 131—32.

परच रहा था। उसकी मृत्यु के बाद दुराग्रही, दुर्बल और दुर्व्यसनी युवक जब गद्दी पर बैठा तो वह योरपियन व्यापारियों और हिन्दू नागरिकोंपर जुल्म करने लगा और सेठ साहूकार घराने का अपमान करने लगा, तब इस घटना को अधिक गति मिली और उसी से भावी उत्पात शुरू हुआ। सिराजुद्दौला ने अंग्रेजों को अपने राज से निकाल देने का निश्चय किया और डच अथवा फ्रेंच लोगों की अपेक्षा अंग्रेजों की तरफ अधिक ध्यान देनेका इरादा किया। यह भी उसकी दृष्टि से ठीक ही था। उनकी छावनी ही सबसे बड़ी और सबसे संपन्न थी, उनका व्यापार सबसे बढ़ा-चढ़ा था और हिन्दू व्यापारी-वर्ग से उन्हीं का अधिक निकट सम्बन्ध होगया था। अंग्रेजों को एक बार निकाल भगाने के बाद योरपियनों की खबर लेने के लिए उसे अवसर मिल सकता था।*

१८२३ ई. में राजा राम मोहन राय प्रभृति बंगाली नेताओं ने मुद्रण-स्वातंत्र्य के सम्बन्ध में इंगलैण्ड के राजा के पास एक निवेदनपत्र भेजा था जिससे प्रकट होता है कि बंगाल के हिंदू खासकर सुशिक्षित हिन्दू नेताओं की अंग्रेजी-राज के प्रति क्या भावनाएं थीं—

'हिन्दुस्तान के अधिकांश हिस्सेपर सदियों तक मुसलमानों का प्रभुत्व रहा था, जिसमें यहाँ के मूल निवासियों के नागरिक और धार्मिक अधिकारों पर पदाघात होता रहता था। परन्तु बंगाली लोगों में शारीरिक पराक्रम की और कष्ट सहन के साथ पुरुषार्थ करने की कमी होने के कारण उनका धन माल बारबार लूटा जाता था। उनके धर्म का अपमान होता था और मनमाने ढँग से उनका खून बहाया जाता था। फिर भी वे अखीर तक मुसलमान राजसत्ता के प्रति वफ़ादार रहे। अन्तको परमात्मा की अपार दया से अंग्रेज राष्ट्र को इन अत्याचारी शासकों के चंगुल से बंगाल को मुक्त करने की और उन्हें अपनी छत्रच्छाया में लाने की प्रेरणा मिली।†

इससे यह जाना जाता है कि अंग्रेजों ने जब बंगाल में अपनी सत्ता

* History of Br. India Page 132—33.

† Indian Speeches and documents on British Rule p. 15. Editor—J. K. Majumdar.

स्थापित की तो व्यापारी-वर्ग द्वारा मिली सहायता के साथ इस धर्म-विरोधी भावना का भी लाभ उन्हें मिला। हिंदू व्यापारी और सेठ साहूकारों ने अंग्रेजों को जो मदद दी, उसमें उनका भाव न केवल इतना ही ही था कि मुसलमान शासक व्यापार में सहायता नहीं करते और नवाब और ज़मींदार बार-बार लड़ाइयाँ लड़कर लूटपाट मचाते थे, बल्कि यह भी शायद रहा हो तो आश्चर्य नहीं कि वे विदेशी और विधर्मी हैं। परन्तु यह कहना कि मुसलमानों के जमाने में हमेशा ही यह अन्धा-धुन्धी, लड़ाइयाँ और अशान्ति रहती थी, ठीक नहीं है। यदि सारे हिन्दुस्तान में इस तरह हमेशा अन्धा-धुन्धी रही होती, तो कैसे वहाँ इतने बड़े सेठ-साहूकार और उनकी पेढ़ियाँ (firms) बनी और फूली-फली होतीं और कैसे इतना धन और प्रतिष्ठा कायम रही होती? जगत्सेठ अमीचन्द अथवा गुप्त जैसे सेठ-साहूकार और व्यापारी-वंश कैसे बढ़े, राजदरबार में उनकी प्रतिष्ठा बढ़ी और राजा-नवाबों को भी उनसे आर्थिक सहायता लेना जरूरी मालूम होने लगा? इसका अर्थ ही यह है कि इस देश में बड़े-बड़े राज्य और साम्राज्य थे; लोगों का धनमाल और घरबार सुरक्षित था। परन्तु जब मुगल साम्राज्य का पतन हुआ और दक्षिण से मराठे, पश्चिम से सिख और वायव्यकोण से ईरान, अफगानिस्तान के राजाओंने हमले शुरू किये, तब हिन्दुस्तान में कुछ समय अन्धाधुन्धी अधिक बढ़ गयी। इस अन्धा-धुन्धी की आग में अंग्रेजी और फ्रांसीसी जैसे लड़वैये, राजकाजी और कूटनीतिज्ञ व्यापारियों ने घी डालने का काम किया। इस समय बंगाल-प्रान्त की स्थिति विशेष शोचनीय थी क्योंकि वह एक ओर बहुत सबल और दूसरी ओर बहुत दुर्बल हो गया था। गंगासागर से आने वाले विदेशी व्यापारियों और उनके अनेक हमलों का मुकाबला करके उन्हें हटा दें इतना समर्थ और सबल जहाजी बेड़ा बंगाल की खाड़ी में नहीं था। इधर मलाबार के समुद्रतट पर उस समय आंग्र का जबरदस्त जहाजी बेड़ा था। उसको नष्ट किये बगैर बम्बई इलाके में विदेशी व्यापारियों को शरारत करने का विशेष अवसर नहीं था। फिर अठारहवीं सदी में मराठों की सत्ता बम्बई प्रांत में बहुत जोरों से बढ़ रही थी और उनके साम्राज्य का सामर्थ्य और अहंकार इतना बढ़ गया था कि वे यह

समझने लगे थे कि नादिरशाह जैसे ईरानी लुटेरे से दिल्ली के तख्त को बचाने की जिम्मेदारी हम पर है। बाजीराव की मृत्यु के बाद राघोबा दादा ने अटक पर अपना झण्डा गाड़ा, जिससे उत्तरी भारत के मुसलमान और राजपूतों को यह डर हुआ कि दिल्ली का तख्त दक्षिण के हिन्दुओंके कब्जे में चला जायगा, इसलिए मुसलमान रोहिलोंने अहमदशाह अब्दाली जैसे को बुलाकर इस बात की कोशिश की कि इस दक्खिनी साम्राज्य की रोक हो और दिल्ली का तख्त मुसलमानों के हाथ से न जाय। इधर यह उथल-पुथल हो रही थी, उधर बंगाल और मद्रास के समुद्र तट पर अँग्रेज व्यापारी अपनी राजनीति के खेल खेल रहे थे। मराठों और सिक्खों ने मुसलमान साम्राज्य के खिलाफ बगावत खड़ी कर अपने स्वतन्त्र राज्य कायम कर लिये थे। यह खबरें बंगाल के हिन्दुओं तक पहुँचती रहती होंगी, इससे अनेक मतों में मुसलमान सत्ता के खिलाफ भाव पैदा हुए हों तो आश्चर्य नहीं; परन्तु मराठों के हमले बंगाल पर होने के कारण वहाँ के व्यापारी धनियों पर एक नयी आपत्ति आयी मालूम हुई होगी। इन हमलों का मुकाबला करने के लिए वहाँ के नवाब इन सेठ-साहूकारों पर जुल्म करके, इन्हें तंग करके, आर्थिक सहायता लेते होंगे और अगर मराठों की जीत हो गयी तो भी उनकी लूटमार और मनमानी का डर रहा होगा। ऐसी स्थिति में बंगाल के व्यापारियों ने मुसलमान शासकों और नवाबों के खिलाफ बगावत खड़ी करने में अंग्रेज व्यापारियों को सहायता दी हो और मध्यम वर्ग के लोगों को कुछ समय तक अंग्रेजों का शान्ति-पूर्ण शासन ज़ालिम और विदेशी जमींदारों के त्राससे बचाने और छुड़ाने के लिए ईश्वरीय देन है, ऐसा लगा हो तो आश्चर्यनहीं।

परन्तु यह भावना हिन्दुस्तान के सब प्रान्तों में सर्वत्र नहीं थी क्योंकि उन्हीं दिनों एक ब्रिटिश गवर्नर सर जान मालकम ने लिखा है—

'हमारा राज्यविस्तार कुछ व्यापारी-वर्ग और अत्यंत दरिद्र और अरक्षित लोगोंके लिए अनुकूल हुआ है, परन्तु हिन्दुस्तान के उच्च-वर्ग और सैनिक-वर्ग पर उसका बहुत ही प्रतिकूल परिणाम हुआ है।'*

* Notes on the Administration of India By Sir John Molcum. Part I, Page 791.

इसी तरह यहाँ के उद्योग धन्धे और दस्तकारी पर भी ब्रिटिश राज्य का बहुत बुरा असर हुआ है, यह सब बातें आज स्पष्ट हो गयी हैं। शान्तिपूर्ण ब्रिटिश शासन परमेश्वरीय प्रसाद है यह भाव सिर्फ यहाँ के सेठ-साहूकार और व्यापारी वर्ग के ही मनमें पैदा हुआ, जो कि सरकारी नौकर-वर्ग और योरपियन व्यापारियों के आश्रय में ही रह और पनप सकता है, फिर भी यह भावना जितनी बंगाल और गुजरात में थी, उतनी महाराष्ट्र में नहीं। सर जान मालकम, जो बंबई का गवर्नर था, लिखता है—'मालवा, राजपूताना, सारा गुजरात और कच्छ की तरफ के प्रदेश में भील, कोल, राजपूत आदि लुटेरे और दंगई लोग रहते हैं। उनके बार-बार हमले होते हैं, जिनसे मैदान में रहने वाले सधन लोग मुसीबत में पड़ते रहते थे। मुगलों और मराठों के हमले इस प्रदेश पर बार-बार होते रहते थे। ऐसी स्थिति में ब्रिटिश सत्ताका यहाँ सुस्थिर होना इन लोगोंको एक बड़ी परमेश्वरी देन मालूम हुई।' परन्तु यही लेखक महाराष्ट्रीय लोगों की भावना के सम्बन्ध में लिखता है—'यहाँ सरकारी शासन जितना सौम्य था, उतना बहुत ही थोड़े देशों पर रहा होगा और आन्तरिक उत्कर्ष के लिए आवश्यक खेती को इतना प्रोत्साहन देने वाली सरकार तो दूसरी जगह कहीं भी न होगी। इसलिए गुजरात के लोगों की तरह दक्षिणी लोगों को अंग्रेज़ों की शान्ति परमेश्वरी प्रसाद नहीं मालूम होती। राजा से लेकर रङ्क तक मराठे लोग युद्ध को उतना ही चाहते हैं, जितना कि अपने बाल-बच्चों को। भारी विजय अथवा बड़ा राज्य मिलने पर भी उनका अपने सम्बन्धियों और अपनी जन्म-भूमि के प्रति प्रेम कम नहीं होता। दूसरी जगह लूट से कुछ निश्चित रुपया वे नियम-पूर्वक अपने घर भेजते हैं जिससे उनकी खेती-बारी अच्छी चलती है। उनके रुपये से उनके जन्म-स्थान में कुएँ, तालाब, मंदिर बनाये जाते हैं। दक्षिण के पेशवाओं के शासन में मराठों की जन्म-भूमि का इस प्रकार उत्कर्ष होना अनिवार्य था और आज जो राजक्रान्ति इसमें हुई वह जानमाल की रक्षा के अलावा सब बातों में यहाँ के सभी वर्गों और विशेषतः उच्च वर्ग के हित में बाधक ही हुई है।'*

---

* Notes on tne Administration of India By Sir John Molcum Part I, page 139

इस तरह महाराष्ट्रीय जनता को अंग्रेजों को दुआ देने का कोई खास कारण न था। मुग़ल सल्तनत के पतन के बाद मराठों ने जिन-जिन प्रान्तों पर अर्थात् बगाल-गुजरात जैसों पर हमले करके 'मुल्क-गिरी', के रूपमें लूटपाट की, वहीं १८ वीं सदी के मध्य के कुछ समय बाद तक ऐसा मालूम होता है कि बड़ी धाँधली और गोलमाल रहा होगा और वहाँ के नवाबों को मराठों का प्रतिकार करने में सेठ साहूकारों से बहुत रुपया पैसा छीनना पड़ा होगा। परन्तु यदि ऐसा ज़ोर-जुल्म या ऐसा अन्धाधुंधी हमेशा ही होती रहती तो यह स्पष्ट है कि इतने सेठ-साहूकार और इतनी पेढ़ियों का उदय भी हिन्दुस्तान में न हो सका होता।

बंगाल के हिन्दू राजाओं और सेठ-साहूकारों ने ब्रिटिश व्यापारियों का पक्ष लेकर मुसलमानी शासन को उखाड़ तो फेंका और अपने देश में अंग्रेज़ों की सत्ता कायम तो की मगर यह नहीं कह सकते कि इस कार्य में उन्होंने जाग्रत वर्ग-भावना से काम लिया हो। बात यह है कि अंग्रेज व्यापारी राज-क्रान्ति की विधि जानते थे और उन्होंने इस वर्ग को अपना कर राज-क्रान्ति की और राजसत्ता को भी खुद ही हड़प बैठे। यदि बंगाल के व्यापारीवर्ग ने वर्ग-भावना से अथवा राजक्रान्ति करने के इरादे से उसमें भाग लिया होता, तो उसके मनमें इस बात पर कि सारी सत्ता अंग्रेजों ने खुद अपने हाथ में रक्खी और उसके बलपर आगे चलकर हिन्दुस्तान का व्यापार भी छीन लिया, अंग्रेजों से ईर्ष्या या द्वेष हुआ होता, परन्तु यह व्यापारी-वर्ग तो उस समय जानता ही नहीं था कि राजनीति में हम पड़ सकते हैं या राजक्रान्ति कर सकते हैं और अपने हाथ में राजसत्ता ले सकते हैं। हाँ, राजा राम मोहन राय के वक्त में अर्थात् १९ वीं सदी के पहले चरण के अन्त में अलबत्ता बंगाली लोगों को कुछ-कुछ यह ज्ञान होने लगा था कि समस्त युग हटकर जब व्यापारी-वर्ग का उत्कर्ष होता है और वह आगे बढ़ता है, तब लोकसत्तात्मक राजक्रान्ति हो सकती है।

'बंगाल हैरल्ड' नामक अखबार में "१८२९ में बंगाल का उत्कर्ष' शीर्षक लेख में कहा गया है कि 'कलकत्ता व कुल बङ्गाल प्रान्त में आज-

कल सम्पत्ति बढ़ रही है। इसका कारण यह है कि व्यापार पर रुकावट की कमी हो गयी है और योरपियन लोग वहाँ ज्यादा तादाद में रहने लगे हैं और जमीन की कीमत बढ़ गयी है। जो जमीन ३० बरस पहले कलकत्ते में १५) में मिलती थी, उसका दाम आज ३००) हो गया है। इसके कारण उच्च जमीदार-वर्ग और गरीब जनता इनके बीच एक नया वर्ग पैदा हो गया है। इसके पहले देश की सम्पत्ति बहुत थोड़े लोगों के पास थी और दूसरे सब लोग इसी छोटे वर्ग पर अवलम्बित रहते थे। सामान्य जनता शारीरिक और मानसिक दृष्टि से भी बहुत दरिद्र थी। हिन्दू लोगों की गुलामी का कारण धर्म अथवा आबहवा की अपेक्षा यह विषम परिस्थिति ही अधिक मालूम होती है। यह एक नवीन युग का उषःकाल है। जब-जब समाज में ऐसा वर्ग-निर्माण होता है, तब-तब स्वतन्त्रता अपने आप आती है। इंगलैंड का ही उदाहरण लीजिये— जब जर्मन लोगों ने हॉलैंड पर विजय की, तब वहाँ भी हमारे यहाँ की तरह जमींदार लोग थे और सब उनके भूदास थे। परन्तु आठवें हैनरी तक उनकी प्रगति को देखें तो उस समय समाज का साम्पत्तिक विभाग समान होने लगा था और आगे चलकर एक खटीक के लड़के (क्रॉमवेल) ने वहाँ के राजा को कत्ल करके हॉलैण्ड के प्रजासत्तात्मक राज्य का दौर-दौरा और कीर्ति सारी दुनिया में फैला दी। समाज में जब जमींदार और किसान ऐसे दो ही वर्ग होते हैं, तो कितनी हानि होती है, इसका नमूना देखना हो तो स्पेन की ओर देखो। वहाँ हर मनुष्य बौद्धिक और शारीरिक श्रम किये बिना जीना चाहता है। दूसरा उदाहरण पुर्तगाल का लीजिये, वहाँ जमीन के साथ-साथ किसानों का भी क्रय-विक्रय होता है। ऐसी दशा में बंगाल में आज जो एक मध्यम-वर्ग निर्माण हो रहा है, वह एक अत्यन्त उत्साहवर्धक दृश्य है।'*

इस उद्धरण में वर्णीत अर्थशास्त्र बहुत उथला ही नहीं, बल्कि भ्रमोत्पादक है क्योंकि कलकत्ते जैसे राजधानी के और व्यापारी शहरमें जमीन की कीमत का बढ़ जाना और उसकी बदौलत कुछ लोगों को

* Indian speeches and documents on British Rule page 36—37.

बहुत पैसा मिलने लगना तथा अँग्रेजों का पक्का माल यहाँ लाकर बेचनेवाले और यहाँ के उद्योगधन्धों को बरबाद करके कच्चा माल बाहर भेजनेवाले व्यापारियों का धनी होना, अथवा नील के व्यापारियों जैसे कुछ अँग्रेजों का इस देश में आकर बस जाना और खेतों व खानों में काम करनेवाले मजदूरों को कुछ मजदूरी अधिक नकदी पैसों के रूप में देने लगना और इस पर ही यह मान लेना कि सारा देश धनी होने लगा है अथवा ऐश्वर्य बढ़ने लगा है गलत था। परन्तु इस विवेचन में अंग्रेजों ने यहाँ के मध्यम वर्ग को एक दो नये सिद्धान्त सिखाये हैं और वही इस नवीन युग के निदर्शक हैं। पहले के युग में परोपजीवी जमींदार और कष्टशील किसान ये ही दो वर्ग समाज के प्रमुख थे। उस समय सारी सम्पत्ति जमींदारों के पास संचित थी और शेष सारा समाज दासता और दरिद्रता में फँसा हुआ था। अब व्यापारियों का एक नवीन मध्यम वर्ग व्यापारियों में महत्त्व पाने लगा—इस कारण सारे राष्ट्र का साम्पत्तिक उत्कर्ष होने लगा और इस नवीन वर्ग के उदय में से अन्त में इंग्लैण्ड की तरह हिन्दुस्तान में भी राजनैतिक स्वतन्त्रता का और लोक सत्ता का विकास होगा, इस प्रकार के ये सिद्धान्त हैं। इस मध्यम व्यापारी वर्ग का और अंग्रेजी सुशिक्षितों का उदय, अंग्रेजी इतिहास का ज्ञान और सामन्तशाही युग का अन्त, इन घटनाओं में से अन्त को आधुनिक राष्ट्रीयता का निर्माण हिन्दुस्तान में हुआ और शुरु ही शुरु में वह बहुत-कुछ अंग्रेजों के सहवास और शिक्षण के द्वारा हुआ, यह कहना बेजा न होगा। परन्तु आधुनिक राष्ट्रीयता के उदय होने में (१८२९ से लेकर) ५० वर्ष का समय लगा होगा। ब्रिटिश-शासन में उत्कर्ष पानेवाला यह नया व्यापारी और सुशिक्षित वर्ग उस समय, अर्थात् १८२९ के आसपास, अंग्रेजी शासकों का गुणगान करने में और लोगों को इस बात का कायल करने में कि पहले के जमींदार वर्ग के जालिम-शासन से मुक्त करनेवाला ब्रिटिश राज्य परमेश्वर का प्रसाद है और उनकी उन्नति में बाधक विदेशयात्रा-निषेध आदि सामाजिक और धार्मिक बंधनों के खिलाफ बगावत करने में अपने को धन्य मान रहा था। पुरानी सामन्तशाही का कवच तोड़ कर ब्रिटिश साम्राज्यवादी व्यापारियों ने यहाँ के मध्यम वर्ग को राजनैतिक

अवस्था से मुक्त किया था, परन्तु पुराने सामाजिक और धार्मिक बंधनों को तोड़ने में अंग्रेज़ी सत्ता का उपयोग अभी उसे करना बाकी था। यह नया सुशिक्षित मध्यम वर्ग जब-तक इस काम में लगा हुआ था और जब तक उसे यह अनुभव नहीं हुआ था कि हमारे औद्योगिक अभ्युदय में ब्रिटिश सत्ता बाधा डाल रही है, तब तक वह इस देश में अंग्रेज़ी सत्ता स्थिर करने में ईमान-धर्म और वफ़ादारी के साथ ब्रिटिश राज्य की सेवा कर रहा था। जो सामन्तवर्ग इस ख्याल से कि अंग्रेजों ने हमारे राज्य, राज्य सत्ता और वैभव को छीन लिया असन्तुष्ट होकर उन्हें बुरा-भला कहता था, उसे वे बाग़ी समझते थे और उसका दमन करने में अंग्रेजों की सहायता करते थे। अंग्रेज़ भी इस नवीन वर्ग की सहायता से अपनी सत्ता इस देश में सुस्थिर कर रहे थे। मतलब यह कि अंग्रेजों ने हिन्दुस्तान को जीतते समय और जीतने के बाद अपनी सत्ता सुस्थिर करते हुए इस देशमें एक सामाजिक क्रान्ति कर डाली थी और एक वर्ग को जीतने के लिए दूसरे वर्ग को अपनाने और उसे ऊपर उठाने का अभास तो उत्पन्न किया ही था अर्थात् अंग्रेजों ने हिन्दुस्तान को जीत कर एक राज्य-क्रान्ति ही नहीं बल्कि एक सर्वांगीण समाजक्रान्ति करने का भी बीजारोपण किया।

सर जान सिली ने 'इंग्लैण्ड का विस्तार' नामकी एक पुस्तक लिखी है। उसमें उसने यह प्रतिपादित किया है कि अंग्रेजों के द्वारा हिन्दुस्तान जीते जाने की जो राजनैतिक घटना हुई, वह दूसरे देश को जीत लेने की परराष्ट्रीय राजनीति के मदमें डाली जानेवाली बात नहीं, बल्कि वास्तव में भारतीय समाज के एक वर्ग के द्वारा दूसरे वर्ग को गिराने व एक वर्ग की सत्ता दूसरे वर्ग के हाथ में देने-जैसी अन्तर्गत क्रान्ति का स्वरूप रखनेवाली थी। उसका रहस्य पाठक अब ठीक-ठीक समझ सकेंगे। वह कहते हैं—

"एक राज्य के द्वारा दूसरे राज्य के जीते जाने जैसा उदाहरण यह नहीं है। जिसमें निदान प्रत्यक्षतः तो दो राज्यों का परस्पर संघर्ष हो, ऐसी यह घटना नहीं है। परराष्ट्रीय विभाग से इस घटना का कोई सम्बन्ध नहीं आता। यह तो भारतीय समाज की एक अन्तर्गत क्रान्ति है और

इसकी तुलना उस प्रकार की घटना से की जानी चाहिये, जिसमें किसी समाज में कुछ अन्धाधुन्धी होने पर उसी के एक वर्ग के द्वारा एकदम राजसत्ता छीन ली गयी और शान्ति स्थापना की गयी। थोड़ी देर के लिए हम यही कल्पना करें कि जिन व्यापारियों ने राजसत्ता हथियाई वे विदेशी नहीं थे, ऐसा मानने पर भी इस घटना का स्वरूप बदल नहीं जाता। हम यह कल्पना करें कि राजनैतिक अन्धाधुन्धी के कारण अपनी व्यापार-हानि से ऊबकर बम्बई के पारसी व्यापारियों ने चन्दा जमाकर अपनी रक्षा के लिए किले बनाये होते और सेना खड़ी कर ली होती और सुदैव से उन्हें शूर-वीर सेनापति मिल गये होते तो वे भी पलासी और बक्सर जैसी लड़ाइयाँ जीत सके होते। उन्हें भी यदि मुगल सम्राट के द्वारा किसी प्रान्त की दीवानगिरी मिल गयी होती तो अपनी सत्ता की ऐसी बुनियाद डाल सके होते कि जिस पर सारे भारतीय साम्राज्य की इमारत खड़ी की जा सकी होती।'*

यहाँ यह प्रश्न सहज ही उत्पन्न होता है कि यहाँ का सेठ साहूकार और व्यापारी वर्ग यदि सामन्त वर्ग की जुल्म-ज्यादतियों लड़ाइयों और तज्जात अशान्ति से ऊब उठा था, तो उसी ने राज्य-क्रान्ति क्यों नहीं कर ली ? इसका उत्तर यही हो सकता है कि हिन्दुस्तान के तत्कालीन समाज में लोकसत्तात्मक क्रान्ति करके आधुनिक ढंग का राष्ट्रनिर्माण करने के विचार किसी के दिमाग में आये ही नहीं थे। योरप में उस समय चारों ओर ये विचार फैल रहे थे और ब्रिटिश राष्ट्र में तो बहुत अंश तक प्रस्थापित भी हो चुके थे। परन्तु इधर हिन्दुस्तान में "हिन्दू पद पादसाही" अथवा "मुगल बादशाही—" के ध्येय का ही झगड़ा हो रहा था। कोई यह नहीं जानता था कि भिन्न-भिन्न धर्म के लोगों को एक राष्ट्र बनाया जा सकता है, सामन्त-पद्धति के बिना भी बड़े राज्यों का शासन चलाया जा सकता है और समाज के सामान्य नागरिक भी राज्य-क्रान्ति करके राज्यसत्ता अपने हाथ में ले सकते हैं। यद्यपि प्राचीन वर्ण-व्यवस्था अपने शुद्ध रूप में कहीं भी नहीं थी, तथापि उस समय यही कल्पना रुढ़ हो रही थी कि राजे-रजवाड़े और सरदार ही राज करें। ब्राह्मण और वैश्य का काम करने-

* Expansion of England : By J. R. Seely, Page 210—11

वालों के लिए राजनैतिक क्षेत्र नहीं है। यदि कुछ ब्राह्मण राजा और सरदार थे तो कुछ वैश्य भी राजा और सामन्त बनते होंगे, परन्तु उसका अर्थ यह नहीं था कि वैश्य वृत्ति करनेवाले राजनीति में पड़ें और अपने प्रतिनिधियों के द्वारा राज्य-शासन चलायें। अर्थात् वैश्यों को यदि अपने राजा का शासन अवाञ्छनीय मालूम हुआ तो वे दूसरे राजा का आश्रय ले लेते और ब्राह्मण भी जो कोई राजा हो जाता उसके आश्रित बन कर रहने में कोई दीनता नहीं समझते थे। अंग्रेजों की सेना में अनेक ब्राह्मण नौकर थे और शास्त्र-धर्म के अनुयायी के नाम से प्रसिद्ध राजपूत भी बहुत थे। बङ्गाल और मद्रास प्रान्त की अंग्रेजी सेना में बहुतेरे उच्च-वर्णीय हिन्दू थे, परन्तु बम्बई प्रान्त की सेना में ऐसा नहीं था। इससे यह यह मालूम होता है कि बम्बई-प्रान्त के उच्च वर्णियों को परकीय और पर-धर्मी शासकों की सेना में भरती होने की अपेक्षा स्वकीय राज्य-कर्ताओं की सेना में नौकरी करके जमीन जागीर प्राप्त करना अधिक आकर्षक मालूम पड़ता होगा, और उनके सद्‌गुणों, स्वाभिमान और स्वामिनिष्ठा को स्वराज्य-सेवा का स्वरूप प्राप्त हो गया होगा। फिर भी तत्कालीन भारत के हिन्दू समाज की ओर देखें तो अनेक लेखकों ने जो यह लिखा है कि उनमें स्वाभिमान, स्वामिनिष्ठा, धर्मनिष्ठा, शौर्य्य, धैर्य्य आदि गुण-संपत्ति भरपूर थी, परन्तु राष्ट्राभिमान बिलकुल नहीं था, वह सही मालूम होता है।

यहाँ धर्माभिमान अथवा धर्मनिष्ठा का कुछ विवेचन कर लेना ठीक होगा। स्वधर्म-निष्ठा और स्वराज्य-निष्ठा का संयोग इस समय बिलकुल दिखाई नहीं देता। धर्माभिमान से प्रेरित होकर शिवाजी ने स्वराज्य-स्थापना की, ऐसा हम मानते हैं और किसी समय स्वधर्म-भावना ने आधुनिक राष्ट्रनिष्ठा का कार्य किया भी होगा, परन्तु अठारहवीं सदी के हिन्दुओं में यह ज्ञान बिलकुल नहीं पाया जाता कि स्वराज्य-निष्ठा और स्वधर्म-निष्ठा में कुछ समन्वय है। उस समय व्यापारियों और सेठ-साहू-कारों को अंग्रेजों ने यह आश्वासन दिया कि हम तुम्हारे धर्म में हस्तक्षेप नहीं करेंगे और तुम्हारे मन्दिरों की रक्षा करेंगे। इससे उनके मनमें यह ख़याल आया दिखाई नहीं देता कि यह आश्वासन देनेवाले विधर्मी और विदेशी हैं और उनकी सहायता करके स्वधर्मी और स्वदेशी राजाओं

को उनका गुलाम बना देना अपने धर्म का घात है। व्यापारी और सेठ-साहूकारों को शान्ति और धर्म-मन्दिरों की रक्षा के लिए स्वराज्य-स्थापना की आवश्यकता मालूम नहीं होती थी। राजनीति में पड़ना और राज-काज करना उन्हें अपना धर्म नहीं मालूम होता था, इसीलिए विदेशियों को अपने धर्म में घुसाने की राजनीति के वे शिकार हो गये। धर्म-संरक्षण का भार जिस ब्राह्मण-वर्ग पर था उसकी यही दशा थी। कुछ ब्राह्मण राजा जरूर थे, परन्तु महाराष्ट्र के कुछ ब्राह्मणों को छोड़ कर और कहीं भी ब्राह्मणों को अपना यह कर्तव्य नहीं मालूम होता था कि विदेशी और विधर्मी आक्रमणों के विरुद्ध सबको जाग्रत और संगठित किया जाय। हम मानते हैं कि समर्थ रामदास और शिवाजी का महाराष्ट्र-धर्म यही था। परन्तु राष्ट्र-धर्म की भावना ब्राह्मणों और क्षत्रियों में व्यापक रूप से फैली हुई नहीं दिखाई देती। योरप में भी भारत की तरह मध्ययुग में आनुवंशिकता नहीं परन्तु एक प्रकार की चातुर्वर्ण्य-व्यवस्था ज़रूर थी; पर वहाँ की धर्म-संस्था हमारे यहाँ की अपेक्षा अधिक संगठित थी और जब वहाँ के मुसलमानों के हमले ईसाइयों के धर्म-स्थानों पर हुए, तब वहाँ के धर्माधिकारियों ने योरप के तमाम राजाओं को मुसलमानों के खिलाफ धर्म-युद्ध करने को प्रोत्साहन दिया तथा प्रत्यक्ष रणक्षेत्र में जाकर लड़नेवाले नये धर्म सम्प्रदाय भी बनाये। हमारे यहाँ ऐसा हुआ दिखाई नहीं देता। स्वधर्म-रक्षण के लिए स्वराज्य की आवश्यकता होती है, यह प्रतीति धर्माधिकारी ब्राह्मण वर्ग में मुसलमानों के आक्रमण के समय भी व्यापक रूप में दिखाई नहीं देती। कहीं यह इसी भावना का फल तो न हो कि राजकाज क्षत्रियों का काम है, उससे ब्राह्मणों का क्या लेना देना।

कारण कुछ भी हो, ब्राह्मण व वैश्य वृत्ति के और वर्ण के लोगों में राजनीति की, स्वराज्य-रक्षण की अथवा स्वराज्य-संस्थापन की आवश्यकता की प्रतीति दिखाई नहीं देती। हमारा स्वधर्माभिमान स्वराज्याभिमान से प्रायः अलिप्त ही था। निदान मुसलमानों के सैकड़ों वर्षों के शासन के बाद तो ऐसी स्थिति हो गयी थी, यह निर्विवाद है। उसमें समर्थ रामदास अथवा शिवाजी का अपवाद हो सकता है और इसीलिए उनके महाराष्ट्र-धर्म को महत्त्व दिया जाता है। परन्तु यह महाराष्ट्र-धर्म भी उत्तर पेशवाई में

बच नहीं रहा था और अन्य-प्रान्त के हिन्दुओं में तो उसका नामो-निशान भी नहीं था। मराठों ने साम्राज्य-स्थापना का प्रयत्न जरूर किया मगर आखिर में इस साम्राज्य के भिन्न-भिन्न सरदारों ने अंग्रेजों के पक्ष में मिलकर स्वामि-द्रोह और स्वराज्य-द्रोह किया यह स्पष्ट है। सर जान मालकम ने सन् १८३० में लिखा है कि इन सरदारों ने पिछले तीस साल तक स्वामि-द्रोह करके ब्रिटिश-राज्य के प्रति एक-निष्ठा दिखलायी है और इसके उपलक्ष्य में ब्रिटिश सरकार से सिफारिश की है कि इनके इनाम और जागीर जप्त न की जाय। मतलब यह है कि उस समय हमारा स्वामिनिष्ठा का गुण भी बहुत कुछ लुप्त हो गया था और हमारे उच्च-वर्णीय, उच्च-कुलीन सरदार द्रोही बन गये। हमारी धर्म-निष्ठा जिस प्रकार हीन और संकुचित बन गयी थी और विदेशी और विधर्मी शासकों की ओर से जिस प्रकार हमारे धार्मिक रस्म-रिवाज में हस्तक्षेप न करने और हमारे धर्म-मन्दिरों पर हाथ न डालने का अभिवचन पाकर उनकी सहायता करने के लिए हम तैयार थे, उसी प्रकार हमारी स्वामि-निष्ठा भी इतनी संकुचित हो गयी थी कि हमारे ऊपरी निकट सैनिक अधिकारी यदि हमसे प्रेम की दो मीठी बातें कर लेते तो हम प्राणपन से उनकी सेवा करने को तैयार हो जाते थे। वह स्वामी हमारे गाँव का धर्म का अथवा राज्य का होना चाहिये, ऐसी भावना समाज के कनिष्ठ ही नहीं वरिष्ठ समझे जानेवाले वर्ग में भी जाग्रत न थी, अर्थात् राष्ट्रीयता की दृष्टि से सब वर्ग शूद्र अथवा दास बन गये थे। उनके मन से यह खयाल ही निकल गया था कि अपने धर्म और संस्कृति की रक्षा के लिए स्वराज्य की आवश्यकता है। सारांश यह है कि धर्मनिष्ठा व स्वामि-निष्ठा इन गुणों से स्वराज्य-स्थापन अथवा स्वराज्य-संरक्षण होगा ऐसी हमारी स्थिति उस समय नहीं रह गयी थी। हमारे पास केवल वैयक्तिक सद्गुण थे। राष्ट्र-निर्माण व स्वराज्य-निर्माण के लिए आवश्यक सद्गुण बिलकुल लुप्त हो गये थे।

धर्म-जाति-निरपेक्ष आधुनिक लोक-सत्ता वा राष्ट्रीयता तो उस समय हमारे देश में नहीं थी, परन्तु धर्मनिष्ठा और स्वामिनिष्ठा इन सद्गुणों के बल पर जो एक स्वराज्य-निष्ठा मराठों में शिवाजी और संभाजी के समय में और बाद में राजाराम के समय में दिखाई दी वह भी उत्तर पेशवाई

में बाकी नहीं बची। इसकी जिम्मेदारी पेशवाओं पर कितनी और दूसरे सरदारों पर कितनी आती है, इसकी चर्चा की गुञ्जाइश यहाँ नहीं है। बाजीराव यदि अयोग्य था तो उसे हटाकर सबके एक मुख्य प्रयत्न करने का मार्ग तमाम सरदारों को ग्रहण करना चाहिये था, परन्तु इसके विपरीत वे अंग्रेजों द्वारा मिली अपनी जागीर, जमीन और इनाम को स्थिर और चिरन्तन करने में लग गये—यह राज्य-द्रोह, धर्म-द्रोह और स्वामि-द्रोह नहीं तो और क्या है ? इस तरह हिन्दू-समाज को इस स्थिति पर पहुँचाने का पाप उसके कर्तृत्ववान ब्राह्मण, क्षत्रिय अथवा ब्राह्मण और सरदारवर्ग को लगे बिना नहीं रह सकता। हाँ, इसकी जिम्मेदारी किसी एक व्यक्ति पर नहीं डाली जा सकती।

योरप के व्यापार-पेशा साम्राज्य-वर्धक लोग यदि सत्रहवीं, अठारहवीं सदी में हिन्दुस्तान में आये ही न होते तो संभव था कि गिरते हुए मुगल साम्राज्य को मिटाकर दिल्ली में मरहठा-शाही अथवा हिन्दू-पद पातसाही स्थापित की जा सकती थी, ऐसी कल्पना की जा सकती है; परन्तु वह निरर्थक है। योरप में जो नयी व्यापारी संस्कृति निर्माण हुई उससे टक्कर लेने का सामर्थ्य भारतीय संस्कृति में अठारहवीं सदी के उत्तरार्द्ध में बाकी नहीं बचा था और यह माने बिना गति नहीं है कि आधुनिक, मध्ययुगीन किंवा प्राचीन किसी भी प्रकार के स्वराज्य-रक्षण या स्वराज्य-संस्थापन के लिए वह असमर्थ हो गयी थी। मुसलमानी-साम्राज्य और उसमें से निर्माण हुए दूसरे राज्यों को मराठों ने ढीला और निर्जीव कर दिया था और उन्हें ऐसी आशा होने लगी थी कि हम हिन्दुस्तान की सार्वभौम सत्ता बन जायँगे। इतने में ही अंग्रेजों ने उनकी सत्ता को डगमगा दिया और भारतीय हिन्दू-मुसलमानों को यकीन करा दिया कि आधुनिक राष्ट्रीयता का पाठ हमसे सीखे बगैर तुम इस दुनिया में स्वतंत्र होकर नहीं रह सकते। १८१८ ईस्वी में पेशवाई का अस्त होने से प्राचीन व मध्ययुगीन भारत का अन्त हुआ और आधुनिक भारत का इतिहास अथवा यों कहें कि भारत का आधुनिक इतिहास शुरू हुआ। इस आधुनिक भारत के निर्माण में किसने क्या-क्या पराक्रम किया और इसके विधाता कौन-कौन हैं यही इस पुस्तक का विषय है।

अनेक धर्म और जातियों के लोगों में राष्ट्रीयता कैसे पैदा की जाय और सामंतशाही को हटाकर लोकशाही अर्थात् प्रजातंत्र की स्थापना कैसे की जाय—ये दो सबक उस वक्त भारतीयों को योरपियनों से सीखने थे। भारत उन्हें अब सीख चुका, पर उधर ब्रिटेन में आज पूँजीवाद के कारण राष्ट्रीयता का नाश होकर उसके अंतर्गत वर्ग-युद्ध जम रहा है और लोक-शाही धनिकशाही बन गयी है। अब भारत के युवक-समाज के सामने यह एक महत्त्व का प्रश्न है कि आधुनिक भारत पूँजीवाद, तज्जन्य अपरिहार्य वर्ग-युद्ध और अन्त को प्रजा-तन्त्र का त्याग और राष्ट्रीयता का विपर्यास—इस मार्ग को स्वीकार करेगा या दूसरे किसी मार्ग को ग्रहण करके राष्ट्रीयता और प्रजा-सत्ता का विकास योरप से भिन्न दिशा में करके योरप को शान्ति, समता, सुख और स्वतंत्रता का अभिनव मार्ग दिखायगा। इस प्रश्न का उत्तर देने से पहिले भारतीय युवकों को आधुनिक भारत के पिछले १०० वर्षों के इतिहास का अवश्य मन्थन करना चाहिए। इस काल में जो महान राष्ट्र-भक्त विभूतियाँ हुईं उनकी सत्य-निष्ठा व स्वातंत्र्य की आत्म-प्रेरणा उन्हें अपने अंतःकरण में जाग्रत करनी चाहिये और उस प्रेरणा से बनी तेजस्वी बुद्धि के द्वारा संसार के घटना-चक्रों को देखकर अपना भावी इतिहास स्वातन्त्र्य की आत्म-प्रेरणा और बुद्धि-बल की सहायता से निर्माण करना चाहिए।

: २ :

अँग्रेजी-राज्य कैसे जमा ?

"जब तक हम लोगों के रीति-रिवाज न बदलेंगे तब तक इस देश का हित नहीं हो सकता और जब तक हममें खुद स्वराज्य चलाने का सामर्थ्य न आ जायगा तब तक अँग्रेजों के इस देश से चले जाने से कोई लाभ न होगा। फिर अंधेर-गर्दी होगी और किसी का जान-माल सुरक्षित न रहेगा। जबरदस्त का बोलबाला होगा और कमजोर भूखों मरेंगे। उन्हें सब कुछ खोना होगा। इसलिए जो सुज्ञ है उन्हें चाहिए कि वे अँग्रेजों के जाने की इच्छा न करें।" **लोकहितवादी, २० जनवरी १८५०, शतपत्र नं० ८९**

'If the argument be, that the spread of knowledge may eventually be fatal to our rule in India, I maintain that whatever may be the consequence, it is our duty to communicate the benefits of knowledge. If India could only be preserved as a part of the British Empire, by keeping its inhabitants in a state of ignorance, our domination may be a curse to the country and ought to cease. But I see more ground for just apprehension in ignorance itself. I look to the increase of knowledge with a hope that it may strengthen our Empire.' *

अँग्रेजी राज्य यहाँ कैसे जमा ? इसका उत्तर अंग्रेजी शासकों की समय-समय पर हुई उन चर्चाओं से मिल सकता है कि यहाँ की शासन-पद्धति किस प्रकार की हो, उसकी नीति और अन्तिम ध्येय क्या हो, और यहाँ के निवासियों के साथ उनका व्यवहार कैसा हो, उनके प्रति हमारा भाव क्या हो ? उसी प्रकार यहाँ की शासन-पद्धति का विकास कैसा होता गया, उसे वर्तमान-स्वरूप कैसे प्राप्त हुआ, और उसका भविष्य क्या होगा—इस पर जो प्रकाश डाला गया है और जो चर्चा हुई है उन्हें पढ़ने से भी यह मालूम हो सकता है। १८१८ में पेशवाई नष्ट होने के बाद सारे हिन्दुस्तान का सार्वभौमत्व प्राप्त होने का निश्चय अंग्रेजों को हो गया और वे इस बात का विचार करने लगे कि इस सार्वभौमत्व की बुनियाद मजबूत कैसे हो, और वह अधिक से अधिक समय तक कैसे टिका रहे ? ऐसा विचार करके जो नीति उन्होंने निश्चित की, उसमें उन्हें बहुत सफलता मिली और उसमें उन्होंने समय-समय पर जो सुधार किये उन्हें देखते हुए यह कहना पड़ता है कि उनके सार्वभौमत्व को ज्यादा से ज्यादा समय कायम रखने के लिए इससे अच्छी नीति दूसरी नहीं हो सकती। उस दूरदर्शी नीति के कारण भारतीय जनता की भवितव्यता पर इसका कैसा क्या असर पड़ेगा इसका विचार उन्होंने पहिले से ही कर रक्खा था और यह कहना होगा कि पिछले सौ सवा-सौ वर्ष के इतिहास

* Lord Metcalf, "Life of Lord Metcalf" Vol. II, P. 262-64

को देखते हुए उनके दूरदर्शी राजनीतिज्ञों का अन्दाज बहुत-कुछ सही निकला।

पिछले प्रकरण में यह बताया जा चुका है कि अंग्रेजों ने हिन्दुस्तान पर जो विजय भी पायी वह विदेश या पर-राज्य पर आक्रमण करने के स्वरूप की नहीं थी बल्कि बहुत-कुछ एक अन्तर्गत क्रान्ति करने के ढंग की, कम से कम शुरू-शुरू में, थी। हिन्दुस्तान के किसी भी प्रथम-श्रेणी के राज्य पर चढ़ाई करके उस पर अपना स्वामित्व प्रकट रूप से उन्होंने नहीं जमाया। किसी राज्य में दो पक्ष हो गये तो कमजोर पक्ष को अपना बल देकर उसे सत्ताधारी बना देना, माण्डलिकों को सार्वभौम-सत्ता के खिलाफ खड़ा कर देना, सरदारों को राजा-नवाबों के खिलाफ भड़का देना और कहीं-कहीं नामधारी राजा को अपनाकर प्रजा में फूट डलवा देना, इसी प्रकार की भेद-नीति के द्वारा उन्होंने अधिकांश राज्यों को पराजित किया है और बंगाल को सर करने में तो उन्होंने मुसलमानों के खिलाफ हिन्दुओं का और सरदार-सामन्तों के विरुद्ध व्यापारी मध्यम-वर्ग का दुरुपयोग करके धर्म-द्वेष और वर्ग-द्वेष तक का भी उपयोग किया दिखाई देता है। हिन्दुस्तान का सार्वभौमत्व प्राप्त होने के बाद तो उन्होंने हिन्दुस्तान में एक सर्वांगीण क्रान्ति कर डालने की नीति सोच-समझ कर स्वीकार की थी। उनमें एक दल ऐसा भी था जो यह मानता था कि इस सर्वांगीण क्रांति का अंतिम परिणाम हमारी साम्राज्य-सत्ता के लिए घातक सिद्ध होगा; परन्तु साथ ही उनमें एक दूसरे पक्ष का मत था कि यद्यपि अंतिम परिणाम आगे जाकर कभी घातक सिद्ध हो तो भी इस नीति का सन्निकट परिणाम हमारे साम्राज्य का पाया सुदृढ़ करने में कारगर साबित होगा। इस नीति का अवलंबन उग्रता के साथ न करके नरमी के साथ धीरे-धीरे किया जाय तो भारतीय राष्ट्र की सर्वांगीण क्रांति होने में जो सौ दो-सौ साल लगेंगे, उनमें तो हमारे राज्य को भीतरी खतरे का अंदेशा न रहेगा। इतना ही नहीं, बल्कि हमारी इस नीति के फल-स्वरूप जो एक सर्वांगीण सुधार-वादी नेता-वर्ग उत्पन्न होगा वह हमारे साम्राज्य पर होने वाले विदेशी आक्रमणों का मुकाबिला करने में काम आयेगा, ऐसा इन राजनीतिज्ञों का मत था और वह बहुत-कुछ सही निकला। अंग्रेजों ने

हिन्दुस्तान का सार्व-भौमत्व प्राप्त करने के बाद जो एक सर्वांगीण सुधारक-वर्ग निर्माण किया वह ब्रिटिश-साम्राज्य के प्रति वफादार रहा और पहले-पहल तो बिलकुल अराष्ट्रीय बनकर विदेशियों का एजेण्ट ही बन गया। ब्रिटिश राजनीतिज्ञों ने इस बात की बड़ी सावधानी रक्खी थी कि इस तरह अंग्रेजों की प्रेरणा से जो सर्वांगीण सुधारवाद हिन्दुस्तान में उदय हुआ वह राजनिष्ठा की मर्यादा को न छोड़े। जिस प्रकार रामदासी-संप्रदाय का उपयोग शिवाजी के स्वराज्य-संबंधी प्रेम को हिन्दू-जनता में फैलाने में हुआ, उसी तरह इस नव-सुशिक्षित वर्ग का उपयोग ब्रिटिशों के साम्राज्य-संबंधी प्रेम को अशिक्षित हिन्दी जनता में फैलाने में होगा—ऐसी ब्रिटिश राजनीतिज्ञों की कल्पना थी और इसमें संदेह नहीं कि इस प्रकार यह परराज्य-प्रेरित सुधारवाद भारतीय राष्ट्र की बुद्धिमत्ता को राजनीति-विमुख अथवा अराष्ट्रीय बनवाने में कुछ समय तक कारणीभूत हुआ। यही कारण है कि हिन्दुस्तान में जब वास्तविक राष्ट्रीयता उदय हुई तब सर्वांगीण सुधारों के विरोध के रूप में उसका जन्म हुआ, तथापि उसका वास्तविक अंतरंग सामाजिक और धार्मिक सुधारों का विरोध नहीं, बल्कि दूरदर्शी और गहरी राजनैतिक दृष्टि और प्रखर राष्ट्राभिमान ही है। भारतीय राष्ट्रवाद यद्यपि इस प्रकार शुरू-शुरू में सामाजिक और धार्मिक सुधारों की प्रतिकार भावना के रूप में उत्पन्न होने जैसा प्रतीत हुआ, तथापि आगे चलकर अपने राष्ट्राभिमान की ज्योति-जगाने के लिए उसे भी सामाजिक और धार्मिक सुधारों का उपयोग करना पड़ा और इसीलिए भारतीय राष्ट्रवाद आज धीरे-धीरे सर्वांगीण क्रान्तिवाद का रूप धारण कर रहा है। समाज की सर्वांगीण क्रान्ति के लिए समाज के आर्थिक संगठन की बुनियाद ही पहिले बदलनी पड़ती है और उसके पहले देश की शासन-सत्ता सामान्य जनता के हाथ में आने की जरूरत है, क्रांति-शास्त्र के इस आधार-भूत सिद्धांत का ज्ञान आज भारतीय लोगों को हो गया है। इस कारण आज भारतीय राष्ट्रवाद यद्यपि सर्वांगीण क्रान्तिवाद का स्वरूप धारण कर रहा है तो भी राजनीति पर उसका जोर कम न होकर अधिकाधिक बढ़ ही रहा है। पहिले का सर्वांगीण सुधारवाद ब्रिटिश-साम्राज्य का वफ़ादार मित्र था तो आज का सर्वांगीण क्रान्तिवाद ब्रिटिश-साम्राज्य

का कट्टर शत्रु है। पहिले का सुधारवाद शुरू में राजकरण-विमुख और बाद में नरम राजनैतिक था तो आज का सर्वांगीण क्रान्तिवाद पहिले राजनैतिक क्रान्ति और बाद को सर्वांगीण क्रान्ति-शास्त्र के तत्व को पहचान कर चलनेवाला है। इस तरह हिन्दुस्तान में जो सर्वांगीण सुधारवाद पिछले शतक में निर्मित हुआ उससे आज का सर्वांगीण क्रान्तिवाद भिन्न है और पहिले के सुधारवाद की राजनीति बहुत नरम थी तो आज के क्रान्तिवाद की राजनीति बहुत गरम है, ऐसा आक्षेप भारतीय राष्ट्रवादी उस पर कर सकते हैं। परन्तु भारतीय राष्ट्रवाद का भावी विकास इस सर्वांगीण क्रान्तिवाद की दिशा में ही होता जायगा इसके विषय में अब अधिक शङ्का नहीं रह गयी है। पहिले के सुधारवाद में जहाँ प्रेरक-शक्ति ब्रिटिश इतिहास थी तहाँ आज के क्रान्तिवाद की प्रेरक-शक्ति रूस की क्रान्ति है। अलबत्ता पहले के सुधारवाद की तरह इस क्रान्तिवाद का भी राष्ट्रीकरण होना आवश्यक है और जब वह भारतीय जनता के अन्तःकरण में स्थान ग्रहण कर लेगा तभी उसका वास्तविक सामर्थ्य प्रकट होगा।

राजा राममोहन राय से लेकर जस्टिस रानडे तक जो सर्वांगीण सुधारवादी हुए उनके भाषण और लेखों में कुछ भाव यद्यपि हमें राष्ट्रीयता से असङ्गत मालूम होते हैं तो भी कुल मिलाकर विचार करने से मालूम पड़ता है कि आधुनिक भारत का जन्म इन्हीं के प्रयत्न और प्रचारों से हुआ है और आज भारतीय राष्ट्रवाद को जो सर्वांगीण क्रांतिवाद का स्वरूप प्राप्त हुआ है उसके बीज भी उनके द्वारा हिन्दुस्तान में प्रवर्तित नवीन विचार-युग में मिल सकते हैं। भारतीय संस्कृति के इतिहास में इस सुधारवादी विचार-युग का विशेष महत्त्व है और यह सुधारवाद यद्यपि कुछ समय तक ब्रिटिश-साम्राज्य को सुस्थिर बनाने में कारणीभूत हुआ हो तो भी यह कहना कि ये सामाजिक और धार्मिक सुधारक देश-द्रोही थे, कृतघ्नता होगी। उनके अंतःकरण की प्रेरक-शक्ति शुद्ध देश-भक्ति और देशोद्धार ही थी और उन्होंने देश में जो नव-ज्योति प्रज्वलित की इसके सम्बन्ध में दो मत नहीं हो सकते। उस विचार-ज्योति के प्रकाश में भारतीयों की आँखें कुछ समय तक चौंधिया गयी हों तो उसका दोष उस प्रकाश को नहीं बल्कि भारतीय संस्कृति पर जो कुछ समय तक अंधकार

फैल गया था, उसका था। जिन ब्रिटिश दूरदर्शी राजनीतिज्ञों ने भारतीय लोगों को पाश्चात्य शिक्षा देकर धीरे-धीरे राज-काज में स्थान देने की नीति स्वार्थभाव से निश्चित की उन्हें इस विचार-ज्योति को प्रथम प्रज्वलित करने का बहुत कुछ श्रेय है, फिर भी अपने साम्राज्य को बल प्राप्त कराने के लिए इस ज्योति को जगानेवाले ब्रिटिश-राजनीतिज्ञ और अपने देश में फैले अज्ञान रूपी अन्धकार को नष्ट करने के लिए पाश्चात्य विद्या की ज्योति सर्वत्र फैलाने की इच्छा रखनेवाले सर्वांगीण सुधारवादी भारतीय देशभक्त दोनों को हम एक ही श्रेणी में नहीं बिठा सकते। इसी प्रकार जिन ब्रिटिश राजनीतिज्ञों ने दूरदर्शी स्वार्थ के वशीभूत होकर ही क्यों न हों, भारतीय लोगों को ज्ञान-दान देकर धीरे-धीरे राज-काज में उनका प्रवेश कराने की नीति निर्धारित की उनके भी दूरदर्शी अथवा बुद्धिमत्तायुक्त स्वार्थ के लिए भारतीय देश-भक्तों को कृतज्ञ होना अनुचित नहीं है। इस कृतज्ञता के कुछ इष्टानिष्ट परिणाम भारतीय राष्ट्रीयता के विकास पर हुए दिखाई देते हैं। उसकी चर्चा इस पुस्तक में आगे स्थान-स्थान पर होनेवाली ही है; परन्तु इससे पहले अंग्रेजों के सार्वभौमत्व हस्तगत करते ही अपने साम्राज्य की जड़ मजबूत करने के लिए उन्होंने कौन-सी दूरदर्शी नीति इख्तियार की इसका जरा विस्तार से विचार कर लेने की जरूरत है।

१८१८ ई० में पेशवाई को खत्म करके हिन्दुस्तान में अंग्रेजों का सार्वभौमत्व स्थापन किया माउन्ट स्टुअर्ट एल्फिन्स्टन ने और पेशवाई के बाद वही बम्बई प्रांत का पहला गवर्नर हुआ। १८१९ से १८२७ तक वह गवर्नर रहा। इसी समय में सर टामस मनरो मद्रास का गवर्नर था। इन दोनों ने ब्रिटिश शासन में उदार-नीति दाखिल की या दिखाई दी और इसकी घोषणा करके उन्होंने यहाँ के लोगों का हृदय आकर्षित कर लिया। मई १८१९ में एल्फिन्स्टन सर जान माल्कम को लिखता है — "आज या कल सारा देश हम अपना बना लें यही बहुधा वांछनीय है··· यदि हम यहाँ की देशी सेना को काबू में रख सके और रूसी लोगों को दूर रख सके तो जब तक देशी लोग हमारी शिक्षा से समझदार न बन जायँ और जब तक दोनों के हित की दृष्टि से हमारा संबंध तोड़ना इष्ट

न हो तब तक दूसरा कोई भय मुझे हमारे साम्राज्य के लिए दिखाई नहीं देता।"*

इसके बाद अगले महीने में वह मेकेन्टॉश को लिखता है—'हमारा भारतीय साम्राज्य अधिक समय तक नहीं टिकेगा यह मत महज एक कुशङ्का नहीं बल्कि युक्ति-युक्त है। इस साम्राज्य का अन्त किस प्रकार होगा यह समझना बड़ा मुश्किल है, परन्तु यदि रूस अथवा किसी विदेशी आक्रमण से यह बच गया तो उसके विनाश के बीज देशी सेना में मिलेंगे ऐसा मुझे प्रतीत होता है। यह देशी सेना बड़ा नाजुक और भयंकर यंत्र है और उसकी व्यवस्था में जरा भी कहीं भूल हुई तो बात की बात में वह हमारे खिलाफ हो जायगी। हमारे प्रभुत्व का अत्यन्त इष्ट अन्त यही हो सकता है कि हमारे शासन में यहाँ के लोगों के अंदर इतने सुधार हो जावें कि किसी भी विदेशी सत्ता का राज्य करना असम्भव हो जाय। परन्तु यह समय कितना लंबा होगा इसका अनुमान नहीं लगाया जा सकता...फिर भी हमारे संबंध-विच्छेद का समय कभी न कभी आये बिना नहीं रह सकता और यहाँ के लोग जंगली बने रहकर अत्याचार करके हमारा संबंध तोड़ डालें इससे तो हमारे लिए यही अधिक हित-कारक है कि भले ही वह जल्दी टूट जाय परन्तु टूटे वह उनका सुधार होने के बाद। यदि पहली बात हुई तो हमारे यहाँ बसनेवाले सब लोग और हमारा सारा व्यापार तहस-नहस हो जायगा और इस देश में हमने जो संस्थाएँ स्थापित की हैं वे भी नष्ट हो जायँगी।'†

इन दो अवतरणों से उस समय के दूरदर्शी ब्रिटिश राजनीतिज्ञों के विचारों की कल्पना हमें हो सकती है। उन्हें अपने साम्राज्य के लिए तात्कालिक संकट दो ही मालूम होते थे। एक रूस जैसी विदेशी योरपीय सत्ता का भय और दूसरी भारतीय सेना की बगावत का संकट। यहाँ के राजे-रजवाड़ों का उन्हें बिलकुल डर नहीं था और विदेशी संकट के लिए भी वे एशिया के किसी भी राष्ट्र का उल्लेख नहीं करते हैं। यह बात याद रखने लायक है कि उन्होंने महज़ रूस का ही जिक्र किया है। नेपोलियन

* Mount Stuart Elphinstone by J. S. Cotton Page 185.
† I bid p. 185-6.

की पराजय के बाद फ्रेंच लोगों का संकट उन लोगों के लिए बाकी नहीं रह गया था; और एशियाई राज्य से उन्हें कोई डर नहीं मालूम होता था। उन्हें डर था तो हिन्दुस्तानी सेना की बगावत का। वे मानते थे कि हिन्दुस्तानियों की सहायता से जीते हुए हिन्दुस्तान को हिन्दुस्तान की सहायता से ही अपने ताबे में रख सकेंगे। यहाँ के राजे-रजवाड़ों से उन्हें कोई डर न था। पर अगर देशी सेना बिगड़ गयी तो हमारा पता न लगेगा, यह भय उन्हें अवश्य था। उन ब्रिटिश राजनीतिज्ञों को उस समय यह आशंका बिलकुल नहीं थी कि यहाँ के सब राजे-रजवाड़े एक झंडे के नीचे एकत्र होकर हमारे विदेशी साम्राज्य को हटा देंगे और हिन्दुस्तान पर अपना प्रभुत्व स्थापित कर लेंगे। वे जानते थे कि हिन्दुस्तानी राजे-महराजे, सरदार-जागीरदार अथवा उनके विद्वान्-अविद्वान् राजनीतिज्ञ हिन्दुस्तान में राष्ट्रीयता पैदा नहीं कर सकते क्योंकि वे संसार की संस्कृति में पिछड़े हुए हैं, अर्द्ध-जङ्गली हैं, आपस में एक-दूसरे से लड़ते हैं, अनुशासन और कवायद के महत्त्व को नहीं जानते, विदेशी प्रभुत्व पर उनके दिल को चोट नहीं लगती, वे धर्मान्धता में डूबे हुए हैं, आधुनिक राष्ट्र-निर्माण से दूर हैं, उन्हें लोक-सत्ता का ज्ञान नहीं है, संसार के घटना-चक्र से वे अपरिचित हैं और उनके पास हमारे जैसे शस्त्रास्त्र भी नहीं हैं। वे यह ख्याल करते थे कि यदि नेपोलियन की शिकस्त न होती तो भारतीय लोगों के सुधार का काम फ्रेंच लोगों को करना पड़ता; परन्तु अब उसकी जिम्मेदारी हम पर आ गयी है। वे यह जानते थे कि यदि हमने इन्हें सुधारा, राज-काज का सबक सिखाया और अपनी ही संस्कृति की लोक-सत्तात्मक राष्ट्र-निर्माण की कल्पना यहाँ जड़ पकड़ गयी तो फिर यही लोग एक होकर हमारा मुकाबला करेंगे और फिर उनके मुकाबले में हम टिक न सकेंगे। परन्तु इस बात में सौ दो-सौ साल लग जायँगे और तब तक हम इन पर अपनी सत्ता चला सकेंगे, ऐसा उनका आत्म-विश्वास था। तब बहुत दूर के इस तीसरे संकट को छोड़ दें तो फिर ऊपर लिखे मुताबिक तात्कालिक संकट दो ही रह जाते हैं—एक बाहर से रूस के हमले का और एक भीतर से हिन्दुस्तानी सेना की बगावत का। इसे दूर करने के लिए उन्होंने क्या-क्या तजबीजें कीं, इसका अब विचार करें।

वे यह जानते थे कि जब तक हिन्दुस्तान के जन-साधारण में राष्ट्र-भावना न पैदा होगी तब तक यदि महज सेना की बगावत के बल पर हिन्दुस्तान आजाद होना और सुख-शान्ति से रहना चाहे तो यह अशक्य है। महज सैनिक-विद्रोह के द्वारा राष्ट्र-निर्माण नहीं हो सकता—हाँ, देश में अन्धाधुन्धी और पिंडारगर्दी अलबत्ता हो सकती है। यहाँ के हिन्दू-मुसलमान राजा-नवाबों का यह खयाल हो सकता है कि योरपियन लोग यदि इधर आये ही न होते तो सम्भव था कि इस अन्धाधुन्धी से कोई सम्पन्नशाही-ढंग का तितर-बितर साम्राज्य स्थापित कर पाये होते; परन्तु यहाँ के बेवकूफ और नालायक राजे-रजवाड़े यह समझे हुए थे कि अंगरेजों की कवायद-निपुण तालीमयाफ्ता सेना के और भेद-नीति के मुकाबले में और एक बड़े क्षेत्र में शान्ति का शासन स्थापित करके आम लोगों के हृदय को आकर्षित कर लेने की उनकी कला के सामने हमारा कुछ बस न चलेगा। इधर अंग्रेज राजनीतिज्ञों ने अपने मनमें यह तय किया होगा कि हमारी शक्ति है तो बहुत थोड़ी, परन्तु इन मूर्खों का वह बहुत बड़ी मालूम होती है, क्योंकि राष्ट्र-निर्माण का व आपस में एका करके विदेशियों से लड़ने का महत्त्व वे नहीं जानते हैं, आपस के लड़ाई-झगड़ों के या पेट के लिए दूसरों को घर में बुला कर उनकी नौकरी चाकरी करने में इन्हें जब शर्म नहीं आती तब इनसे डरने की कोई आवश्यकता नहीं है। फेड्रिक जान शोअर नामक अंग्रेज लेखक १८३५ में अपने 'इण्डियन आर्मी' नामक लेख में इसी बात का प्रतिपादन करता है कि हिन्दुस्तानियों में आत्म-विश्वास नहीं है, न राष्ट्राभिमान है और वे एका भी नहीं कर सकते—यही हमारे साम्राज्य का सामर्थ्य है—

इस कथन का कि 'हमारा भारतीय-साम्राज्य लोकमत के आधार पर खड़ा है' अर्थ मैंने अब समझा है। इसका अर्थ समझा तो यह जाता है कि लोग हमारे न्याय-भाव पर और हमारी बात पर ज्यादा विश्वास रखते हैं और इसलिए हिन्दुस्तानियों से हमारी हुकूमत को ज्यादा पसन्द करते हैं। परन्तु जिस राजनीतिज्ञ ने यह पहला रूप बनाया उसका अर्थ इतना ही है कि—हिन्दुस्तानी यह जानते हैं कि हमारा सामर्थ्य बहुत है और इसलिए हमारा विरोध करना व्यर्थ है। परन्तु यदि वे एका

कर लें तो बहुत आसानी से हमारा नामोनिशां मिटा सकेंगे—ऐसा मुझे भय है। जो हो, हमारे साम्राज्य का आधार तो तलवार ही है, जनता की इच्छा व प्रेम नहीं। यदि हमारी फौज वापिस बुला ली जाय या उसकी संख्या कम कर दी जाय तो इसकी प्रतीति हो जायगी, लेकिन उसका फल भी हमें भोगना पड़ेगा' *

भारतीय सेना की वफादारी के सम्बन्ध में यह लेखक कहता है— 'मतलब यह कि अपने गाँव के अलावा हिन्दुस्तानी नहीं जानते कि देश-प्रेम क्या चीज़ है? किसी अधिकारी अथवा स्वामी के प्रति उसका प्रेम और वफादारी हो सकती है, परन्तु सारी राज्यव्यवस्था के बारे में वह बेफिक्र रहता है। जो वेतन देते हैं उनके लिए वह लड़ता है और यदि कहीं उसे ऐसा दिखाई दिया कि जिस सरकार की मैं नौकरी करता हूँ वह गिर या टूट रही है तो उसकी नौकरी छोड़कर ज्यादा वेतन अथवा लूट की आशा से शत्रु के यहाँ भी नौकरी कर लेगा।" †

ऐसी संस्कृति में पले सैनिकों को खुश रखने के लिए उन्होंने दो उपाय ईजाद किये थे। एक तो यह कि उन्हें काफी और नियमित समय पर वेतन दे देना और ऐसा कोई काम न करना जिससे उनके जात-पाँत या अंध-विश्वासों को धक्का लगे। इतनी सावधानी रखने पर उन्हें बहुत से सैनिक मिल जाते थे और उनका यह अनुभव था कि उन्हें कवायद परेट सिखाकर नये शस्त्र-अस्त्र दे दिये जाते हैं तो फिर उनके आगे देशी राजाओं की दाल नहीं गल सकती। परन्तु मनूरो, एलफिन्स्टन आदि पहले के उदार समझे जाने वाले अँग्रेज मुत्सद्दियों को इस बात का भी पता था कि भरपूर तनख्वाह और धार्मिक मामलों में दस्तंदाजी न करने की नीति से सिपाहियों को खुश रखने के बाद भी यह सावधानी रखना आवश्यक है कि उनमें राजनैतिक स्वातन्त्र्य के विचारों का प्रवेश न हो। इसीलिए उनका यह मत था कि हिन्दुस्तानियों को मुद्रण-स्वतन्त्रता न दी जाय। कम से कम उनपर बहुतेरे बन्धन तो जरूर ही लगा दिये जायं। मनरो, एल्फिन्स्टन, माल्कम ये गवर्नर लोग और उनकी नीति

* Notes on Indian Affaires. Vol. II, P. 419. By F.J. shore.
† I bid P. 521-2

को चलाने वाले गवर्नर-जनरल लार्ड विलियम बेंटिंक्—सबने समय समय पर ऐसे विचार प्रदर्शित किये हैं कि भारतवासियों में शिक्षा का प्रचार किया जाय, धीरे-धीरे शासन कार्य में उनका अधिकाधिक प्रवेश कराया जाय और समय पाकर जब वे स्वतन्त्र होने के योग्य हो जायेंगे तब ऐसी सावधानी रखकर उन्हें स्वतन्त्र होने देना चाहिये, जिससे हमारा व्यापार और हमारी स्थापित संस्थाएं सुरक्षित रहें। फिर भी वे इस बात पर तो जोर ही दिया करते थे कि उन्हें मुद्रण-स्वातन्त्र्य न दिया जाय, क्योंकि उन्हें डर था कि उससे राजनैतिक स्वतन्त्रता के खयाल और भाव लोगों के अन्दर पैदा होंगे और वे हिन्दुतानी सेना में तुरत फैल जावेंगे। मद्रास का गवर्नर सर टामस मनरो इस विषय में १८२२ ईस्वी में लिखता है—

'इस देश के लोगों को मुद्रण-स्वातंत्र्य देने के विषय में विचार करते हुए मैं इस बात को नहीं भुला सकता कि इन लोगों को मुद्रण-स्वातन्त्र्य का उपयोग करने देने की शर्त पर हम इस देश में नहीं रह सकते। इसलिए देश में शान्ति-रक्षा तथा हमारे साम्राज्य की रक्षा दोनों दृष्टियों से वर्तमान तमाम बन्धनों को कायम रखना मुझे जरूरी मालूम होता है। यदि यहाँ के लोग सभी हमारे देशबन्धु होते तो आत्यन्तिक मुद्रणस्वातन्त्र्य को मैं पसन्द कर सकता था; परन्तु जब कि वे ऐसे नहीं हैं, उन्हें मुद्रण-स्वातन्त्र्य देना सबसे भयंकर बात होगी। इससे उपयोगी ज्ञान का प्रसार होने के बजाय, अथवा शासन-कार्य में सुधार होने के बजाय लोगों में उद्दण्डता, बगावत और अराजकता फैलने की ही सम्भावना है।

'**मुद्रण-स्वातन्त्र्य और विदेशीशासन वे दोनों बिलकुल परस्पर असंगत बातें हैं और इनका संयोग अधिक दिनों तक नहीं टिक सकता क्योंकि स्वतंत्र अखबारों का पहला कर्त्तव्य क्या है? अपने देश को विदेशियों के जबड़े से छुड़ाना और इस महान् ध्येय की सिद्धि के लिए तमाम क्षुद्र विचारों को छोड़ देना।** और हमने यदि योरपियन तथा हिन्दुस्तानी दोनों को वास्तिवक मुद्रण-स्वातन्त्र्य दे दिया तो उसका इसके सिवा दूसरा नतीजा हो ही नहीं सकता।

'मुद्रण-स्वातन्त्र्य के समर्थक कहते हैं कि हमारा यह प्रयत्न इसलिए

है कि हमारी शासन-व्यवस्था में सुधार हो और यहाँ के निवासियों की स्थिति तथा मन-बुद्धि पर भी अच्छे संस्कार पड़ें। परन्तु उनका यह इच्छित हेतु उन साधनों के द्वारा सिद्ध नहीं हो सकता जिनका अवलम्बन वे करना चाहते हैं। इस देश में हमारे शासन-कार्य का विचार करते समय दो मार्के की बातों पर हमेशा ध्यान रखना चाहिये। पहली बात तो यह कि हमारा प्रभुत्व अधिक से अधिक समय तक कायम रहे, और दूसरा यह कि जब हमें अपना प्रभुत्व छोड़ना पड़े तब लोगों में स्वातन्त्र्य-मण्डित, तथा सुनियन्त्रित, सरकार स्थापित करने इतनी क्षमता आ जानी चाहिये। यह बात नियन्त्रित मुद्रण-स्वातन्त्र्य से ही पूरी पड़ सकती है। छापेखाने की और अखबारों की पूरी स्वतंत्रता से ये कदापि सिद्ध न होंगे, क्योंकि सुधार में जल्द-बाजी करने से वे सब लाभ नष्ट हो जायँगे जो छिपे-छिपे तथा सावधानी के साथ करने से हो सकते हैं।

"जो बन्धन सुझाये गये हैं उनसे यहाँ के लोगों में ज्ञान-प्रसार होने में बाधा नहीं पड़ सकती, उलटे उनसे उसमें स्थायित्व ही आवेगा; क्योंकि वह स्वाभाविक रूप में होता रहेगा और सैनिक-विद्रोह तथा अराजकता के भावों से वह सुरक्षित रहेगा। ज्ञान-प्रचार का स्वाभाविक मार्ग है जनता में धीरे-धीरे शिक्षण का प्रचार करना तथा सब वर्गों में धार्मिक और नैतिक ज्ञान का प्रसार करना, न कि योरपियनों के निकट सम्पर्क में आनेवालों में पत्र-पत्रिकाओं का प्रचार करना। **हम आजाद हों और अपना राज-काज खुद चलावें**—यह आकांक्षा फौज में पैदा होने के पहले सामान्य जनता में होनी और फैलनी चाहिये और जो सुधार कई पीढ़ियों में होने चाहिये, यदि हमने जल्दी मचाकर उन्हें थोड़े ही समय में करने के फेर में पड़कर इस कार्य में बाधा न डाली तो इसमें कोई सन्देह नहीं है कि स्वतन्त्रता की यह आकांक्षा हिन्दुस्तान में घर-घर अवश्य फैलेगी। यदि हमने सौम्य और न्याय-युक्त शासन-व्यवस्था रखी, लोगों के धार्मिक भावों पर हमला न करते हुए अच्छी पुस्तकों का उनमें प्रचार किया, उनके द्वारा स्थापित शिक्षण-संस्थाओं को संरक्षण देकर जहाँ अच्छी शिक्षा दी जाती हो वहाँ आर्थिक सहायता दी या उनका सम्मान किया, जिन संस्थाओं को आर्थिक सहायता की जरूरत है उन्हें वह दी,

और सबसे अधिक स्थानिक विद्वानों को अधिकार और सम्मान के पद देकर उनके दिलों में यह आकांक्षा पैदा की कि हम शिक्षा और ज्ञान संपादन करें, तो हम उन्हें शासन-कार्य में अधिक भाग लेने का मौका देकर धीरे-धीरे उनकी धर्मान्धता दूर कर देंगे और हमारे देश में जिन उदात्त मतों और तत्वों का प्रचार हुआ है, उन्हें इन लोगों में भी फैला सकेंगे।

"परन्तु यदि हमने इसके विरुद्ध मार्ग ग्रहण किया और मुट्ठी भर योरपियन पत्रकारों के हित पर दृष्टि रखकर यदि योरपियनों के चारित्र्य और सत्ता के प्रति हिन्दुस्तानियों के आदर-भाव में मुद्रण-स्वातन्त्र्य की सुरंग लगादी तो देशी सेना में हम असन्तोष के बीज बो देंगे और हम बगावत और विद्रोह के संकट से कभी मुक्त न हो सकेंगे, निःशंक न रह सकेंगे। इस संकट के लिए यह जरूरी नहीं है कि आज की अपेक्षा उनकी बुद्धि अधिक तीव्र हो, या उन्हें राष्ट्रीय अथवा मानवी स्वत्वों का अधिक ज्ञान हो। हमारे अधिकारियों और योरपियनों के चारित्र्य के प्रति जो आदर आज उनके मनमें है वह खतम हुआ कि बस। जिस दिन ऐसा होगा उसी दिन वे हमारे खिलाफ बगावत का झण्डा खड़ा कर देंगे—मगर इस बगावत की मन्शा यह न होगी कि उन्हें आजादी मिले, बल्कि यह होगी कि उनके हाथों में सत्ता आजावे और वे लूट-पाट कर सकें। हम एक ऐसा प्रयोग कर रहे हैं जो दुनिया में कहीं नहीं हुआ—वह यह कि जिन राष्ट्र की सेना के सहारे अपना प्रभुत्व कायम रखना और उसी समय मुद्रण-स्वातन्त्र्य प्राप्त करके हमें यहाँ से निकाल बाहर करने और अपने देश को आजाद करने का पाठ उन्हें पढ़ाना। यह अन्देशा सिर्फ हिन्दुस्तानी पत्रकारों के बारे में ही है और इन विचारों की खलबली जब हमारी देशी सेना में मचेगी तभी उसके भयानक परिणाम हमें दिखाई देने लगेंगे। एक ओर जहाँ बहुतेरे लोग हिन्दू अखबारों के प्रयत्नों की तारीफ करने लगेंगे और ऐसी आशा बाँधने लगेंगे कि अब हमारे लोगों में खूब ज्ञान प्रसार होगा, तहाँ उसी समय दूसरी ओर इन्हीं अखबारों के प्रचार से जन्मी एक भयंकर क्रान्ति हमारी सत्ता को असमय में उखाड़ फेंकने की तैयारी करने लगेगी और यदि ऐसा हुआ तो हमारी

सब आशाएँ चूर-चूर हो जायेंगी और हमने हिन्दुस्तान को जिस स्थितिमें देखा था सुधार की दृष्टि से वह उससे भी अधिक निराशामय स्थिति में जा गिरेगा।"*

इसी तरह १८२६ में बारकपुर विद्रोह को मिटाने के बाद एल-फिन्स्टन सर चार्ल्स मेटकाफ को लिखता है—

"मुझे ऐसा लगता था कि हमारा साम्राज्य काँच का ही बना हुआ है। परन्तु पहले और अब जो आघात उसने सफलता के साथ सहन किये हैं उन्हें देखते हुए ऐसा भासित हो सकता है कि वह फौलाद का है। परन्तु मेरा यह विश्वास है कि वह फौलाद का है तथापि यदि वह गाफिल लोगों के हाथों में जा फँसा तो उसके टुकड़े २ हो जाने की भी संभावना है।"†

फिर भी १८३५ में लार्ड विलियम बेंटिंक के चले जाने के बाद १८३६ तक सर चार्ल्स मेटकाफ गवर्नर जनरल हुआ और उसने हिन्दुस्तान को मुद्रण-स्वातन्त्र्य के अधिकार दे दिये। इस 'अपराध' के लिए उसे उसके पद से हटा दिया गया, फिर भी उसने अपना यह मत न बदला कि मुद्रण-स्वातन्त्र्य देने में ही भारतीयों तथा हमारे साम्राज्य का वास्तविक हित है। उसकी दलीलें इस प्रकार हैं—

"यदि यह कहा जाता हो कि ज्ञान-जागृति के फल-स्वरूप हमारे भारतीय राज्य का खातमा हो जायगा तो इसपर मेरा जवाब यह है कि नतीजा जो कुछ भी हो, उन्हें ज्ञान-लाभ कराना हमारा कर्तव्य ही है। यदि हिन्दुस्तानियों को अज्ञान में रखने से ही यह देश हमारे साम्राज्य में रह सकता हो तो हमारा प्रभुत्व इस देश के लिए शाप-रूप ही सिद्ध होगा और उसका अन्त हो जाना ही आवश्यक होगा।

"परन्तु मुझे तो ऐसा मालूम पड़ता है कि यह मानना ही अधिक युक्ति-युक्त और साधार है कि लोगों को अज्ञान बनाये रखने में ही अधिक डर है। मैं तो यह सोचता हूँ कि ज्ञान-जागृति से हमारा साम्राज्य अधिक ही बलिष्ठ होगा। इससे शासक और प्रजाजन दोनों में सहानुभूति

* Memoir of Sir Thomas Munro, Dated 12th April, 1822
† Mount Stuart Elphinstone by J. S. Colton, P. 186

पैदा होगी और परस्पर एकता का भाव बढ़ेगा और आज जो खाई उनमें है वह धीरे-धीरे बिलकुल पट जायगी।"*

ज्ञान-जागृति से ब्रिटिश साम्राज्य की जड़ अधिक मजबूत होगी या ढीली, इस प्रश्न का उत्तर इस बात पर अवलम्बित है कि वह ज्ञान किस प्रकार का होगा। अँग्रेजों के प्रथम शासन काल में यहाँ के शिक्षित लोगों में जिस ज्ञान का प्रचार हुआ उससे ब्रिटिश साम्राज्य को कुछ समय तक तो निस्संदेह बल ही मिला। इस प्रकरण के आरम्भ में 'लोक-हितवादी' का जो उद्धरण दिया गया है उसमें यह परिणाम साफ तौर पर दिखाई देता है। उसमें वे स्पष्ट ही कहते हैं—"सुज्ञ लोगों को चाहिए कि वे अँग्रेजों के जाने की इच्छा कदापि न करें।" क्योंकि वे समझते थे कि इससे फिर अराजकता फैलेगी।

'लोकहित-वादी' का यह लेख १८५० का अर्थात् मेटकाफ द्वारा मुद्रण-स्वातन्त्र्य मिलने के पन्द्रह साल बाद का है। उससे १८२२ में सर टामस-मनरो को मुद्रण-स्वातन्त्र्य देने से जिन भयंकर परिणामों का डर लगता था वह सच नहीं मालूम होता। बल्कि अँग्रेजी शिक्षा से जिनकी आँखें खुल गयी थीं उन्हें ऐसा नहीं मालूम हुआ, और उलटा वे ऐसा प्रचार करने लगे कि जबतक हमारे देश का भीतरी और बाहरी सारा रंग नहीं बदल जाता, तब तक अँग्रेजी राज्य रहना चाहिए और किसी भी बुद्धिमान् मनुष्य को यह इच्छा न करनी चाहिए कि अँग्रेजों का राज्य यहाँ से चला जाय। उन्होंने अपने देश के सर्वांगीण सुधार का बीड़ा उठाया और राष्ट्रीय स्वातन्त्र्य का विचार कुछ समय के लिए दूर रख दिया। इससे मेटकाफ का ही यह विचार सच साबित हुआ कि मुद्रण-स्वातन्त्र्य से तो हमारे साम्राज्य की जड़ और मजबूत ही होगी!

१८२३ ईसवी में बंगाल के राजा राममोहन राय आदि सुशिक्षित भारतीय नेताओं ने मुद्रण-स्वातन्त्र्य के विषय में एक निवेदन-पत्र ब्रिटिश राजा को भेजा था। उसमें वे लिखते हैं—"महाराज इस बात को जानते हैं कि मुद्रण-स्वातन्त्र्य की बदौलत किसी देश में आजतक राज्य-

* The Development of an Indian Policy by Anderson and Subedar P. 143

क्रान्ति नहीं हुई, क्योंकि जहाँ स्थानिक अधिकारियों की शिकायतें बड़े अधिकारियों तक पहुँचने का मार्ग सुलभ हो और वे दूर कर दी जाती हों, वहाँ असन्तोष-जनित क्रान्ति का कारण ही नष्ट हो जाता है। इसके खिलाफ जहाँ मुद्रण-स्वातन्त्र्य बिल्कुल नहीं है और इसलिए न तो शिकायतें प्रकट ही की जा सकती हैं न दूर ही होती हैं, वहाँ दुनिया के सब हिस्सों में असंख्य राज्यक्रान्तियाँ हो चुकी हैं और सरकार ने शस्त्र-बल का आश्रय लेकर जहाँ-जहाँ उन्हें रोक दिया है, वहाँ-वहाँ लोग बगावत करने के लिए सर्वदा तैयार रहते हैं।' *

आधुनिक प्रजातन्त्र-शास्त्र का यह तात्विक सिद्धान्त मनरो आदि को मालूम न था सो बात नहीं। परन्तु उन्हें डर यह था कि हमारा साम्राज्य विदेशी होने के कारण, मुद्रण-स्वातन्त्र्य मिलने से पहले ये लोग इस राज्य का ही नाश करने में जुट पड़ेंगे और बाद को अन्तर्गत सुधारों की तरफ ध्यान देंगे। परन्तु अँग्रेजी शिक्षा के प्रचार से जब यहाँ के पढ़े-लिखे लोगों को यह ज्ञान हुआ कि हम तो अपने देश की शासन-व्यवस्था करने के बिल्कुल अयोग्य हैं, तब तो मेटकाफ का मत ही अधिक ठीक साबित हो गया! अँग्रेजी ज्ञान और विद्या के प्रचार ने जो पहला काम किया उसका विचार यदि केवल राष्ट्रीयता की दृष्टि से किया जाय तो सब लोगों को यह स्वीकार करना पड़ेगा कि वह कुछ समय के लिए तो राष्ट्रीयता का मारक ही सिद्ध हो गया था। महाराष्ट्र के इतिहासाचार्य श्री० राजवाड़े ने राष्ट्रीयता की एक बढ़िया व्याख्या की है—

"जिस समाज के बहुतम व्यक्तियों में यह भावना पैदा हो गयी कि अपने देश की सारी व्यवस्था, खास करके शासन-व्यवस्था, हम खुद करेंगे और उसके लिए जिस समाज के लोग प्राण अर्पण करने को तैयार हो गये हों उस समाज को राष्ट्र कहना चाहिये। जब तक यह भावना समाज में पैदा न हुई हो तबतक उसे 'लोक' कहना होगा। उस 'लोक' में भले ही एक देश, एक भाषा, एक आचार-विचार, एक वंश, एक धर्म और एक कानून हो—इतने सब समान बन्धन विद्यमान् हों तो

* Indian Speeches and Documents on British Rule P. 21 by J. K. Majumdar.

भी यदि उनमें अपना शासन-भार खुद उठाने की अर्थात् स्वराज्य-संचालन करने की उत्कट इच्छा नहीं है तो उस 'लोक' को 'राष्ट्र' नहीं कह सकते।"

अँग्रेजी शिक्षा के संस्कारों से और अँग्रेजी शासकों के प्रोत्साहन से जो सर्वांगीण सुधारक वर्ग उन्नीसवीं सदी के पूर्वार्द्ध में यहाँ पैदा हुआ उसने चाहे धार्मिक और सामाजिक विषयों में अनेक महत्त्वपूर्ण कार्य किये हों परन्तु यह भावना कि हम अपने देश का शासन करने के अयोग्य हैं, दूर न करके उल्टे अधिक ही फैलायी। इससे मनरो का यह सिद्धान्त कि स्वतन्त्र पत्रकार का पहला कर्तव्य है अपनी मातृ-भूमि को राजनैतिक दासता से मुक्त करना, निर्मूल सिद्ध हुआ और इसीलिए इस पाठ और उपदेश से ऊबकर १८ वीं सदी के चौथे चरण में विष्णु शास्त्री चिपलूणकर ने ज़ोर की आवाज उठायी—"हमारे देश की प्रकृति में अभी कोई कहने लायक खराबी नहीं हुई है, उसकी नाड़ी साफ चल रही है।" ऐसा कह कहकर उन्होंने लोगों के राष्ट्रीय स्वाभिमान को जाग्रत करना शुरू किया इसी पर से यह चर्चा हुई कि पहले राजनैतिक सुधार हो, या सामाजिक सुधार और यह कहा जाने लगा कि राष्ट्रीय दलवालों को सामाजिक सुधार प्रिय नहीं हैं। इसके लिए उचित कारण भी थे।

फिर भी निष्पक्ष दृष्टि से यह स्वीकार करना पड़ेगा कि महाराष्ट्र के राष्ट्रीय पक्ष ने सामाजिक सुधारों का विरोध करने में अतिरेक से काम लिया तथापि लोकमान्य तिलक ने अपने जीवन के अन्तिम समय में राष्ट्रीय पक्ष की जो सामाजिक नीति निश्चित की थी वह अब भी माननीय ही मालूम होती है। एक जगह उन्होंने कहा है—"स्वाभिमान, उत्साह, स्वराज्य-निष्ठा—यही राष्ट्र के सच्चे प्राण हैं। और यह सजीवता जहाँ होगी तहाँ, सुई के पीछे धागे की तरह, सामाजिक सुधार भी अपने-आप आते चले जायँगे। इतिहास इसका साक्षी है। इसीलिए राष्ट्रीय पक्ष राजनैतिक आन्दोलन को जितना महत्त्व देता है उतना सामाजिक आन्दोलन को नहीं। उसका यह कहना नहीं है कि राष्ट्र की सामाजिक प्रगति न होनी चाहिए बल्कि यह कि वह राजनैतिक प्रगति और स्वाभिमान के साथ-साथ होनी चाहिए। राष्ट्रीय पक्ष का सिद्धान्त यह है कि यदि

हम ढीला-ढाला विरोध करते हुए राजनैतिक परतंत्रता को मंजूर करते रहेंगे तो सजीव सुधार हरगिज न हो सकेंगे।"*

खैर; किसने क्या किया होता तो क्या हुआ होता—इस बात को छोड़ दें तो अँग्रेजी पढ़े-लिखे लोग १८ वीं सदी के पूर्वार्द्ध में ब्रिटिश साम्राज्य के प्रामाणिक प्रचारक बन गये और राजनैतिक स्वातन्त्र्य का प्रश्न अति भविष्य काल पर छोड़ सामाजिक और धार्मिक सुधार का बीड़ा उठाकर राष्ट्रनिर्माण के कामों में प्रवृत्त हुए; परन्तु इसमें आश्चर्य की कोई बात नहीं है। भारतीय राष्ट्र-संस्कृति विश्व-संस्कृति के मुकाबले में दो-तीन सदी पिछड़ गयी थी और उस समय के शिक्षित मध्यमवर्ग को यह खयाल हुआ कि हमें इस अन्तर को मिटा देने का यह अच्छा अवसर मिल गया है। १६ वीं सदी से योरप में जो-जो नवीन राजनैतिक, सामाजिक व धार्मिक विचार पैदा हुए वे सब अँग्रेजों के राज्य के साथ ही यहाँ आये। इन सुशिक्षित लोगों ने ईमानदारी से यह महसूस किया कि इन्हें आत्मसात् किये बगैर संसार में हम एक स्वतन्त्र राष्ट्र की हैसियत से खड़े नहीं रह सकते और इसीलिए वे इसमें जुट पड़े। उस समय उन्हें यह ठीक-ठीक खयाल न हुआ कि अँग्रेज लोग विदेशी हैं और उनके राज्य से हमें कितनी आर्थिक हानि होगी। उन्हें यह तो स्पष्ट दिखाई देता था कि हमारे देश के सरदार, जागीरदार और विद्वानों में खपनेवाले शास्त्री-पण्डित राष्ट्र का नेतृत्व करने के योग्य नहीं हैं; परन्तु ऐसा आत्म-विश्वास उनमें नहीं था, जिससे वे खुद राजनैतिक मैदान में कूद पड़ते और जनता को राष्ट्रीय स्वतन्त्रता का मार्ग दिखा देते। और इसके अभाव में राजनैतिक क्षेत्र के लिए आवश्यक त्याग भी उनसे नहीं हो सकता था। उसी प्रकार यह अनुभव भी इन लोगों को हो रहा था कि अँग्रेजी लिख-पढ़ गये, या थोड़ा-बहुत व्यापार करने लगे तो अँग्रेजी सरकार में नौकरी और अँग्रेज व्यापारियों की दलाली मिल जाती है जिससे धन भी कमा सकते हैं। इन लोगों के मन में यह आशा उत्पन्न हो गयी थी कि अब हमारे देश में सामन्तशाही युग समाप्त होकर जो व्यापारी मध्यम वर्ग का युग शुरू हुआ है उससे हमारे देश में ज्ञान और

* लो० टिलकांचे केशर तील लेख भाग ३ पृष्ठ ४३६

धन दोनों की वृद्धि होगी और इंग्लैण्ड की तरह यहाँ भी सब तरह के सुधार हो जायँगे एवं इसी के बलपर अङ्गरेज राजनीतिज्ञों को अपने साम्राज्य को बल मिलने की आशा हो रही थी। पेशवाई के डूबने के बाद बंगाल में ऐसा वर्ग तैयार हो रहा था। मनरो-एलफिन्स्टन ने इस वर्ग को धीरे-धीरे शासन-कार्य में जोतने की नीति स्वीकार की थी और आँख खोलकर की थी। वे यह अच्छी तरह जानते थे कि यदि आज हमने इन्हें छोटे अधिकार के पद दिये तो कल ये सारे शासनाधिकार प्राप्त करने का प्रयत्न करेंगे; परन्तु वे यह भी जानते थे कि हमारे साम्राज्य को स्थिर करने का दूसरा कोई कारगर उपाय नहीं है, और इसीलिए वे इस नीति का विरोध करनेवाले अपने देश बन्धुओं के आक्षेपों को बहुत महत्त्व नहीं देते थे। १८२४ में एल्फिन्स्टन ने कोर्ट आफ डिरेक्टर को एक शिक्षण-विषयक वक्तव्य भेजा था। उसमें वह कहता है—

"यह आपत्ति उठायी जायगी कि यदि हमने यहाँ के लोगों को शिक्षा देकर अपने बराबर का दर्जा दे दिया और शासन-कार्य में भी उन्हें हिस्सा देते चले गये तो वे उन पदों पर ही सन्तुष्ट नहीं रह सकेंगे जो हम उन्हें देंगे; बल्कि वे सारे शासन पर अपना अधिकार साबित किये बिना खामोश न बैठे रहेंगे। इस बात से इन्कार नहीं किया जा सकता कि ऐसा डर रखने के कई कारण हैं। परन्तु दूसरी किसी नीति द्वारा हम अधिक स्थायी बन सकेंगे—ऐसा मुझे विश्वास नहीं होता। यदि हमने देशी लोगों को नीचे ही दबा रखा तो उनके प्रतिकार से ही हमारा राज्य उथल-पुथल हो जायगा और यह संकट पूर्वोक्त संकट की अपेक्षा अधिक भयङ्कर और अधिक अकीर्तिकर होगा। इस खींचा-तानी में हमें सफलता मिल भी गयी तो हमारे साम्राज्य के लोगों से एकरस न होने के कारण विदेशी आक्रमण से अथवा हमारे ही वंशजों की बगावत से उसके उखड़ पड़ने की सम्भावना है। हमारी कीर्ति और हित दोनों दृष्टियों से एवं मानव जाति के कल्याण की दृष्टि से भी विचार किया जाय, तो जिन लोगों के हित के लिए इस सत्ता की धरोहर ईश्वर ने हमें दी है उन्ही के हाथों में उसे वापस सौंप दें यही बेहतर है बनिस्बत इसके कि उसे विदेशी हमसे छीन लें या हमारे ही

कुछ मुट्ठी भर उपनिवेशवासी जन्म-सिद्ध अधिकार कहकर अपने हाथ में ले लें।"*

मुद्रण-स्वातन्त्र्य और अधिकार के पद की तरह पश्चिमी शिक्षा का प्रवेश करते समय भी इस प्रकार की चर्चा ब्रिटिश राजनीतिज्ञों ने की है। अँग्रेजी शिक्षा का प्रचार करने से आगे जाकर हमारा राज्य नष्ट हो गया तो भी आज तो उसी के द्वारा हमारे साम्राज्य को बल मिलनेवाला है और आगे जब कभी हमारा साम्राज्य नष्ट होगा तब कम से कम हमारा व्यापार तो कायम रहेगा और इस देश में बसनेवाले हमारे देश-बन्धु तो सुरक्षित रहेंगे—इस बात को सोच-समझकर और सारे प्राणियों का खयाल करके ही उन्होंने पूर्वोक्त नीति निश्चित की थी। उस समय अँग्रेज राजनीतिज्ञों का यह अनुमान था कि सामन्तशाही युग से निकलकर हाल में ही भारतीय राष्ट्र के लोक-सत्तात्मक राष्ट्र बनने में और हमारे उप-देश से निर्मित सर्वाङ्गीण सुधारक वर्ग के राजनैतिक आन्दोलन में पड़ने में १००–१५० साल लग जायँगे। इतना समय बीतने पर यदि हमारी इस नीति के फल-स्वरूप साम्राज्य पर आन्तरिक संकट आया भी तो उस समय उन्हें व्यवहार्य राजनीति की दृष्टि से उसका विचार करने की जरूरत नहीं थी। तात्कालिक परिणाम की दृष्टि से देशी लोगों को सुशिक्षित बनाना, उन्हें अधिकार के पद देकर शासन-कार्य में अधिका-धिक सहायता उनसे लेते जाना, और मुद्रण-स्वातन्त्र्य देकर उनका उपयोग सामाजिक और धार्मिक सुधारों में करने का प्रोत्साहन देना, यही नीति सबसे अधिक हितकर है। ऐसा एलफिन्स्टन, मनरो, माल्कम के काल में ब्रिटिश राजनीतिज्ञों का मत था और बेण्टिक तथा मेटकाफ आदि गवर्नर जनरलों के शासन-काल में इसका खुलकर श्रीगणेश किया गया। तत्का-लीन शिक्षित भारतवासियों को यह नीति आकर्षक मालूम हुई और इस कारण वे ब्रिटिश साम्राज्य के चाहक और पृष्ठ-पोषक बन गये। जो जो राजा-नवाब, सरदार और जागीरदार अँग्रेजों का प्रभुत्व स्वीकार करके पारतंत्र्य में सुख अनुभव करते थे उनके साथ भी प्रेम और आदर का व्यवहार रखना यह एलफिन्स्टन व माल्कम की नीति थी इस कारण

* Mount Stuart Elphinston by J. S. Colton P. 189

अपने स्वतंत्रता-हरण से असन्तुष्ट होते हुए भी इन लोगों के स्वतंत्रता के लिए बगावत कर बैठने की आशङ्का न थी। मतलब यह कि उनके प्रति व्यवहार की ऐसी नीति अँग्रेजों ने अख्तियार की थी जिससे हिन्दुस्तानी फौज यदि बगावत भी कर बैठे तो सामान्य जनता अथवा राजा-सरदार उनका नेतृत्व न करें, बल्कि उलटा उसे दबाने में इनकी सहायता करें। इसमें उन्होंने तत्कालीन लोगों की धर्म-भावनाओं का भी खूब विचार कर लिया था और इस बात का पूरा ध्यान रक्खा था कि लोगों के धार्मिक भावों को आघात न पहुँचाया जाय। इस सारी नीति का लाभ उन्हें १८५७ के सैनिक-विद्रोह के समय मिला।

१८५७ के गदर के बाद ब्रिटिश राजनीतिज्ञ यह विचार कर रहे थे कि ईस्ट इण्डिया कम्पनी के हाथ से राज सत्ता ले ली जाय। तब कम्पनी ने ऐसा न करने के लिए एक आवेदन-पत्र ब्रिटिश राजा की सेवा में भेजा था। उसमें कम्पनी की तरफ से कहा गया है—

" 'हमारा धर्म खतरे में है' ऐसे निराधार भय से जो गदर हुआ, ऐसा कहते हैं उसमें राजा-सरदारों ने हमारी सहायता करने के बजाय यदि उनका नेतृत्व ग्रहण किया होता या सामान्य जनता उसमें शरीक हुई होती तो उसका दूसरा ही परिणाम निकला होता। उसी प्रकार यदि इस सन्देह के लिए भी कि धर्म-परिवर्तन के आबोताब में ब्रिटिश सरकार का हाथ है, कुछ गुंजायश होती तो ये दोनों बातें कितनी सम्भवनीय होतीं यह बताने की जरूरत नहीं है।"*

इस गदर के समय कलकत्ते में एक 'संवादभास्कर' नामक प्रसिद्ध अखबार निकलता था। उसने गदर के समय में लोगों से सरकार की सहायता करने की जोरदार अपील की थी—

"जो सैनिक राज्य की रक्षा करते थे उन्होंने उसके खिलाफ हथियार उठाये हैं। इसलिए सरकार अपने मित्रों से धन-जन की सहायता चाहती है। सारे राज-भक्त प्रजाजन को इसका अच्छा उत्तर देना चाहिए। यदि शहर के धनी-मानी लोगों ने राजधानी की रक्षा की जिम्मेदारी अपने पर ले ली तो गवर्नर जनरल की चिन्ता कम होगी। यदि यह

* Pitition of the East India Company 1857

आपत्ति इतनी गम्भीर न होती तो सेंधिया और पटियाला नरेश ने अपनी सेना सरकार की सहायता के लिए न भेजी होती। ब्रिटिश सरकार के शासन में हमें प्रायः पूर्ण स्वातन्त्र्य प्राप्त है। मुसलमानों के शासन-काल में इतनी सुरक्षितता थी क्या? अँग्रेजों ने हमें ज्ञान-दान दिया है और हमारे लिए सुख-सुरक्षितता से जीवित रहना संभव बनाया है। यह रामराज्य से कम नहीं है। इसलिए लोगों को इस समय सरकार की हर तरह सहायता करनी चाहिए।"

पेशवाई के अन्त से १८५७ के गदर तक ४० साल में हिन्दुस्तानियों की कैसी स्थिति थी, इसका वर्णन स्व० राजवाड़े इस प्रकार करते हैं—

"इस अवधि में तंजौर, सतारा, इंदौर, धार, ग्वालियर, बड़ौदा, पूना, कोल्हापुर, नागपुर, बुन्देलखण्ड आदि रियासतों में बड़ी-बड़ी क्रान्तियाँ हो गयीं, कितनी रियासतें बिलकुल तहस-नहस हो गयीं, कितनों की आजादी कम हो गयी और कितनी ही केवल जमींदारों की हालत को पहुँच गयीं। लड़वैये घर बैठ गये, जनता निःशस्त्र हो गयी, कारकुनों और मुन्शियों का पेशा डूब गया, व्यापारियों का व्यापार चौपट होने लगा, कारीगरों का रोजगार बैठने लगा, सोना पश्चिम की तरफ बहने लगा, खेती पर लोगों की गुजर-बसर का कठिन अवसर आया, पंडे-पुजारियों की वृत्तियाँ बन्द हुईं, शास्त्री-पण्डित निराश्रय हो गये, मतलब कि सब लोगों में गोलमाल हो गया। परन्तु इस अमर्याद क्रान्ति का परीक्षण करके इसे रोकने की तरफ किसी का ध्यान नहीं गया। तत्कालीन समाज का चरित्र, समाज के घटना-चक्र का कार्य-कारण-संबंध, अथवा समाज का शास्त्र, और समाज का तत्वज्ञान—इनमें से किसी का भी पता इन चालीस सालों में न था। जो विचारशील और तत्व जिज्ञासु थे वे एकदेशीय साधु संत और विरक्त थे। वे संन्यास और योग साधना में गर्क थे और जो दुनियादार अथवा संसार-व्यवहारी राजा-नवाब, सरदार-जागीरदार, व्यापारी, कारीगर, मुत्सदी, कारकुन थे वे इन घटना-चक्रों का अर्थ ही न समझ पाये और मोहान्ध होकर किसी तरह संसार और समाज की गाड़ी खींच रहे थे। 'विवेकभ्रष्टानां भवति विनीपातः शतमुखः'। हम कर क्या रहे हैं और जा कहाँ रहे हैं—इसे समझने की जरूरत जिन्हें नहीं मालूम

हुई उन मोहान्ध लोगों को क्या तो राष्ट्र की और क्या लोक-व्यवहार और इतिहास की परवा !!

इस स्थिति का अन्त १८५७ के ज्वालामुखी सदृश विस्फोट से हुआ। यह विस्फोट संन्यासी, तत्त्वज्ञानी और अविचारी हिन्दू-मुसलमान नेताओं ने बंगाल के सैनिकों की सहायता से किया। काल्पनिक तत्त्वज्ञान का और सुयंत्रित शासन का यह झगड़ा था। पहले के पृष्ठपोषक हिन्दू-मुसलमान नेता थे और दूसरे के पाश्चात्य लोग थे। इसमें सुयंत्रित शासन की विजय हुई। इधर यह तूफान उठ खड़ा हुआ, उधर उत्तर हिन्दुस्तान, पंजाब, और कर्नाटक के राजे-रजवाड़े, महाजन और साधारण जनता कुछ समय तक तो शंकित रह कर तटस्थ रहे पर अन्त को विजेता पक्ष में शामिल हो गये। हलके दर्जे के, कुलहीन और ऐरेगैरे छोटे बड़े शिक्षित और अल्प-शिक्षित पर-राज्य-सेवकों का जो नवीन वर्ग बना था, अथवा सच पूछो तो बनाया गया था, वह विजयी होने वाले और विजयी हुए सुयंत्र-पक्ष की ओर पहले से ही था। उसकी शिक्षा में स्वराष्ट्र, समाज जैसे शब्द ही नहीं थे। बंगाल, राजपुताना और महाराष्ट्र प्रान्तों के कितने ही बड़े नौकर लोग कहते हैं कि १८५७ के इस तूफान का मर्म समझने की क्षमता ही हममें नहीं थी, फिर स्वपक्ष और पर-पक्ष में आने-जाने की तो बातही दूर रही! प्राचीनता के अभिमान और स्मरण से पैदा होने वाला सहज जोश भी इन कुलहीन, राष्ट्रहीन व समाजहीन लोगों में नहीं था।"*

१८५७ के गदर में ब्रिटिश-सत्ता पर ऐसा मर्माघात होते हुए भी उसका लाभ उठाकर स्वतंत्र राष्ट्र निर्माण करने का सामर्थ्य और ज्ञान हिन्दुस्तान में किसी के पास नहीं था—यह साबित हो जाने पर भारतीयों में राष्ट्रीयत्व के अभाव का दूसरा प्रमाण और ब्रिटिश राजनीतिज्ञों की नीति की सफलता की दूसरी गवाही देने की आवश्यकता नहीं है। इस आपत्ति से ब्रिटिशराज्य कैसे बच गया इसकी मीमांसा सर जान सीलीने इस प्रकार की है--

"एक जाति के खिलाफ़ दूसरी जाति को लड़ाकर ही बहुतांश में यह ग़दर मिटाया गया है? जब तक ऐसा किया जा सकता है और जब तक

* ऐतिहासिक प्रस्तावना खण्ड ६, पृ० ३५३–५४

यहाँ के लोग सरकार की आलोचना करने और उसके खिलाफ बगावत करने के आदी नहीं हो जाते तब तक इगलैण्ड में बैठ कर हिन्दुस्तान में हुकूमत की जाती है और यह कोई बड़ी बात भी नहीं है। परन्तु यदि—यह हालत बदल गयी और किसी भी तरह लोगों में समरसता पैदा होकर एक राष्ट्र बन गया और यदि हिन्दुस्तान और हमारा सम्बन्ध थोड़ा भी आस्ट्रिया या इटली की तरह बन गया, तो मैं इतना ही नहीं कहता कि हमारा प्रभुत्व खतरे में है बल्कि उसके आगे हमें अपने प्रभुत्व के कायम रहने की आशा भी बिल्कुल छोड़ देनी चाहिए।" *

अंग्रेज राजनीतिज्ञों ने १८५७–५८ में यह साबित ही कर दिया कि जब तक हिन्दुस्तान में एकता कायम नहीं होती तब तक महज गदर से हमारा साम्राज्य नष्ट नहीं हो सकता। अब इस बात का विचार करना चाहिये कि भारतीय नेताओं ने एक राष्ट्रीयता निर्माण करने के क्या-क्या प्रयत्न किये। ऐसे पहले प्रयत्न का जन्म राजा राम मोहन राय की सर्वांगीण सुधारवाद प्रणाली से हुआ और उसी को स्व० रानडे ने नरम प्रागतिक राजनीति का रूप १९ वीं सदी में दिया।

: ३ :

सर्वांगीण सुधार की आधुनिक ज्ञान-ज्योति

"जो बात व्यक्ति की, वही देश की। वास्तविक उन्नति के लिए पहले उन्नत धर्म का प्रचार होना चाहिये। राजनैतिक अधिकार प्राप्त करने के लिए चाहे राष्ट्रीय सभा (कांग्रेस) कीजिये, चाहे प्रान्तिक सभा; अथवा सामाजिक सुधार करने के लिए सामाजिक परिषद् कीजिये, परन्तु जब तक धर्म-जागृति नहीं हुई है, तब तक देश को इसमें वास्तविक सफलता नहीं मिल सकती। सबसे पहले आत्मा की उन्नति होनी चाहिए।"†

"इस युग के प्रारंभ में पश्चिमी शिक्षण से नास्तिकता और पाखण्ड-वाद की ऐसी जबरदस्त लहर उठी थी कि उसने जैसा कि कितने ही

---

* The Expansion of England by Seely page 233.

† स्व० डा० भण्डारकर यांचे धर्म पर लेख व व्याख्यानें पृ० ३४२–४३

लोग कहते हैं, शीघ्र ही सारे देश में फैलकर हिन्दू-धर्म को जड़ से उखाड़ फेंक दिया होता। परन्तु ईश्वर की अभिनय नियति के कारण उस समय राजा राममोहन राय के रूप में एक अलौकिक पुरुष पैदा हुआ और उसने 'एकेश्वरी पन्थ' की एक नवीन लहर पैदा की जिससे यह भावी आपत्ति टल गयी।"*

इधर महाराष्ट्र में मराठी साम्राज्य के रसातल में पहुँचने और अंग्रेजी साम्राज्य की स्थापना के रूप में राज्यक्रान्ति हो रही थी, उधर उन्हीं दिनों बंगाल में राजा राम मोहन राय के नेतृत्व में पश्चिमी ज्ञान से नवीन दृष्टि-प्राप्त बंगाली हिन्दू अपने धार्मिक आचार-विचार में क्रान्ति करके आधुनिक भारत के निर्माण का यत्न कर रहे थे। वे भारतीय समाज में एक सर्वांगीण क्रान्ति करना चाहते थे और उसके लिए हमारे धार्मिक आचार-विचार में पहले क्रान्ति होनी चाहिए, यह उनका दृढ़ विश्वास था। पहला धार्मिक सुधार, दूसरा सामाजिक सुधार और फिर तीसरा राजनैतिक सुधार-यह क्रम उन्होंने अपने मनमें निश्चित कर रक्खा था। इसका अर्थ यह न लगाना चाहिए कि धर्म-सुधार के अन्तिम शिखर तक पहुँचने के बाद समाज-सुधार का श्रीगणेश किया जाय और उसके शिखर तक पहुँच कर राजनैतिक सुधार की पहली सीढ़ी पर कदम रक्खा जाय। सर्वांगीण सुधार के विरोधी आलोचक उनके भाषणों और कृतियों का ऐसा अर्थ करते हैं, परन्तु यह ठीक नहीं है। धर्म समाज का हृदय है और यदि समाज के सब व्यवहारों में सुधार, परिवर्तन अथवा क्रान्ति करनी है तो पहले उसके हृदय में परिवर्तन होना चाहिए—अथवा डाक्टर भण्डारकर के शब्दों में "पहले आत्मा की ही उन्नति होनी चाहिये" ऐसा राजा राम मोहन प्रभृति सर्वांगीण सुधारकों का मत था। उनकी राजकीय नीति के संबंध में किसी का कितना ही मतभेद हो, अथवा उनके प्रतिपादित धार्मिक या सामाजिक सुधार-विशेष का कोई कितना ही तीव्र विरोध करता हो, तो भी इस विवाद में अधिक मतभेद नहीं हो सकता कि यदि किसी समाज में सर्वांगीण सुधार, परिवर्तन अथवा क्रान्ति करनी हो तो सबसे पहले उसकी आत्मा की उन्नति होनी

* श्री सदाशिव कृष्ण फडके-नवयुग धर्म पृ० ३०

चाहिए, उसका हृदय-परिवर्तन होना चाहिए, अथवा उसके धार्मिक विचार, भावना और आचार-व्यवहार में परिवर्तन होना चाहिए, खास कर उस समाज के सर्वांगीण सुधार पर तो यह न्याय और भी अधिक लागू पड़ता है जिसके सब व्यवहारों पर धर्म का नियंत्रण रहता है। प्राचीन समय में और मध्ययुग में योरपीय और भारतीय दोनों समाजों के सब व्यवहारों पर धर्म की सत्ता चलती थी। धर्म की इस सर्वव्यापिनी सत्ता को नष्ट करके राजनैतिक, आर्थिक और सामाजिक व्यवहार के स्वतन्त्र शास्त्र निर्माण करना और धर्म के पास सिर्फ अन्तरंग सुधार का अथवा आत्मिक उन्नति का काम रखना आधुनिक योरपीय संस्कृतिका एक लक्षण है। आधुनिक योरपीय सुधार में सामाजिक, आर्थिक व राजनैतिक व्यवहारों से धर्म का कुछ वास्ता नहीं रहा है; यही नहीं, बल्कि यह भी प्रतिपादन किया जाता है कि नीति शास्त्र का भी धर्म या आत्मा से कुछ संबंध नहीं है। यही विचारसरणि आज हमारे देश में प्रचलित होना चाहती है। परन्तु राजा राममोहन राय के समय हिन्दू-समाज की ऐसी स्थिति नहीं थी। उस समय का हिन्दू-समाज मध्ययुगीन योरपीय-समाज के जैसा था। उसके मन में ये स्पष्ट कल्पनाएं नहीं थीं कि राज्य-शास्त्र, अर्थ-शास्त्र, समाज-शास्त्र, आदि शास्त्र, धर्म-शास्त्र से पृथक् हो सकते हैं। उसके सब व्यवहारों पर धर्म की सत्ता पूरी पूरी नहीं तो भी तत्वतः जरूर चल रही थी। निदान भारतीय समाज की यह मान्यता और श्रद्धा थी कि ऐसा होना ही साहजिक व इष्ट है। इस अवस्था में जो समाज हो उसके सर्वांगीण सुधार में लगनेवाले का पहले धार्मिक सुधार में प्रवृत्त होना बिलकुल स्वाभाविक है। राजनैतिक परतन्त्रता के जबड़े में फँसे राष्ट्र के लिए पहले सर्वांगीण सुधार करना ठीक है या राष्ट्रीय स्वतंत्रता की स्थापना करके फिर इस महत्कार्य में पड़ना उचित है इसमें मतभेद हो सकता है। परन्तु यदि हम इस बात को मानकर ही चलें कि सर्वांगीण सुधार हुए बगैर हम अथवा हमारा राष्ट्र स्वतंत्रतापूर्वक रही नहीं सकता तब मध्ययुगीन अवस्था के धर्माधिष्ठित समाज का सर्वांगीण सुधार चाहनेवालों के लिए उसके धार्मिक आचार-विचार-भावनाओं के सुधार को प्रथम स्थान देना बिलकुल स्वाभाविक है। राजा राममोहन राय द्वारा बंगाल में स्थापित ब्रह्म-समाज

की महाराष्ट्रीय शाखा 'प्रार्थना-समाज' के एक अध्वर्यु स्वर्गीय डा० भांडारकर का जो अवतरण इस प्रकरण के शुरू में दिया गया है उसमें यही दृष्टि-कोण है।

इसी के नीचे एक और उद्धरण 'नवयुग-धर्म' के लेखक श्री फडके का दिया गया है। श्री फडके उन लोगों में से हैं जिन्हें ब्रह्म-समाज का धार्मिक और सामाजिक-सुधार अधिकांश में मान्य नहीं है और न राजा राम-मोहन राय की विभूतिमता के प्रति ही जिन्हें अकारण आदर हो सकता है। उनके जैसे लोग राजा राम मोहन-स्थापित एकेश्वरी ब्रह्म-समाज को किस दृष्टिसे देखते हैं और उनके कार्य को कितना महत्त्व देते हैं, यह दिख-लाने के लिए ही उनके वचन उद्धृत किये गये हैं। राजा राममोहन राय के कुछ धार्मिक विचार मान्य न हों तो भी उन्होंने धार्मिक-सुधार की जो एक जबरदस्त लहर १९वीं सदी के प्रारंभ में पैदा की उसके कारण पश्चिमी शिक्षा और ज्ञान के संस्कारों से ईसाई-धर्मी शासकों के प्रति होनेवाले कुतूहल और आदर के कारण ईसाई-धर्म की दीक्षा लेने से मिलनेवाले भौतिक लाभों के लोभ से, जबरदस्तों के सामने सिर झुकाने की हीन मनोवृत्ति के कारण, (ईसाई-धर्म-प्रचारकों के दिखाये हमारे धर्म के मिथ्या-दोषों के कारण,) और आधुनिकता का प्रकाश बहुत वर्षों से न मिलने के कारण हिन्दू-धर्म को जो हीन व अवनत स्वरूप प्राप्त हुआ उससे, हिन्दू-शिक्षित लोगों का जो झुकाव ईसाई-धर्म ग्रहण करने की ओर हो रहा था, वह रुक गया, और उन्हें यह निश्चय हो गया कि भारतीय राष्ट्र के सर्वांगीण सुधार के लिए उसे ईसाई-धर्म की दीक्षा देने की आवश्यकता नहीं, बल्कि ऐसा करना सुधार का वास्तविक उपाय नहीं है।

अँग्रेजों ने जब हिन्दुस्तान में राज्य-स्थापना की, तब उन्होंने अपनी यह शासन-नीति रक्खी थी कि हिन्दुओं के धर्म में हस्तक्षेप न किया जाय तथापि उनका उस समय यह दृढ़-विश्वास था कि जब तक कोई राष्ट्र या समाज ईसाइ-धर्म का अनुयायी नहीं हो जाता तब तक उसे ऐहिक अभ्युदय और पारमार्थिक सद्गति नहीं मिल सकती। यह मत ईसाई-पादरियों का ही नहीं, यहाँ आनेवाले अँग्रेज अधिकारी और व्यापारियों का भी था। फर्क इतना ही था कि राजकाजी लोग अपने इस विश्वास के

लिए भारतीय जनता में सद्धर्म का प्रचार करके अपने राज्य और व्यापार को नुकसान पहुँचाना नहीं चाहते थे। इस कारण ईस्ट इंडिया कम्पनी के अधिकारी पादरियों के धर्म-प्रचार-संबंधी उत्साह को एक मर्यादा में रखने की कोशिश करते रहते थे। अँगरेज राजकाजियों में जिन्हें भारतीय संस्कृति के प्रति आदर या उसका ज्ञान न था वे जिस तरह यह चाहते थे कि हिन्दुस्तानी ईसाई-धर्म ग्रहण कर लें, उसी तरह जिन अँगरेज राजकाजियों को या विद्वानों को भारतीय संस्कृति का अच्छा ज्ञान और उसके प्रति आदर था, एवं जो यह चाहते थे कि भारतीय समाज सुधार में आगे बढ़े तथा अन्त को जाकर स्वतन्त्रता भी प्राप्त करले, उन्हें भी यह आशा थी कि हिन्दुस्तानी आज या कल ईसाई धर्म को अवश्य ग्रहण करलेंगे। अलबत्ते ये लोग, धर्म-प्रचार के लिए पादरी जिन साधनों का उपयोग करते थे, परिणाम की दृष्टि से उनका निषेध करते थे और यह स्पष्ट रूप से कहते थे कि सरकार-द्वारा होने वाले लोक-शिक्षण के प्रयत्नों में धर्म-प्रचार का प्रत्यक्ष मिश्रण न किया जाय।

फ्रेडरिक जान शोअर नायक अँगरेज अधिकारी ने १८३७ में एक पुस्तक लिखी थी—'Notes on Indian Affairs'। यह ब्रिटिश राज्य के दोषों और तत्कालीन भारतीय संस्कृति के गुणों को ध्यान में रखकर लिखी गई थी। ब्रिटिश शासन-पद्धति के घोर आर्थिक परिणाम, लोगों पर होने वाले अन्याय, जबरदस्त कर, और लोगों को विश्वास में न लेकर बल्कि उन्हें तुच्छ समझकर चलाई हुई शासन-पद्धति के बदौलत तत्कालीन जनता के मन में उत्पन्न असन्तोष और तिरस्कार का बहुत अच्छा वर्णन उसमें किया गया है। ऐसे सहानुभूति-पूर्ण लेखक को भी यह विश्वास होता था कि हिन्दू जनता धीरे-धीरे ईसाई बन जायगी। यह कैसे होगा, इसके संबंध में उसके विचार इस प्रकार के थे—

"मानवी प्रयत्नों में ये ये साधन मुख्यतः फलदायी हो सकते हैं—(१) हमें अपने उदाहरण से लोगों को यह दिखला देना चाहिए कि हम जिस धर्म का प्रचार करते हैं उस पर हमारी सच्ची श्रद्धा है और हमारा आचरण भी उसीके अनुसार है (२) नवीन पीढ़ी में शिक्षा का प्रचार करना चाहिए (३) एक वर्ग ऐसा तैयार करना चाहिए जिसमें

धर्मान्तरित लोगों का समावेश किया जा सके और उनका जाति से बहिष्कार न हो, इसका ध्यान रखना चाहिए। यदि इन उपायों से काम लिया गया तो थोड़े ही समय में बहुत सफलता मिल सकती है। धर्म और जाति-सम्बन्धी बहुत से पुराने अन्धविश्वास अब कमजोर हो गये हैं, उनमें जिज्ञासा बढ़ रही है और जो लोग अँगरेजों से दूर-दूर भागते थे, यहाँ तक कि किसान लोग भी, पादरियों के पास आने लगे हैं और ऐसे ऐसे प्रश्न पूछने लगे हैं कि सचमुच हमारा कोई धर्म है भी, और यदि है तो उसमें क्या-क्या बातें हैं? उनमें शिक्षा का तथा नवीन विचारों का खूब प्रचार होने के बाद उन्हें अपनी मूर्ति-पूजा की पद्धति का दोष दिखाई देने लगेगा। आज भी उन्हें इतना तो महसूस होने लगा है कि इस धर्म से उनके अन्तःकरण को शान्ति और समाधान नहीं मिलता। हिन्दुओं में यदि कोई राजा अथवा प्रभावशाली पुरुष कान्स्टेनाइन की तरह (धर्म-प्रचार करने के लिए) कमरबस्ता हो जाय तो उसका अनुकरण करके जनता सामुदायिक धर्मान्तर के लिए तैयार हो जायगी। जबतक ऐसा न हो तब तक अकेले धर्माधिकारियों या पादरियों को चाहिए कि वे बप्तिस्मा देकर धर्मान्तर करने की विशेष उत्कटता न दिखावें।" *

इसी लेखक ने अँगरेजी सेना के दो ब्राह्मण सिपाहियों का एक संवाद दिया है जो उस समय का है कि जब कि काशी में हिन्दू-मुसल्मानों का दंगा हुआ और मंदिरों में गाय का खून तथा मसजिदों में सूअर का मांस डाला गया था। एक कहता है—'देखोजी जो बात अब तक सपने में नहीं हुई वही सामने दिखाई देती हैं। शंकर के हाथ का त्रिशूल नष्ट-भ्रष्ट हो गया है और थोड़े ही दिनों में हम सब एक जाति के हो जायँगे। यदि ऐसा हुआ तो हमारा धर्म क्या होगा?" दूसरा जवाब देता है—"मैं समझता हूँ वह ईसाई धर्म होगा।" तब पहला समर्थन करता है—'मैं भी ऐसा ही समझता हूँ। क्योंकि अभी जो काण्ड हुए उन्हें देखकर तो हम मुसल्मान हरगिज न बनेंगे।" इस संवाद के आधार पर इस लेखक का कहना है कि इस देश में ऐसे खयालात फैल रहे हैं कि सब हिन्दू

* Notes on Indian Affairs Vol. II p. 466—67 by Hon. Fredrick John Shore.

ईसाई हो जायँगे। तात्पर्य यह कि यह कहना यदि सही हो कि अँगरेज शासकों ने इस देश में सर्वांगीण सुधारों की आकांक्षा जाग्रत की तो उसके साथ यह भी सच है कि उसके फल-स्वरूप उन्हें अपने साम्राज्य को कुछ समय के लिए बल मिलने और जब हिन्दुस्तान स्वतंत्र होगा तब अपना व्यापार कायम रहने और सब हिन्दुओं को ईसाई बनाने की आशा भी थी। उन्हें यह आशा नहीं थी कि यहाँ के मुसल्मान ईसाई होंगे। पूर्वोक्त लेखक मुसल्मानों के ईसाई मजहब-संबंधी रुख के बारे में लिखता है—'हिन्दुओं की बनिस्बत मुसल्मान कम दुराग्रही और असहिष्णु हों, और उनके विचार अधिक उदार हों तो भी उन्हें ईसाई धर्म में दीक्षित करना औरों की अपेक्षा कठिन होगा। इस विषय में मुसल्मानों की भावना बड़ी विचित्र है। इधर बुतपरस्त कहकर वे हिन्दुओं को तुच्छ मानते हैं और उधर ईसाइयों से भी नफरत करते हैं। इसलिए नहीं कि हम ईसा-मसीह को मानते हैं (क्योंकि उन्हें तो वे भी पैगम्बर मानते हैं) बल्कि इसलिए कि हम उनके पैगम्बर मुहम्मद को नहीं मानते हैं।'*

यह धर्म-संशोधन का आन्दोलन हिन्दुओं में ही चला—मुसल्मानों और पारसियों में नहीं, क्योंकि उन्हें उसकी आवश्यकता नहीं प्रतीत हुई। प्रार्थना समाज और ब्रह्म समाज के प्रवर्तकों को यह आशा रही कि हिन्दू-धर्म-संशोधन का असर दूसरे धर्मों पर भी पड़ेगा। वस्तुतः ब्रह्म समाज और प्रार्थना समाज को आगे जाकर संशोधित हिन्दू धर्म का ही रूप प्राप्त हो गया।

अब हम राजा राममोहन राय के समय की परिस्थिति का उनकी दृष्टि से अधिक विचार करें। इस समय बंगाल में ईसाई-धर्म-प्रचारकों ने हिन्दू धर्म पर खुला हमला शुरू कर दिया था और छिद्रान्वेषण बुद्धि से उसपर टीका करने का बीड़ा उठा लिया था। उनका सम्बोधन कर वे कहते हैं—"ब्रिटिश सरकार ने अपनी यह नीति जाहिर की थी कि धर्म के संबंध में तटस्थता रक्खी जायगी, अतएव अब विजेता के धर्म का खुला प्रचार करने देना और पराजित लोगों के धर्म की खुली निन्दा करने की इजाजत देना उसके विरुद्ध है। दूसरे हिन्दू व मुसल्मान धर्मों के दोष-दर्शन के ही

* Ibid p. 468.

लिए व्याख्यान देना अथवा पत्र-पत्रिका बाँटना अनुचित है। तीसरे, भौतिक उन्नति का प्रलोभन देकर धर्मान्तर करना अश्लाघ्य है। सरकार के बंगाली प्रजाजन दुर्बल और दरिद्र हैं—अँगरेजों का नाम सुनते ही वे भयभीत हो जाते हैं। ऐसे लोगों पर राज-सत्ता की सहायता से सख्ती करना बहुत निंद्य है।" इस तरह हिन्दू धर्म पर होने वाले पादरियों के आक्रमण का प्रतीकार करना भी राजा राममोहनराय का एक अंगीकृत कार्य था। परन्तु ब्रह्म समाज की स्थापना करने में ईसाई धर्म का प्रतीकार करना, यह मूल प्रेरक भावना नहीं थी। हिन्दू-धर्म में सुधार किया जाय, एकेश्वरी धर्म का सर्वत्र प्रचार करके यह बताया जाय कि सब धर्मों का अंतरंग एकही है, और इस तरह संसार के धर्म-भेदों का अंधकार दूर करने वाले सार्वत्रिक विश्व-धर्म के सूर्य का प्रकाश सर्वत्र फैलाना उनकी एक बड़ी महत्वाकांक्षा थी।

"जिस तरह भिन्न-भिन्न शरीरस्थ जीवात्मा उन-उन शरीरों को चैतन्य देकर उसका नियमन करते हैं, उसी तरह अखिल विश्वरूप समष्टि शरीर को चैतन्य देकर उसका नियंत्रण करनेवाले एक सत्तत्व की हम आराधना करते हैं। हमारी इस श्रद्धा को यद्यपि हमारे धर्म के आधुनिकों ने छोड़ दिया है तथापि वह पवित्र वेदान्त-धर्म से सम्मत है। हम सब प्रकार की मूर्ति-पूजा के विरुद्ध हैं। परमेश्वर की प्रार्थना का हमारा एक ही साधन है—भूत दया अथवा परोपकार-भाव से परस्पर व्यवहार करना।"*

राजा राममोहन राय ने वेदान्त तथा ईसाई और इस्लाम धर्मों के तत्वों का अच्छा अध्ययन किया था। उनकी धर्म-जिज्ञासा बड़ी प्रखर थी और उनकी बुद्धि-निष्पक्ष, निरहंकार और सर्व-संग्राहक थी। हिन्दू-समाज का उद्धार करने की 'तड़प' उन्हें उपनिषदों के वेदान्त से मिली थी। अँगरेज राज-काजी उनसे ईसाई-धर्म ग्रहण करने की आशा रखते थे और पादरी उन्हें इसका खुला उपदेश भी करते थे। क्योंकि वे मानते थे कि हिन्दू लोगों के ईसाई हो जाने से अपने राजनैतिक और व्यापारिक साम्राज्य को स्थिरता मिलेगी।

वेदान्त-प्रतिपादित परमात्मा के स्वरूप का शुद्ध और उच्च ज्ञान लोगों

---

* Raja Ram Mohan by Nalin C. Ganguli p. 69—70.

को मिले, इसलिए राजा राममोहन ने काफी प्रचार-कार्य किया। वे ईसाई मजहब की खुली तारीफ करते थे, ईसा-मसीह को पूज्य मानते थे, और कहते थे कि नीतितत्वों का जितना सामूहिक विवेचन ईसाई-धर्म में किया है उतना मैंने किसी धर्म में नहीं देखा। इससे ईसाई-धर्म-प्रचारकों को यह खयाल हो गया था कि वे ईसाई हो जायँगे। वे यह तो मानते थे कि ईसा के जीवन और उपदेश का संदेश दैवी है। वे उस महान् विभूति के प्रति आदर भी रखते थे और समझते थे कि ईसा के चारित्र्य से मनुष्य की नैतिक उन्नति में जितनी सहायता हुई है उतनी और किसी से नहीं। परन्तु ईसाइयों का यह मत उन्हें मान्य नहीं था कि ईसा ईश्वर का प्रत्यक्ष पुत्र था। इस कारण पादरी लोग उनसे नाराज भी रहते थे।

उनका यह मत था कि हिन्दुओं का उद्धार वेदान्त के आधार पर, मुसल्मानों का कुरान के सहारे और ईसाइयों का इंजील की सहायता से किया जाय। और ऐसा करते हुए प्रत्येक धर्म के शुद्ध एकेश्वरी विचारों के लोग परमेश्वर की उपासना करने या तत्वज्ञान की देन-लेन करने के लिए एकत्र हों—इसीमें सारे जगत् के उद्धार का बीज उन्हें दिखाई देता था। उनका यह विश्वास था कि तलवार, बन्दूक, लोभ, मोह अथवा नीति की सहायता से धर्मान्तर का आन्दोलन चलाने और दूसरे के धर्म की निंदा करके धर्म-कलह फैलाने में संसार का किसी प्रकार हित नहीं है। वे मानते थे कि नीति-प्रचार में ईसाई-धर्म आगे निकल गया है, मुसलमानों का देवता-काण्ड (Theology) शुद्धतम है और हिन्दुओं का वेदान्त सिद्धान्त अत्यन्त प्रगल्भ है। ब्रह्मसमाज किसी भी ग्रन्थ को ईश्वर-निर्मित नहीं मानता। वह एक शुद्ध और बुद्धिगम्य एकेश्वरी पंथ है। सब धर्मों का संशोधन करके उन्हें एकेश्वरी रूप देना और सब तरह की मूर्ति-पूजा नष्ट करना उनका ध्येय था। फिर भी उनका यह मत था कि प्रत्येक धर्म का संशोधन उसी परम्परा के लोगों को करना चाहिए। इसलिए वे अपने को 'एकेश्वरी हिन्दू' (Hindu Unitarian) कहा करते थे।

राजा राममोहन राय के धार्मिक सुधार की नीति दो प्रकार की थी एक तो वे हिन्दू समाज के बाह्य विधि-विधानों और कर्मठता की जड़ को

खोद डालना चाहते थे। क्योंकि इन बाहरी आधारों के फेर में पड़ जाने से अन्तःकरण की शुद्धि और परमात्मा की प्राप्ति, जो धर्म का मूल उद्देश है, वह एक तरफ रह जाता है और धर्म को सकामकर्म का बाजारू स्वरूप प्राप्त हो जाता है। भौतिक फल के लिए भौतिक प्रयत्न करना छोड़कर मनुष्य दैववादी, आलसी और अन्धा बन जाता है; एवं चमत्कार और अद्भुतता के चक्कर में पड़कर सृष्टि-नियमों का ज्ञान प्राप्त करने से विमुख हो जाता है। प्रत्येक धर्म-सुधारक को सकाम व्रतादि, धर्म के बाहरी क्रिया-कांड का खंडन करके धर्म का अन्तरंग लोगों के सामने रखना पड़ता है। भागवत-धर्म के सन्तों ने भी मध्ययुग में यह काम किया था; और वेदान्त के आधार पर शुद्ध परमार्थ-ज्ञान का प्रचार किया था।

राजा राममोहन राय मायावाद को मानते थे और उसका समर्थन भी करते थे, परन्तु माया को वे एक अव्यक्त परमात्मा की शक्ति मानते थे। माया को परमात्मा की शक्ति मानने से निर्गुण ब्रह्मवाद का महत्व कम हो जाता है, इसलिए शांकर-वेदान्त के साम्प्रदायिक अनुयायी उसे शक्ति नहीं कहते और न यही मानते हैं कि इस शक्ति की सहायता से परमात्मा ने जगत् निर्माण किया है। क्योंकि उनके मतानुसार जग और माया दोनों असत् अर्थात् मिथ्या हैं। इसी में निवृत्तिमार्ग का उद्गम हुआ है। राममोहन राय निवृत्ति मार्ग के अनुयायी नहीं थे और जगन्मिथ्यावाद उन्हें मान्य न था। जगन्मिथ्या अथवा इसके जैसे उपनिषद् के वचनों का अर्थ इन्होंने यह किया है कि परमात्मा के अतिरिक्त जगत् का स्वतंत्र अस्तित्व नहीं है। वे वेदान्त को प्रवृत्ति-पर बनाने के पक्ष में थे और आधुनिक समय में उन्होंने निवृत्तिपरक समाज को कर्म प्रवण बनाने का प्रथम प्रयत्न किया है। उनका यह भी मत था कि वेदान्त ज्ञान के साथ ही हिन्दुओं में भौतिक विद्या का ज्ञान भी फैलाना चाहिए। इसके लिए उन्होंने सरकार-द्वारा संस्कृत अध्ययन पर होने वाले खर्च को कम करके पश्चिमी शिक्षा और विद्याओं के लिए खर्च करने पर ज़ोर दिया।

इंग्लैंड में जबसे लार्ड बेकन ने अनुभवगम्य ज्ञान का युग शुरू किया, तबसे मनुष्य को यह विश्वास होने लगा कि हम अपने ज्ञान-बल के द्वारा

किसी पर प्रभुत्व कर सकते हैं और ज्ञान-प्राप्ति के साधनों की दृष्टि से ग्रन्थ-प्रामाण्य की अपेक्षा अनुभव-प्रामाण्य और बुद्धि-प्रामाण्य को अधिक प्रभुत्व मिलने लगा। वस्तुतः ग्रन्थों की उत्पत्ति भी मनुष्य के अनुभव और तर्क से होती है, परन्तु ग्रन्थकार के प्रति रहने वाले पूज्य भाव से विभूति-पूजा जन्मती है और विभूतिपूजा का अन्त ग्रन्थ-विशेष को परमेश्वर-निर्मित मानने की प्रवृत्ति में होता है। ऐसा होने पर ग्रन्थ-प्रामाण्य का अतिरेक होता है और मनुष्य की बुद्धि अपने अनुभव से न चल कर अथवा स्वतंत्र तर्क का उपयोग न करके प्राचीन ग्रन्थों की और उनके शब्दों और वचनों की दासी बन जाती है। इस तरह अगली पीढी जब पिछली पीढ़ी की दासता स्वीकार कर लेती है तब ज्ञान की प्रगति रुक जाती है और मनुष्य अपनी बुद्धि का उपयोग सिर्फ शब्दार्थ करने में ही करने लगता है। वह यह भूल ही जाता है कि अनुभव और तर्क से ही सृष्टि का ज्ञान धीरे-धीरे होता है। पेशवाई के अन्तिम और ब्रिटिश राज्य की स्थापना के समय हमारे शास्त्री-पण्डितों की यही अवस्था हो गई थी।

इस ग्रन्थ-प्रामाण्य के युग के विरुद्ध बगावत का झण्डा खड़ा करने का श्रेय हमारे यहाँ आधुनिक काल में राजा राममोहन राय को देना होगा ब्रह्मसमाज अथवा प्रार्थना-समाज की स्थिति के सम्बन्ध में डा० भाण्डारकर कहते हैं—"प्रार्थना समाज वेद को ईश्वर-प्रणीत नहीं मानता। यही सत्य पक्ष है। धर्म का बीज सबके अन्तःकरण में है और यह ईश्वर से मिला हुआ है। किसी के हृदय में यह प्रफुल्लित, विकसित मिलता है और ऐसे के उपदेश अथवा ग्रन्थों के द्वारा दूसरों को धर्म-संबंधी ज्ञान होता है। इस तरह ईश्वर ही अपना ज्ञान विकसित करता है और यह क्रम शुरू से अन्त तक चला आ रहा है। एक ही समय अथवा एक ही व्यक्ति को ईश्वर ने सारा धर्म-ज्ञान दे दिया—यह सम्भवनीय नहीं। क्योंकि धर्म सर्वदा विकासशील है। परमेश्वर धर्म-तत्त्वों का प्रचार मनुष्यों के द्वारा ही कराता है और मनुष्य की शक्ति परिमित है। उसकी दुर्बलता के कारण सत्य बहुत बार एक तरफ रह जाता है और असत्य की तरफ वह झुकने लगता है। इस कारण सभी धर्मों में सत्य है और असत्य भी है। इसलिए असत्य को छोड़कर हमारी वृत्ति हमेशा सत्य ग्रहण करने की ओर रहनी चाहिए।

वेद में प्रार्थना समाज के सब तत्वों का बीज मात्र है। उपनिषद् और गीता में वह विकसित हुआ है।''*

इसलिए वह सब धर्मों के प्रति सम बुद्धि रखकर सार्वत्रिक अथवा विश्व-धर्म का विकास करने के पक्ष में हैं। हिन्दुओं के वेदान्त सिद्धान्त से उन्हें यह व्यापक और सहिष्णु वृत्ति मिली है, लेकिन ईसाई धर्म-प्रचारक और इस्लाम धर्मानुयायी को वह नहीं पटती है। युरोप में यह बौद्धिक दास्य बेकन के बाद नष्ट हो गया और लोग भौतिक ज्ञान में आगे बढ़ गये। इसी उद्देश को लेकर हमारे देश में पश्चिमी शिक्षा व ज्ञान के प्रचार के लिए अनेक उद्योग हुए। राजा राममोहन राय के सर्वांगीण सुधार का यह दूसरा अंग था। उन्होंने भिन्न-भिन्न शिक्षा-संस्थाओं के द्वारा दोनों दिशाओं में प्रयत्न किया। समाज-सुधार की दिशा में सती-प्रश्न को मिटाने के आन्दोलन में प्रमुख भाग लिया। सती प्रथा, स्त्री-दास्य की एक प्रतीक थी। राममोहन राय ने स्त्री-स्वातंत्र्य के व्यापक प्रश्न को प्रथम गति दी और स्त्रियों को घर की सम्पत्ति में विरासत का हक मिले, इसका भी प्रयत्न किया। कन्या-विक्रय, बहु-विवाह आदि कुरीतियाँ बन्द करने के लिए भी उन्होंने लोक-जागृति की।

सती की प्रथा तो लार्ड बेंटिक ने कानून-द्वारा बन्द कर दी परन्तु उसमें लोगों की दुर्बलता और भीरुता का सहारा लिया गया था। जिस विभाग में सती की प्रथा थी, उनकी प्रतीकार भावना बिलकुल मृतवत् हो गई है, वे दुर्बल और भीरु हैं, इसका फायदा उठाकर लोगों के भाव और मत के विरुद्ध किसी विदेशी सरकार का कोई कानून लोगों पर लादा जाना, राष्ट्रीय दृष्टि से प्रशस्त नहीं मालूम होता। राष्ट्रीय स्वातंत्र्य की लड़ाई में असली पूँजी लोगों की प्रतीकार भावना ही है। यह पूँजी यदि न रही तो लोग विदेशियों के अत्याचारों के खिलाफ बगावत कैसे करेंगे? इसी विचार को लेकर १८ वीं सदी के अन्त में राष्ट्रीय राजनीति की नींव डालने वाले लो० तिलक ने विदेशी सरकार के कानून के द्वारा सामाजिक सुधार करने के तरीके के खिलाफ आवाज उठाई थी।

परन्तु अभी हिन्दुस्तान में आधुनिक राष्ट्रवाद का निर्माण होना बाकी

* डा. रा० गो० भण्डारकर यांची धर्म पर व्याख्यानें ४–१२६

था। राजनैतिक गुलामी सच्चे सामाजिक व धार्मिक सुधार में कैसी विघातक होती है इसका अनुभव सर्वांगीण सुधारकों को होना बाकी था। उस समय के शिक्षित लोग यह साफ तौर पर नहीं जानते थे कि ब्रिटिश साम्राज्यशाही हमारी आर्थिक उन्नति में किस तरह से बाधक हो रही है। राजा राममोहन राय को इस बात की बड़ी चिन्ता थी कि ब्रिटिश सत्ता के खिलाफ लोगों की प्रतीकार भावना जाग्रत न हो और लोग बगावत न कर बैठें। आधुनिक राष्ट्र-निर्माण के लिए आवश्यक सामाजिक और धार्मिक मनोरचना आज लोगों में नहीं है और उसके होने तक अँगरेजी राज्य का रहना आवश्यक है, ऐसा वे मानते थे। १९वीं सदी के चौथे चरण में इस विश्वास को धक्का पहुँचाने वाली विचार-सरणि और मनोरचना शिक्षित वर्ग में निर्माण होने लगी।

'सामाजिक सुधार' शब्द में स्त्री-शूद्र को अर्थात् समाज के दीन, दुर्बल, दलित लोगों को समानता प्राप्त करा देना मुख्य है। यह समता-तत्व श्री कृष्ण, गौतम बुद्ध और मध्ययुगीन साधु-सन्तों के ग्रन्थों और प्रयत्नों में मिलता है। समाजशास्त्र की दृष्टि से विचार करें तो प्राचीन और मध्ययुगीन धर्म-सुधारकों की तरह अर्वाचीन सुधारकों को समत्व-भाव की अध्यात्म वृत्ति से अपने सुधारों का आधार मिला था। फिर भी यह समता किस परिस्थिति में कितनी अमल में लाई जाय इसका विचार समाज के भौतिक ज्ञान और साधनों की दृष्टि से करना चाहिए। आर्थिक समता सामाजिक समता का आधार है मगर आर्थिक समता समाज की धनोत्पादन कला व पद्धति की प्रगति पर और आध्यात्मिक उन्नति पर अवलम्बित है। इस दृष्टि से विचार किये बगैर वर्ण-भेद और जाति-भेद इष्ट वा अनिष्ट इसका सही निर्णय नहीं हो सकता। १९वीं सदी में जो व्यक्तिवादी सामाजिक तत्वज्ञान अँगरेजों के द्वारा हिन्दुस्तान में आया उसमें यह विचार नहीं था और इसलिए वह भारतीय सुधारकों में नहीं पाया जाता। उनकी विचार-श्रेणी में भूत-दया व समता इस आध्यात्मिक वृत्ति तथा व्यक्तिवादी अर्थोन्नति व राष्ट्र-भावना (Individualist Nationalism) की ही प्रधानता थी।

राजा राममोहन राय इस बात को तो जानते थे कि हमारे समाज के

आर्थिक संगठन में एक जबरदस्त उथल-पुथल हो रही है। पहले समाज में एक जमींदार-जागीरदारों का उच्चवर्ग था और दूसरा गरीब और दुर्बल किसानों का। व्यापारी व कारीगरों के पास बहुत धन-सम्पत्ति न थी। यह स्थिति बदलती जा रही है और उसकी जगह अँगरेज व्यापारियों और पूँजीपतियों के सहारे एक मध्यम व्यापारी व शिक्षित वर्ग हमारे समाज में बनता जा रहा है और उसकी सम्पत्ति बढ़ती जा रही है। वे इस आर्थिक बनाव-बिगाड़ का महत्व भी जानते थे और उन्हें यह आशा थी कि अन्त में इसी वर्ग में से राजनैतिक लोक-सत्ता का आन्दोलन करने वाला दल तैयार होगा और इंग्लैंड की तरह यहाँ भी लोक-नियन्त्रित राज-सत्ता स्थापित हो जायगी। परन्तु वे यह नहीं जानते थे कि इस वर्ग की वृद्धि और उन्नति में भी ब्रिटिश साम्राज्य बाधा डाल रहा है। वे यह भी नहीं जानते थे कि इस व्यापारी मध्यम वर्ग में से कारखानेदारी निर्माण होने के लिए हमें संरक्षक चुंगी अथवा स्वदेशी जैसे आन्दोलन की जरूरत रहेगी। और उसमें ब्रिटिश शासक, अँगरेज व्यापारी और अँगरेज पूँजी-पतियों का हिन्दुस्तानी मध्यम व्यापारी वर्ग में से पैदा होनेवाले पूँजीवालों का विरोध उत्पन्न होगा। आर्थिक दृष्टि से वे खुले व्यापार के प्रेमी थे। उनका मत था कि ब्रिटिश माल, पूँजी और पूँजीवालों के इस देश में अधिक परिमाण में आने से देश का अहित नहीं, हित ही होगा। हाँ, वे यह जरूर कहते थे कि हिन्दुस्तान से बाहर जानेवाले माल पर अँगरेज लोग जो भारी कर लगाते हैं वह उन्हें उठा देना चाहिए।

१८२० से १८३० तक राममोहन राय प्रभृति बंगाली नेता यह समझते और कहते थे कि हिन्दुस्तान सघन होता जा रहा है क्योंकि शहरों में मजदूरी की दर बढ़ गई थी, और मध्यम वर्ग के कुछ लोगों को अच्छी नौकरियाँ मिल रही थीं। परन्तु वे यह भूल जाते थे कि इससे अधिक मात्रा में भाव भी बढ़ गये थे। और इसलिए १५–२० वर्ष के बाद ही महाराष्ट्र के 'लोकहितवादी' ने 'विलायती माल के बहिष्कार और स्वदेशीव्रत की पुकार मचाई।

अब राममोहन राय के राजनैतिक विचारों को देखें। पहले के मुसल्मान जमींदारों के शासन में हिन्दुओं को जितने बड़े-बड़े पद व अधिकार मिलते

थे, उतने अँगरेजी राज में नहीं मिलते। इससे उन्हें दुःख होता था; परन्तु मुसल्मानों के शासन की अपेक्षा इसमें नागरिक स्वातंत्र्य और धर्म-स्वातन्त्र्य मिलता है और जान-माल अधिक सुरक्षित व स्थायी रहता है। फिर इनके साहचर्य से हमारे देश में अनेक विद्या कला आदि का उदय हो रहा है, इसे वे अधिक महत्व देते थे। नागरिक स्वातंत्र्य व धर्म-स्वातन्त्र्य के रहने से हमारे देश में जो सर्वांगीण सुधार का ज्ञान-रवि उदय हो रहा है और उससे हमारा जो हित हो रहा है उसकी तुलना पहले के बड़े अधिकारों और जागीरों से नहीं हो सकती, ऐसा वे समझते थे। परन्तु जब लार्ड हेस्टिंग्ज़ के जमाने में नागरिक स्वातंत्र्य पर पदाघात हुआ और अखबारों की स्वतंत्रता छीन लेने का सिलसिला शुरू हुआ तब ब्रिटिश राज्य के प्रति उनकी श्रद्धा को धक्का लगा और ईस्ट इंडिया कम्पनी की सरकार के खिलाफ उन्होंने ब्रिटिश राजा तक दाद मांगी। भारत सरकार के अन्याय के विरुद्ध वैध प्रतिकार का यह पहला उदाहरण है। मगर उनके प्रतिकार का कुछ फल न निकला। मुद्रण-स्वातंत्र्य छीन लिया गया और अखबारों के लिए इजाजत लेने का कानून बन गया। और अखबारों पर सेंसर बैठ गया। इसके विरोध में उन्होंने अपना अखबार बन्द कर दिया।

१८३१ में वे विलायत गये। वहाँ ब्रिटिश मंत्रिमण्डल ने उनका खूब सम्मान किया। वहाँ कंपनी के बोर्ड आफ कंट्रोल को जो मत-पत्रिका उन्होंने भारतीय शासन के संबंध में पेश की उसमें उन्होंने ये सुझाव पेश किये | (१) पढ़े-लिखे हिन्दुस्तानियों को बड़ी-बड़ी नौकरियाँ दी जायँ और अपढ़ लोगों को सैनिक शिक्षा देकर फौजी स्वयंसेवक दल तैयार किये जायँ। (२) न्याय और शासन-विभाग अलग-अलग रक्खे जायँ और न्याय-विभाग में हिन्दुस्तानियों की भर्ती अधिक की जाय। (३) सदर दीवानी अदालत को 'हेबस कार्प्स रिट' देने का अधिकार देकर नागरिक स्वातंत्र्य सुरक्षित किया जाय (४) न्याय-विभाग में पंचायत पद्धति व जूरी पद्धति का प्रवेश किया जाय (५) जमींदार लगान कम करें। (६) सरकार जमींदारों से कम मालगुजारी ले और इसकी पूर्ति के लिए ऐश-आराम के माल पर कर बैठाया जाय। (७)

इंग्लैंड से नमूने के तौर पर कुछ जमींदार यहाँ लाये जायँ और उनके द्वारा यहाँ लोगों को कृषि-सुधार की शिक्षा दी जाय। (८) किसानों को मौरूसी हक दिया जाय (९) भारत-सरकार का विलायत में होने वाला खर्च कम किया जाय और (१०) भारत-सरकार को कुछ बातों में विलायत-सरकार के नियंत्रण से मुक्त रक्खा जाय। इसमें प्रातिनिधिक संस्थाएँ स्थापित करने की माँग नहीं की गई है, परन्तु इसके १५ वर्ष बाद महाराष्ट्र के लोकहितवादी ने पार्लियामेंट स्थापित करने की सूचना दी है। इस तरह 'स्वदेशी' की तरह 'स्वराज्य' की कल्पना का स्पष्ट उच्चार व प्रचार पहले-पहल महाराष्ट्रीय सुधारक ने किया।

अब यहाँ पर महाराष्ट्र के आदि सुधारकों से परिचय कर लेना ठीक होगा। महाराष्ट्र में सुधार-आन्दोलन का जन्म बंबई में १८४० के लगभग हुआ। पहले-पहल श्री बालशास्त्री जाँभेकर ने १८३२ में 'दर्पण' नामक साप्ताहिक और 'दिग्दर्शन' नामक मासिक शुरू किया। इन्होंने विधवा-विवाह का तथा पतित-परावर्तन अर्थात् दलितोद्धार तथा शुद्धि का श्री-गणेश किया। इनके सहायक थे मराठी के सुप्रसिद्ध व्याकरणकार श्री दादोबा पांडुरंग तर्खड और बम्बई के नगर सेठ श्री जगन्नाथ नाना शंकर सेठ। श्री दादोबा पांडुरंग ने १८४० में बम्बई में एक 'परमहंस मंडली' नामक गुप्त संस्था जाति-भेद को तोड़ने के लिए स्थापित की। इसी संस्था की राख में से १८६७ में बम्बई में प्रार्थना-समाज की स्थापना हुई। स्व० रानडे व भाण्डारकर-जैसे विद्वान और सुशील लोगों का हाथ उसमें होने के कारण कुछ समय तक उसका खूब बोल-बाला रहा। फिर भी बंगाल की तरह महाराष्ट्र में प्रार्थना समाज को अधिक महत्व नहीं मिला। महाराष्ट्र में चिपलूणकर, आगरकर और तिलक इन तीन महान् विभूतियों ने राष्ट्रवाद और बुद्धिवाद की स्थापना की। १८८० में तिलक-आगरकर ने आजन्म देश-सेवा की दीक्षा लेनेवाले लोगों का एक दल खड़ा करने की जो अपूर्व प्रथा डाली, उससे प्रार्थना-समाज की सुधारक-मंडली का तेज फीका पड़ गया और महाराष्ट्रीय युवकों के हृदय में तिलक-आगरकर ने घर कर लिया। फिर भी महाराष्ट्र में सर्वांगीण सुधार का सर्व-व्यापक और सर्वस्पर्शी विचार लोगों के सामने रखने और राजनैतिक

तथा आर्थिक अवनति से अपना सिर ऊँचा उठाने का नवीन मार्ग सरदार गोपालहरि देशमुख उर्फ 'लोकहितवादी' ने दिखाया। पहली पीढ़ी में यदि यह सम्मान 'लोकहितवादी' को मिला, तो दूसरी पीढ़ी में इस गौरव की माला स्व० रानडे के गले में डालनी पड़ेगी। १८३४ में लोकहितवादी ने सुझाया था—'हम सब ग़रीब-अमीरों को मिलकर रानी के पास एक अर्जी भेजनी चाहिए कि वर्तमान शासन-पद्धति से हमें लाभ नहीं है और हमारे राज्य-संबंधी हक मारे जाते हैं। अँगरेज भी वैसे ही मनुष्य हैं जैसे कि हिन्दू। इनका वर्तमान भेद मिटाकर इन्हें एक समान बनाने के लिए हिन्दुस्तान में पार्लमेंट स्थापित की जाय और उसकी बैठक बम्बई में हो। उसमें सब जातियों और स्थानों के समान प्रतिनिधि हों। तभी लोगों की दरिद्रता दूर होगी और अँगरेजों का यह भ्रम भी दूर होगा कि भारतवासी मूर्ख हैं। इससे राज्य में उत्तम सुधार होंगे और लोगों को यह सहज दिखाई पड़ेगा कि राजा के शासन में क्या सुख था और लोकसत्ताक राज्य में क्या सुख है।" इस अवतरण से लोकहितवादी की बुद्धिमत्ता, प्रतिभा और देश-सुधार के उपाय का अचूक निदान ये गुण स्पष्ट दिखाई देते हैं।

परन्तु राजनैतिक अधिकारों की प्राप्ति के लिए केवल बौद्धिक साहस अथवा प्रतिभा-सम्पन्न कवि-कल्पना काफी नहीं होती। उसके लिए असाधारण स्वार्थ-त्याग, दीर्घकालीन उद्योग और निश्चय, संगठित लोकमत की शक्ति और उस शक्ति को जाग्रत करने के लिए आवश्यक राजनीतिज्ञता और दुर्बल, भीरु, स्वार्थी लोक-समाज में स्वार्थ-त्याग, धैर्य, आत्म-विश्वास और प्रभावकारक सामर्थ्य निर्माण करने के लिए आवश्यक साहस, दृढ़-निश्चय और स्वार्थ-त्याग इन गुणों से मण्डित चारित्र्य नेता के पास होना चाहिए। ऐसे नेता महाराष्ट्र को १८८० के लगभग चिपलूणकर, आगरकर और तिलक के रूप में मिले।

लोकहितवादी के समय में ही विष्णुबुवा ब्रह्मचारी ने 'सुखदायक राज-प्रकरणों' नामक निबन्ध में समाजवाद का प्रतिपादन किया है—यह देखकर सबको आश्चर्य होगा। वे कट्टर ब्राह्मण थे और हमारी प्राचीन संस्कृति में से ही हमें अपने भावी अभ्युदय का मार्ग मिलेगा—ऐसा उनका खयाल था। वे कहते हैं—

"सब लोग मिलकर सारी जमीन जोतें और बोवें और हर गाँव में अनाज के कोठार रक्खे जायँ और उनमें से ग्रामवासी पेटभर अन्न और पशुओं के लिए आवश्यक घास-दाना ले लिया करें। यह सब पैदावार एक के ही कब्जे में रहे और सब उससे आवश्यक सामग्री ले जायँ। राजा को चाहिए कि वह सूत, ऊन-रेशम के कपड़े तैयार करावे और जिसको जिस कपड़े की जरूरत हो वह ले जाय। गहने भी गढ़वा के हर गाँव में रक्खे जायँ और सब स्त्री-पुरुष उनका इस्तेमाल करें। हर प्रकार के शस्त्र, यन्त्र और खेल प्रत्येक गाँव में रहें। रेल और तार भी रहें। राजा, कारखाने के मालिक और किसान सब एक-सा अहिंसक भोजन करें और वह सबको एक ही कोठार से मिले। सबकी शादियाँ राजा विवाह-विभाग के द्वारा वर-वधू की इच्छा और रजामन्दी से करे और जिसको कोई स्त्री पसंद न हो या जिसे कोई पति पसंद न हो तो उसे दूसरी स्त्री या पति का प्रबन्ध कर दिया जाय अर्थात् स्वयंवर की प्रथा डाली जाय। ५ वर्ष का बालक होते ही उसे राजा के ताबे कर दिया जाय। उसकी शिक्षा-दीक्षा और काम-धन्धे का प्रबन्ध राजा करे। वृद्ध स्त्री-पुरुषों को पेंशन मिले और इन भिन्न-भिन्न विभागों के लोग पार्लमेंट के सभासद हों।"*

कार्लमार्क्स से अपरिचित विष्णुबुवा को ये कम्युनिज्म के ढंग के विचार सूझे कैसे? इसका जवाब यह है कि एक ही बाह्य परिस्थिति को देखकर सात्विक व राजस अथवा परार्थी व स्वार्थी मन पर भिन्न-भिन्न परिणाम होते हैं। इन्द्रियों के द्वारा मन पर और बुद्धि पर होनेवाले संस्कार एक से होते हैं परन्तु जिसकी बुद्धि स्वार्थ से मलिन हो गई है उसे उनमें से स्वार्थ का मार्ग सूझता है और जिसकी बुद्धि परार्थी बनी हुई है उसको उस स्थिति में परार्थ का मार्ग दिखाई दे जाता है। ऐसी दशा में सन्यस्त-वृत्ति और लोक-कल्याण में ही आनन्द माननेवाले सात्विक शुद्ध मन में पूर्वोक्त सर्व-सुख और समान-सुख की कल्पना क्यों न आनी चाहिए?

लोकहितवादी की धर्म-सुधार-सम्बन्धी सूचनाएँ इस प्रकार हैं—

* 'आजकालचा महाराष्ट्र' पृ० ११२–११३

(१) सब लोग ईश्वर का भजन सच्चे मन से करें।

(२) अपने जैसा ही दूसरे को समझें।

(३) उपनयन, विवाह और अन्त्येष्टि क्रिया—इन तीन संस्कारों के अलावा सब संस्कार रद किये जायँ—जो कर्म कराये जायँ वे स्वभाषा में हों।

(४) अपने विचार के अनुसार लिखने बोलने और चलने की आजादी रहनी चाहिए।

(५) धार्मिक तथा लोक-व्यवहार में स्त्री-पुरुषों के अधिकार समान हों। इसमें विधवा-विवाह आ गया।

(६) लोकाचार की अपेक्षा नीति को प्रधानता दी जाय।

(७) बेमतलब की कोई बात न बोलनी चाहिए।

(८) किसी मनुष्य को तुच्छ न समझना चाहिए। जाति-अभिमान न रखना चाहिए। सबके साथ दया का व्यवहार किया जाय और सबका कल्याण करना चाहिए।

(९) स्वदेश के प्रति प्रीति और उसका कल्याण विशेष रूप से किया जाय।

(१०) जिसको जो धन्धा पसंद हो वह करे।

(११) जाति-भेद का आधार गुण व कर्म हो, कुल न हो।

(१२) सरकार से प्रजा के अधिकार अधिक हों अर्थात् जनता के लिए जो कानून हितकारी हों वे सरकार से लड़कर बनवाने चाहिएँ।

(१३) जो नियम राजा ने बनाये हों और जो ईश्वरी बुद्धि-सूचित हों उन्हें मानना चाहिए।

(१४) सब विद्या-वृद्धि के लिए परिश्रम करें। दुःखी को सुख, बीमार को दवा, मूर्ख को ज्ञान व कंगाल को धन यथा-शक्ति देना चाहिए।

(१५) सब सत्य पर चलें—सत्य के विरुद्ध कुछ न करें।

इन पन्द्रह नियमों में स्वदेशभक्ति, लोक-सत्ता, विद्या-वृद्धि इत्यादि सब बातें आ जाती हैं। इनके समकालीन एक दूसरे सुधारक जोतिराव फुले थे। उन्होंने महाराष्ट्र में अब्राह्मण-आन्दोलन को जन्म दिया। उनके स्थापित सत्यशोधक समाज के द्वारा सामाजिक आन्दोलन को सामाजिक वर्ग-विग्रह का रूप प्राप्त हुआ। ब्राह्मण जाति के प्राधान्य के खिलाफ यह

हलचल अब्राह्मणों में स्वाभिमान पैदा करने की दृष्टि से आवश्यक भी थी। इसने ब्राह्मण-जाति के दुराराध्य व दुराग्रही लोगों को सामाजिक समता के तत्व पर विचार करने के लिए बाध्य करने का काम किया भी। लेकिन इस आन्दोलन के उत्पादकों और प्रचारकों में ब्रिटिश राजनीति को पहचानने की योग्यता न थी—इससे कुछ समय तक यह नौकरशाही के हाथ की कठपुतली बनती रही और मांटेगू-सुधार के बाद इसने अराष्ट्रीय राजनीति का विघातक रूप धारण किया। महाराष्ट्र में अस्पृश्यता-निवारण के आन्दोलन का प्रथम श्रेय श्री ज्योतिराव फुले को ही प्राप्त है।

१८६७ में बंबई में प्रार्थना-समाज की स्थापना हुई। उसके आचार्य थे स्व० डा० भाण्डारकर और रानडे। इनमें रानडे ही वास्तविक सर्वांगीण सुधारक थे। वे प्रार्थना-समाज को हिन्दू-धर्म का ही एक सुधारक पंथ मानते थे। दोनों हिन्दू-धर्म के बड़े अभिमानी थे। 'ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति' इस तत्व का उन्हें विशेष अभिमान था। प्रार्थना भौतिक फल की प्राप्ति के लिए नहीं, बल्कि आत्मिक उन्नति के ही लिए करनी चाहिए—ऐसा उनका मत था। प्रार्थना-समाज ने भौतिक व्यवहारों में अवैज्ञानिक चमत्कारों को हटाया है। अवतारों को वे सर्वांश में देवता नहीं, बल्कि परम आदरणीय व पूज्य विभूति मानते थे। मूर्ति-पूजा के वे खिलाफ थे। उनके मान्य सामाजिक सुधारों का समावेश 'लोकहितवादी' के १५ नियमों में हो जाता है।

१८७० के बाद महाराष्ट्र के इतिहास को एक नई दिशा मिली और उसका प्रभाव सारे भारतवर्ष पर पड़ा। १८७१ में सार्वजनिक सभा स्थापित हुई। १८७४ में चिपळूणकर की निबंधमाला शुरू हुई। १८८० में न्यू इंग्लिश स्कूल, केसरी व मराठा का जन्म हुआ। १८८५ में राष्ट्रीय महासभा—कांग्रेस की स्थापना हुई। १८८८ में 'सुधारक' निकला। १८९५ में लोकमान्य तिलक ने सार्वजनिक सभा हस्तगत की, आगरकर का शरीरान्त हुआ और पूना के उद्धारक बनाम सुधारकवाद को गरम-नरम राजनैतिक वाद का रूप मिलने लगा। इस वर्ष महाराष्ट्र में जो दो राजनैतिक दल बने उन्होंने सारे भारत खण्ड में प्रचण्ड आन्दोलन खड़े किये और १९२० तक के उसके इतिहास पर अपनी छाप डाली है।

१८८५ में कांग्रेस की स्थापना होने के पहले ही दादाभाई और रानडे ने भारतीय राजनीति और अर्थनीति की नींव डाल दी थी। इन दोनों विभूतियों के विचारों में आगे की नरम-गरम राजनीति के बीज दिखाई देते हैं जिनका अवलोकन हम अगले प्रकरण में करेंगे।

: ४ :

भारतीय राजनीति और अर्थनीति का पाया

"I entreat mots earnestly that the first element viz. the material condition of India—may be most carefully lifted; and the necessary remedies be applied. If this question be not boldly and fairly grappled with, it will be, in my humble opinion, the principal rock on which the British rule will wreck. It is impossible for any nation to go on being impoverished without its ultimate destruction or the removal of the cause." —Dada Bhai, in 1871.

"Be united, persevere and achieve self-government so that the millions that are perishing by poverty, famine and plague and the scores of millions that are starving on scanty subsistance may be saved and India may once more occupy her proud position of yore among the greatest and civilized nations of the world."

"Self-government is the only and chief remedy. In self-government lies our hope, strength and greatness."

—Dada Bhai in 1906.

उन्नीसवीं सदी के मध्य में अर्वाचीन राजनीति की बुनियाद डाली गयी। १८३३ में जब ईस्ट इण्डिया कम्पनी को नई सनद दी गयी तब उस समय के कानून में एक इस आशय की धारा भी डाली गयी कि किसी भी भारतीय को धर्म, देश, वंश या वर्ण के कारण कम्पनी की नौकरी,

अधिकार अथवा पद के लिए अयोग्य न समझा जायगा। इसका जो कुछ भाष्य तत्कालीन ब्रिटिश राजनीतिज्ञ लार्ड मेकाले ने किया उससे यह नतीजा निकलता है कि उन्हें स्वार्थ, कीर्ति और राजनीति इन सब दृष्टियों से लोगों को धीरे-धीरे सुधार कर उच्च अधिकार देना और उनकी सुस्थिति में अपना स्वार्थ देखना अभीष्ट था। राज्य की अपेक्षा व्यापार की ओर उनका ध्यान अधिक था। सच पूछिए तो व्यापारी संस्कृति का यह एक उच्चतम स्वरूप है। उसमें दूरदर्शी स्वार्थ का ही अर्थ 'परार्थ' किया जाता है। इस संस्कृति का हीन स्वरूप है परार्थ का ढोंग करके दूसरे को ठगना। अँग्रेज शासक की अपेक्षा व्यापारी अधिक हैं और साम्राज्य-लोभ से व्यापार-लोभ उनके रोम-रोम में अधिक समाया हुआ है। उनके देश जीतने का हेतु व्यापारी, उनकी लूट व्यापारी, उनकी नीतिमत्ता व्यापारी और धर्म भी व्यापारी! लक्ष्मी उनकी आराध्य देवी और स्वार्थ-पोषक परार्थ उनका परमार्थ और वही उनका मोक्ष!! अमेरिका के स्वतन्त्र हो जाने पर भी उसके द्वारा उलटा इँग्लैंड का व्यापारिक लाभ बढ़ गया। इस अनुभव से ब्रिटिश लिबरल दल में यह भाव बढ़ रहा था कि साम्राज्यान्तर्गत देश यदि सुसंस्कृत और सम्पन्न होकर फिर स्वतंत्र हुए तो उससे हमें आर्थिक हानि नहीं हो सकती। नेपोलियन के पराभव (१८१५) के बाद ब्रिटिश व्यापारी-वर्ग को यह डर नहीं मालूम होता था कि अपने साम्राज्य के देश दूसरे योरपीय साम्राज्य के शासन में चले जायँगे। उसी प्रकार उन्हें इस समय यह अनुभव हो रहा था कि औद्योगिक क्रान्ति के फल-स्वरूप धनोत्पादन के जो प्रचण्ड साधन हमें उपलब्ध हुए हैं उनके कारण खुले व्यापार में हमारा कोई मुकाबला नहीं कर सकता। अर्थात् इस समय उनका साम्राज्य-लोभ, जो वास्तव में व्यापार-लोभ से ही पैदा हुआ था, कुछ कम हो गया था। जगत् के सुधार में हमारा लाभ है, क्योंकि जंगली लोग हमारे माल की खरीद नहीं कर सकते, यह वेदान्त उस समय लिबरल पक्ष के मुत्सद्दी दुनिया को सिखा रहे थे।

इस समय हिन्दुस्तान में जो गोरे अधिकारी, व्यापारी व धर्म-प्रचारक आये थे वे इस वेदान्त का प्रचार लोगों में करते हुए कहते थे कि तुम्हारे शिक्षित-सफल और स्वतन्त्र होने में ही हमारा हित है और यही हमारा

ध्येय है। इस तरह वे यहाँ के शिक्षित लोगों के दिलों में ब्रिटिश राज्य के प्रति निष्ठा उत्पन्न करते थे और संसार की संस्कृति में दो-ढाई शतक पिछड़ गये हमारे लोग इस वेदान्त को सुनकर उन्हें देवता मानने लगे। पुराण-परम्परावाले तो यह कहकर रोते थे कि सत युग में देवता पृथ्वी पर निवास करते थे, अब वे स्वर्ग में रहने चले गये, तो इधर नव-शिक्षित यह प्रतिपादन कर रहे थे कि हमें स्वतंत्र, सुखी व सम्पन्न बनाने के लिए अँग्रेजों को ईश्वर ने देवदूत के रूप में यहाँ भेजा है। भारतवासियों की बुद्धि एक गुलामी से निकलकर दूसरी गुलामी में प्रवेश कर रही थी और उसी को स्वतंत्रता कहती थी। ऐसी अवस्था में भारतीय मानस के लिए ब्रिटिश राजनीतिज्ञता का यह कृष्ण अन्तरंग अथवा ब्रिटिश साम्राज्य का कृष्ण-पक्ष समझ लेना बहुत कठिन था। यह कठिन कार्य जिस एक महात्मा ने किया है, उसे हमने 'आधुनिक भारत के पितामह' की महान् पदवी दी है। इस प्रकरण में हमें इसी बात का विचार करना है कि राष्ट्र-पितामह दादाभाई नौरोजी और स्व० रानडे इन दो अर्थशासन-विशारद् राजनीतिज्ञों ने भारतीय राजनीति और अर्थनीति की नींव कब और किस प्रकार डाली?

१८३२ में इंग्लैंड में पार्लमेंट में सुधार हुआ, जिसके फलस्वरूप व्यापारी कारखानेदारों का प्रभुत्व पार्लमेंट पर अधिक हो गया। इस समय इंग्लैंड में इस वर्ग के हित के अनुकूल एक नवीन सामाजिक दर्शन बना। इस दर्शन का दारोमदार व्यक्ति-स्वातंत्र्य पर था। व्यक्ति-स्वार्थ और राष्ट्र-हित, राष्ट्रस्वार्थ और जगत्कल्याण इसमें सचमुच द्वैत नहीं है—यह इस तत्वज्ञान का मूलमंत्र था। इस दर्शन से दो निष्कर्ष निकाले जा सकते हैं। एक तो यह कि परार्थ में स्वार्थ अपने आप सध जाता है। दूसरा यह कि स्वार्थ साधने में परार्थ अपने आप हो जाता है। जब पहली बात कहते हैं, तब उसमें स्वार्थ का अर्थ बहुत व्यापक और आध्यात्मिक दृष्टि से करना पड़ता है। स्वार्थ-भाव से परार्थ करने के सिद्धान्त पर जो लोग थोड़ा-बहुत भी चलते हैं, उनसे दुनिया का अधिक नुकसान नहीं होता। 'नीति के तौर पर सचाई' से चलनेवालों से लोगों का नुकसान प्रायः नहीं होता। परन्तु जब 'नीति' और 'सचाई' में

अन्तर पड़ता है तब ऐसे लोगों के लिए सचाई को ताक पर रख कर नीति को पकड़ रखने का अन्देशा रहता है; परन्तु दूसरा अर्थ यानी स्वार्थ साधने में ही परार्थ है इस सिद्धान्त को मानकर चलनेवालों से दुनिया का बड़ा नुकसान होता है। १८ वीं सदी के मध्य में अंग्रेज सामाजिक तत्ववेत्ता अपने वेदान्त का प्रतिपादन पहले अर्थ में करते थे तो उनके राजनीतिज्ञ उसका आचरण दूसरे अर्थ में करते थे। हमारे शिक्षित लोगों पर ब्रिटिश तत्वज्ञों ने मोहिनी डाल रक्खी थी और ब्रिटिश राजकाजी और व्यापारी हमारी जनता को लूट रहे थे। यह 'लूट' लोक-सेवा और लोकहित का जामा पहने हुए थी। व्यापारी अथवा आर्थिक साम्राज्य-शाही का ऐसा ही मायावी मोहक रूप होता है। उस माया के उस पार निगाह पहुँचा कर उसके रक्तशोषक आसुरी रूप को देखकर उसे लोगों और शासक वर्ग के सामने रखना, नित्य के अनेक व्यवहारों में व्यस्त जनता के चित्त को पुनः पुनः उसी सत्य की ओर खींचते रहना, जन्म भर इसी एक सिद्धान्त का और उसके भीषण परिणामों का चिन्तन करना यही एक मार्ग उस वास्तविक ज्ञान को पाने का अथवा नये यंत्र के दर्शन का उस समय था। राष्ट्र-पितामह दादाभाई ने अपने सारे जीवन में यही एक कार्य किया और वे अपने जीवन के अन्तिम दिनों में भारतीय जनता को और कांग्रेस को स्वराज्य का मन्त्र देकर ८० वर्ष की अवस्था में राष्ट्रसेवा से निवृत्त हुए। पारतंत्र्य के मोहान्धकार में पड़े हुए और उसी में आनंद माननेवाले अपने अज्ञानी देश-बान्धवों के अन्तः-करण का ज्ञान-प्रदीप उन्होंने प्रज्वलित किया और इस ब्रिटिश मायावी साम्राज्य में अपने करोड़ों देशबन्धु दरिद्रता और फाकेकशी में मर रहे हैं और इस मोहान्धकार की कालरात्रि में हम इसी तरह खुर्राटे भरते रहेंगे तो आखीर में हम सब का विनाश निश्चित है, इसका ज्ञान भारत-वासियों को सबसे पहले उन्होंने कराया। इतना ही नहीं, उन्होंने लोगों को यह भी बताया कि इस भावी आपत्ति को टालने के लिए हमें किन किन दिशाओं में उद्योग भी करना चाहिए। उन्होंने उन मार्गों पर चलनेवालों का नेतृत्व किया और अन्त में भावी पीढ़ी को अपने कर्त्तव्य का दिग्‌दर्शन कराके वे मातृभूमि के ऋण से मुक्त हुए।

१८५२ में दादाभाई ने बम्बई में 'बांबे असोसियेशन' की स्थापना की; उधर १८५१ में बंगाल में श्री प्रसन्नकुमार टागोर, डा० राजेन्द्र लाल मित्र आदि ब्रिटिश इंडिया असोसियेशन नामक राजनैतिक संस्था स्थापित कर रहे थे। ऐसी ही एक संस्था—मद्रास नेटिव असोसियेशन मद्रास में उदय हुई थी। पूना में एक डेक्कन असोसियेशन बना। इस तरह १८५१-५२ में तीन बड़े इलाकों की राजधानियों में लोकसत्तात्मक राजनीति का जन्म हुआ। १८५३ में ईस्ट इंडिया कम्पनी को जो नयी सनद देने का कानून बना उसी के द्वारा हिन्दुस्तान में सबसे पहले धारा सभा की स्थापना हुई, जिसमें कुल १२ सरकारी अधिकारी सभासद थे। गैर-सरकारी या प्रतिनिधि जैसे कोई न थे। मगर फिर भी इस सिलसिले में पार्लमेंट में भाषण देते हुई लार्ड डर्बी ने कहा था कि मनुष्यता, उपकारिता, नीतिमत्ता और धर्म—सभी दृष्टियों से हमारा यह कर्तव्य है कि भारतीयों को आन्तरिक शासन की देखरेख में अधिकाधिक अधिकार दिया जाय। पार्लमेंट में यह नीति और धर्म की भाषा पहली बार सुनी गयी।

परन्तु अनुभव दूसरा ही हो रहा था। १८३३ के कानून में यह आश्वासन दिया गया था कि बिना जात-पाँत, देश, धर्म के भेदभाव के हिन्दुस्तानियों को उच्च अधिकार दिये जायंगे परन्तु १८५३ तक, बीस साल में, इस कानून का फायदा एक भी हिन्दुस्तानी को न मिला। १८५१-५२ से १९०६ तक—५५ साल तक—भारतीय राजनीति में काम करने के बाद दादाभाई ने कहा था—"शुरू से लेकर अब तक मुझे इतनी बार निराश होना पड़ा है कि दूसरा कोई होता तो उसका दिल टूक टूक हो गया होता और मुझे भय है कि वह बागी बन गया होता।" फिर भी उन्हें ब्रिटिश न्याय पर विश्वास रहा था और साम्राज्यान्तर्गत स्वराज्य प्राप्त करना उनका ध्येय था। १९०६ में यही ध्येय उन्होंने कांग्रेस के सामने स्पष्ट शब्दों में रक्खा था और इसके लिए अखंड आन्दोलन करने और करते रहने का संदेश उन्होंने दिया था। हमें जो अपने राजनैतिक उद्देश में सफलता नहीं मिली उसका कारण वे यही बताते थे कि हम आन्दोलन नहीं करते। वंग-भंग आन्दोलन को देखकर उन्हें सन्तोष

हुआ और बंगालियों की वे स्तुति करते थे। भावी पीढ़ी को उन्होंने सन्देश दिया था—"एक होओ। दृढ़ उद्योग से काम लो और स्वराज्य प्राप्त करो।"

आर्थिक साम्राज्यशाही क्या है और विजित राष्ट्र का रक्तशोषण किस प्रकार होता है इसकी ठीक कल्पना दादाभाई के लेख और भाषण पढ़ने से होती है। कार्लमार्क्स ने पूँजीवाद की मीमांसा अथवा विश्लेषण किया और बताया कि उसकी रचना में ही किस तरह उसके विनाश के बीज हैं। उसी तरह पूँजीवाद से पैदा होनेवाली आर्थिक साम्राज्यशाही कितनी भयानक है और उसके रक्त-शोषण में ही उसके विनाश के बीज किस तरह छिपे हुए हैं यह दादाभाई ने संसार के सामने रक्खा। कार्ल मार्क्स का जन्म एक स्वतंत्र पूँजीवादी राष्ट्र में हुआ था और इसलिए उसने एकही राष्ट्र का एक वर्ग जन-साधारण का रक्त-शोषण किस तरह करता है इसका वैज्ञानिक अध्ययन किया। दादाभाई का जन्म साम्राज्यवाद के जबड़े में फँसे परतंत्र राष्ट्र में हुआ था इसलिए उन्होंने इस बात की वैज्ञानिक खोज की कि एक राष्ट्र दूसरे राष्ट्र का रक्त-शोषण कैसे करता है और अपने लोगों को तथा ब्रिटिश शासकों को दिखाया कि इसी रक्त-शोषण में साम्राज्यवाद के विनाश के बीज हैं। मार्क्स ने बताया कि एक वर्ग द्वारा दूसरे वर्ग के शोषण को रोकने का उपाय है—समाजवाद। दादाभाई ने बताया कि एक राष्ट्र के द्वारा दूसरे राष्ट्र के शोषण को मिटाने का उपाय है—स्वराज्य। मार्क्स का जन्म जिस देश में हुआ था वह औद्योगिक प्रगति और राजनैतिक स्वातंत्र्य की दृष्टि से आगे बढ़ा हुआ था और दादाभाई जहाँ जन्मे वह देश दोनों दृष्टियों से पिछड़ा हुआ था। इस कारण दादाभाई ने जिन प्रश्नों को हाथ में लिया उससे आगे की अवस्था में पैदा होने वाले प्रश्न मार्क्स के विचार में आये—यह उसकी परिस्थिति का परिणाम है। अस्तु।

१८५१ से ७१ तक, बीस वर्ष में, दादाभाई ने इस बात का ठीक अन्दाज कर लिया कि हिन्दुस्तान के धन का शोषण किस किस तरह हो रहा है और उससे भारतीय जनता किस तरह दरिद्र होती जा रही है एवं उन्होंने अपना यह निश्चित मत बना लिया कि जब तक यह द्रव्य-शोषण

बन्द न होगा तब तक उसका उद्धार किसी तरह नहीं हो सकता। उन्होंने यह सप्रमाण सिद्ध किया था कि प्रत्येक हिन्दुस्तानी की वार्षिक आमदनी २०) है और यह आमदनी उससे भी कम है जो सरकार एक कैदी के लिए खर्च करती है। उनकी राय में इस द्रव्य-हरण के दो रूप हैं—एक राजनैतिक, दूसरा व्यापारिक अथवा औद्योगिक। योरपियन अधिकारी जो रुपया विलायत भेजते हैं, भिन्न-भिन्न जरूरतों के लिए यहाँ तथा विलायत में जो खर्च किया जाता है; इंग्लैंड में नियुक्त अधिकारियों को जो वेतन और पेंशन आदि दी जाती है और भारत सरकार विलायत में जो खर्च करती है यह एक स्वरूप हुआ। और दूसरा स्वरूप है गैर-सरकार योरपियन जो यहाँ से धन कमाकर विलायत भेजते हैं वह। यहाँ से विलायत गया रुपया वे फिर पूँजी के रूप में वापिस लाते हैं और उन्हें मानों यहाँ के व्यापार व उद्योग का ठेका ही मिल जाता है। हिन्दुस्तान में पूँजी जमा नहीं होती है उसका मूल कारण दादाभाई की दृष्टि में यह विलायत की ओर बहनेवाली सम्पत्ति की नदी ही है। वे यह नहीं कहते थे कि ब्रिटिश पूँजीपति हिन्दुस्तान में पूँजी न लगावें, उनका इतना ही कहना था कि वे हिन्दुस्तान की लूट बन्द कर दें, उसे दुःखी व असहाय न बनावें और उन्हें लूट कर एकत्र किये धन को अपनी पूँजी न बतावें। १८८० में केपिन कमीशन के सामने गवाही देते हुए उन्होंने कहा था—"दूसरे देशों में लगनेवाली और हिन्दुस्तान में लगनेवाली ब्रिटिश पूँजी में भेद है। और देशों में ब्रिटिश पूँजीपति सिर्फ व्याज ही लेते हैं, परन्तु यहाँ तो मुनाफा और डिविडेंड भी लेते हैं। इसलिए जब तक यहाँ हिन्दुस्तानी अपनी पूँजी से कारखाना न खोल सकें तब तक उन्हें सरकार चलावे और उनमें भारतीयों से काम लें, योरपियनों से नहीं। इसमें हिन्दुस्तान के शरीर में फिर से रक्त-संचार होने लगेगा। हिन्दुस्तान को ब्रिटिश पूँजी की जरूरत जरूर है; परन्तु सिर्फ पूँजी ही चाहिए। अपनी पूँजी को लेकर जो वे इस देश पर हमला करते हैं और पूँजी के द्वारा जो धन पैदा होता है उसे भी खा जाते हैं यह हमें मंजूर नहीं है।...यह कहना एक गप्प है कि हिन्दुस्तान में धन और जीवन चिरस्थायी है।

एक अर्थ में वे सुरक्षित तो हैं अर्थात् अनियंत्रित हिन्दुस्तानी राजाओं के अत्याचार से वे सुरक्षित हैं परन्तु इँग्लैंड जो हिन्दुस्तान से वित्त-हरण कर रहा है उससे धन और इसलिए जीवन बिलकुल सुरक्षित नहीं है। यहाँ यदि कोई सुरक्षित है तो इँग्लैंड। निश्चित और निःशंक है तो इँग्लैंड। तीन-चार करोड़ पौंड प्रति वर्ष वे हिन्दुस्तान का धन खाते या अपने देश में बहा ले जाते हैं। यहाँ तो ज्ञान और समझदारी भी सुरक्षित नहीं है। हिन्दुस्तान के लाखों लोगों का जीवन अधपेट रोटी, फाकेकशी, अकाल और बीमारी से मौत—यही है।"

"जो द्रव्याहरण इस सदी के प्रारंभ में हर साल ३० लाख पौंड होता था वह आज ३ करोड़ पौंड हो गया है। मुहम्मद गजनी ने १८ बार हिन्दुस्तान को लूटा। उसकी सारी लूट आपके १ साल की लूट से कम है। फिर उसने जो जख्म किया वह १८ हमले के बाद तो बन्द हो गया, परन्तु आपके किये जख्म से तो खून की धारा बन्द होने की गुंजायश ही नहीं। ...आपका यह वैभवशाली साम्राज्य हिन्दुस्तानियों के धन और खून पर खड़ा है। हिन्दुस्तान अब आपके द्रव्यहरण से बिलकुल थक चुका है फिर भी रक्त-स्राव बन्द नहीं होता। इससे वह मौत की तरफ चला जा रहा हो तो आश्चर्य नहीं।" *

अन्त को दुखी और निराश होकर उन्हें यहाँ तक कह देना पड़ा कि या तो इस रक्त-शोषण से हिन्दुस्तान बरबाद हो जायगा, या फिर वह जग उठा तो उस चूसनेवाली शक्ति को ही ले बैठेगा।

इस तरह हिन्दुस्तान के सामने सबसे महत्त्व का प्रश्न जनता की दरिद्रता और भुखमरी का था और उसका एक ही उपाय था स्वराज्य। इसका उच्चार और प्रचार सबसे पहले दादाभाई ने ही किया। इसी प्रकार ब्रिटिश साम्राज्य की उत्पत्ति, स्थिति और विनाश—यह सब भारतीय जनता के रक्त-शोषण और उसके भयंकर दारिद्रय में है उसका भी वैज्ञानिक प्रतिपादन पहले उन्होंने किया। इस सबका यह स्वाभाविक परिणाम होना था कि सब कार्यकर्ताओं की सारी शक्ति राजनीति में ही लगे। उन्हीं के

* Dada Bhai's speeches and writings p. 203—4 and 236—38.

इन विचारों के कारण हिन्दुस्तान में उग्र राजनीति की बुनियाद पड़ी। १८८० के बाद पूना में चिपलूणकर, आगरकर और तिलक ने जो उग्र विचारों का नया राष्ट्रीय पक्ष खड़ा किया उसके आधारभूत राजनीति और अर्थनीति के सिद्धान्त दादाभाई के पूर्वोक्त विचारों में मिलते हैं। फर्क इतना ही है कि दादाभाई का विश्वास ब्रिटिश न्याय पर कायम रहा और अगली पीढ़ी का उड़ गया तथा वे अपने कर्त्तव्य पर विश्वास करने लगे।

१८८० से १८९५ तक का समय महाराष्ट्र में बड़े विचार-मंथन का समय था। इसी बीच वहाँ रानडे दल और तिलक दल बने और आगर-कर की सरस्वती इस त्रिवेणी संगम में कहीं गुप्त हो गयी।

दादाभाई और रानडे के विचारों में एक बड़ा भेद था। दादाभाई हिन्दुस्तान की आर्थिक लूट और उसके राजनैतिक कारण पर ही सारा भार देते थे और औद्योगिक सुधार को गौण मानते थे। हिन्दुस्तान के भीषण दारिद्रय से पैदा होनेवाली क्रान्ति की पूर्व सूचना देकर शासकों को तथा जनता को जाग्रत करने की उनकी सतत प्रवृत्ति भी रानडे की वृत्ति से भिन्न थी। रानडे की दृष्टि में दादाभाई 'गरम' थे। रानडे का मत था कि विदेशी पूँजी का भारतवर्ष में आना लाभदायी है। उनका कहना था कि यदि हमें औद्योगिक उन्नति करना है, और यदि उसके लिए आवश्यक पूँजी हमारे पास नहीं है और यदि वह हमें अंग्रेज देते हैं तो अच्छी ही बात है। दूसरे देश यदि इंग्लैंड से पूँजी लेकर मालामाल होते हैं तो हम क्यों न लें? दूसरे पक्ष का कहना था कि अँग्रेज यहाँ से धन लूट-लूट कर ले जाते हैं—इससे यहाँ पूँजी जमा नहीं होने पाती। फिर यहाँ खाली अंग्रेजी पूँजी ही नहीं आती, अँग्रेज पूँजीपति भी आते हैं और हमें निर्धन पाकर हमें औद्योगिक गुलाम बनाते हैं। इसके सिवा वे यह पूँजी भी तो हिन्दुस्तान से ही लूट ले जाते हैं। यह ब्रिटिश पूँजी क्या है? हमारे असहाय देश पर होनेवाली एक औद्योगिक चढ़ाई ही है। तिलक-आगरकर की पीढ़ी यह मानती थी कि हमारे और अंग्रेजों के स्वार्थ एक दूसरे से भिन्न और विरोधी हैं। इस बात की ओर से आँखें मूँद लें तो यहाँ राजनैतिक काम नहीं हो सकता। इसी तरह हमारी

अर्थ-नीति भी उनके और हमारे इस विरोध या द्वैत को बिना माने नहीं चल सकती।

लेकिन रानडे के कार्य का महत्त्व एक दूसरी दृष्टि से है और उसमें उनकी चतुरस्र राजनीतिज्ञता विशेष रूप से दिखाई पड़ती है। १८७१ से वे पूना आये। तबसे १८८० तक सरकारी पद पर रहकर उन्होंने सार्वजनिक सभा के कार्य को राजनैतिक आन्दोलन का रूप दिया। उससे महाराष्ट्र में एक नवीन चेतना आयी और वैध राजनीति की बुनियाद पड़ी। इसके विषय में लो० तिलक ने कहा था कि उस समय पूने की शिथिलता दूर करके उसमें नवजीवन लाने का, दिन-रात विचार करने और अनेक उपायों से उसे पुनः सजीव करने का विकट काम सबसे पहले रानडे ने ही किया। उनके कारण पूना बम्बई प्रान्त की "बौद्धिक और राजनैतिक राजधानी" बन गया था। १८८५ में जब कांग्रेस की स्थापना करना तय हुआ तब उसका पहला अधिवेशन पूना में करना निश्चित हुआ। उस समय पूना को जो महत्त्व मिला उसका श्रेय रानडे को ही है। फिर १८९५ में पूना में गरम राजनैतिक दल बना। तब से पूना को राजनीति में जो अखिल भारतीय महत्त्व प्राप्त हुआ वह लो० तिलक के अवसान (१९२०) तक कायम रहा। नरम दल या प्रागतिक पक्ष रानडे को 'आधुनिक भारत का जनक' कहता है और राष्ट्रीय पक्ष अपने संप्रदाय का जन्मदाता लो० तिलक को मानता है।

रानडे के पूना के नेतृत्व के दो भाग हो जाते हैं—एक १८७१ से १८८० तक और दूसरा १८८० से १८९३ तक। पहले भाग में उनके दाहिने हाथ थे—स्व० गणेश वासुदेव जोशी उर्फ 'सार्वजनिक काका'। १८७० में इन्होंने सार्वजनिक सभा की स्थापना की और उसके मंत्री रहे। शीघ्र ही रानडे के प्रयत्न से इस संस्था को राष्ट्रीय राजनैतिक स्वरूप प्राप्त हुआ। 'सार्वजनिक काका' खुद अपने काते सूत की खादी पहनते थे। यह व्रत उन्होंने आमरण कायम रखा। औद्योगिक उन्नति के कार्यक्रम में वे रानडे के दाहिने हाथ थे। पश्चिमी ढंग की औद्योगिक क्रान्ति करने के उद्देश्य से संरक्षक-कर के सिद्धान्त का प्रतिपादन रानडे ने शुरू किया था, परन्तु जर्मन महायुद्ध जैसा

भीषण युद्ध भुगतने के बाद अंग्रेजों ने साम्राज्य के माल के लिए रिआयत करके बाहर के माल पर कर लगाने की थोड़ी सुविधा हिन्दुस्तान को दी। इसमें भी भारतीय कारखानों को संरक्षण मिलने की अपेक्षा सरकारी तिजोरी की कमी की पूर्ति करने की नीति प्रधान थी। इसलिए उसका यथेष्ट लाभ भारत को न मिला। इस कारण रानडे की अर्थनीति की अपेक्षा 'सार्वजनिक काका' के स्वार्थ-त्यागी उत्साह से जो स्वदेशी आन्दोलन पैदा हुआ उसी के द्वारा स्वदेशी कारखानों को वास्तविक प्रोत्साहन मिला और सच्चा देशप्रेम जाग्रत व संगठित हुआ।

रानडे ने जिस अर्थशास्त्र की बुनियाद डाली वह फ्रेड्रिक लिस्ट, कैरे प्रभृति जर्मन व अमेरिकन अर्थशास्त्रियों के विचारों के आधार पर डाली थी। ऐडमस्मिथ, रेकार्डो प्रभृति इंग्लिश अर्थशास्त्रज्ञों ने व्यक्तिवादी खुले मैदान का अर्थशास्त्र योरप में रूढ़ किया था। उसमें स्थूल रूप से यही प्रतिपादन किया जाता था कि जो व्यक्ति का हित है वही राष्ट्र का हित है और राष्ट्र का हित ही जगत् का हित है। ये अर्थशास्त्रज्ञ उपदेश करते—"वैयक्तिक स्पर्धा, वैयक्तिक स्वार्थ और अन्तर्राष्ट्रीय खुले व्यापार की बदौलत जो व्यक्ति, जो राष्ट्र और जो वर्ग आगे आवेंगे वही अपना और ससार का भौतिक हित साध सकेंगे और इस प्राकृतिक चुनाव का विरोध करके व्यक्ति-विशेष, वर्ग-विशेष और राष्ट्र-विशेष को कानून के कृत्रिम बन्धनों से बाँध कर और बाड़ लगाकर संरक्षण देना मानों नालायकों को सहायता देना है जिससे कि संसार का धनोत्पादन नालायक लोगों के हाथ में जाकर समष्टि रूप से जगत् का अहित ही होगा। इस तरह खुले मैदान के और अनियंत्रित व्यक्ति-स्पर्द्धा के तत्व का सर्वत्र प्रचार हो जाय तो उससे यह स्पष्ट ही है कि दुनिया के पिछड़े हुए राष्ट्र, दुर्बल व्यक्ति और निर्धन वर्ग का नाश होगा और उन्हें आगे बढ़े हुए राष्ट्र, प्रबल व्यक्ति, सधन वर्ग की आर्थिक और राजनैतिक गुलामी में पड़े रहना पड़ेगा।" परन्तु यह स्पष्ट सत्य नैपोलियन को पराजित करनेवाले और इस कारण 'निर्वीरमुर्वीतलम्' करने का अभिमान रखनेवाले ब्रिटिश पूँजीवाद को उन्नीसवीं सदी के अन्त तक पटा नहीं। स्वार्थ-अविरोधी बल्कि स्वार्थ-पोषक सिद्धान्त कायम करके उसका अभिमान-पूर्वक प्रचार करने में इस

युग में ब्रिटिश पूँजीवाद ने अपूर्व सफलता प्राप्त की है। परन्तु १९ वीं सदी के मध्य से जर्मनी और अमेरिका इन औद्योगिक प्रगति में पिछड़े हुए राष्ट्रों में राष्ट्रीय अथवा राष्ट्रवादी अर्थशास्त्र का उदय हुआ। उसने संरक्षक जकात के सिद्धान्त का प्रतिपादन जोरों से किया। इस अर्थशास्त्र का रहस्य स्वर्गीय रानडे ने बहुत खूबी से बतलाया है—"बुद्धि और साधन जहाँ समान हों वहाँ ऐसी स्वतंत्रता देने में हर्ज नहीं, परन्तु जहाँ ऐसी स्थिति नहीं है वहां ऐसी भाषा बोलना जले पर नमक छिड़कने जैसा है। मुट्ठी भर प्रबल और बहुसंख्यक गर्जमन्दों में उत्पत्ति का विभाजन करते समय भी इसी सिद्धान्त का अर्थात् न्याय और सम-बुद्धि का अवलंबन करना चाहिए और जीवन के तमाम व्यवहारों में पुराने अर्थशास्त्र के सिद्धान्तों को निर्दोष न मानकर उनपर पुनर्विचार करना आवश्यक है।" पूँजीपतियों के मुकाबले में सरकार को निर्धन मजदूरों का पक्ष लेकर उन्हें क्यों सहायता करनी चाहिए, यह इससे अच्छी तरह समझ में आ सकता है।

परन्तु अब तो इससे भी आगे जाने का समय आ गया है; क्योंकि आज अर्थशास्त्रीय जगत् में नियोजित आर्थिक संगठन, समाजवाद और स्वयंपूर्ण प्रदेश—इस प्रकार के नवीन विचार संचार कर रहे हैं और उन सबका मन्थन करके नवीन राष्ट्रीय अर्थशास्त्र का पाया डालने की जरूरत है। अब जब कि गांधीवाद और समाजवाद का उदय हो गया है और औद्योगिक क्रान्ति से उत्पन्न समान व न्यायोचित विभाजन के प्रश्न देश के सामने आ रहे हैं, रानडे का अर्थशास्त्र इनका हल ढूँढने में असमर्थ साबित होता है।

"हिन्दुस्तान पर अंग्रेजों का महज राजनैतिक प्रभुत्व ही नहीं है, बल्कि औद्योगिक प्रभुत्व भी स्थापित हो गया है और यह प्रच्छन्न औद्योगिक प्रभुत्व देश के लिए बहुत ही हानिकारक है। इसके कारण राष्ट्रीय जीवन की सब शक्तियाँ नष्ट हो जाती हैं और वह देश अपंग हो जाता है।" यह सिद्धान्त रानडे ने सबसे पहले लोगों के सामने रक्खा और यह आज भी सही ही है। फिर भी राष्ट्र-पितामह दादाभाई-द्वारा प्रतिपादित यह सत्य हमारे सामने सदैव बना रहना चाहिए कि एक देश

का दूसरे देश पर जो औद्योगिक प्रभुत्व हो जाता है उसका मूल कारण राजनैतिक प्रभुत्व है। इसका अर्थ यह है कि आज के व्यापारिक और औद्योगिक युग में राजनैतिक साम्राज्यशाही का परिणाम औद्योगिक प्रभुत्व में होता है और इसलिए यह साम्राज्यशाही पहले की सामन्तशाही से परिणाम में अधिक भयावह है। इस कारण जो देश पहले के अनेक सामन्तशाही साम्राज्य से बच रहा वही इस औद्योगिक साम्राज्य के ५०–७५ साल में ही मौत की तरफ जाने लगा। जो देश खेती और उद्योग-धन्धों दोनों में प्रसिद्ध था, वही महज कृषि-प्रधान रह गया और जिस देश का पक्का माल योरप में खपता था उसपर अपने कच्चे माल को परदेश से पक्का बनवा कर लाने की नौबत आ गयी। ब्रिटिश राजनीति का और राजनैतिक लूट का यह अपरिहार्य परिणाम था और इसलिए ऐसे देश में स्वभावतः ही राजनीति को प्रधानता मिलने लगी। १८८० में ही दादाभाई ने लिखा था—"लोग अब राजनीति में अधिकाधिक डूबने लगे हैं।"

हिन्दुस्तान में वैध राजनीति की बुनियाद डालने का श्रेय रानडे को है। देश में कानून की प्रस्थापना करना शासकों का धर्म है और उसका चुपचाप पालन करना प्रजाजनों का धर्म है, यह उनकी राजनीति का प्रमुख सूत्र है। ब्रिटिश शासक भारतीयों के साथ समानता का व्यवहार करें और भारतीय ब्रिटिश-साम्राज्य के प्रति वफादार रहें यह उनका मत था; क्योंकि वे मानते थे कि कानून और शान्ति का राज्य स्थापित करने के लिए ही ईश्वर ने अंग्रेजों को यहाँ भेजा है। मनुष्य-जाति के सब व्यवहारों में न्याय की स्थापना करना और वंश-भेद या श्रद्धाभेद (धर्म-भेद) न रखते हुए सबको समान दर्जा देना—इसे वे प्रागतिक तत्व (Spirit of Liberalism) कहते थे। अंग्रेज अधिकारियों ने १८३३ में ईस्ट इंडिया कंपनी को सनद देते हुए जो कानून बनाया उसमें इस तत्व को माना है। और बाद में १८५८ में रानी की घोषणा में भी इसका समर्थन किया गया है इसलिए रानडे इत्यादि इसे भारतीय प्रजा का 'मैग्नाचार्टा' मानते थे। इस सनद के अनुसार अंग्रेजों की तरह यहाँ भी प्रातिनिधिक शासन-प्रणाली जारी हो और ब्रिटिश छत्रच्छाया में हिन्दु-

-स्तान को मांडलिक (औपनिवेशिक) स्वराज्य मिले यह रानडे का अन्तिम राजनैतिक ध्येय था। मगर १८८० से ही पूना में चिपलूणकर, आगरकर, तिलक आदि का तरुण राष्ट्रीय पक्ष बन रहा था और उन्हें मांडलिक स्वराज्य का ध्येय उत्साह-वर्धक नहीं मालूम होता था। १८८२ में चिपलूणकर पर लिखे मृत्युलेख में आगरकर लिखते हैं—'कभी कभी उनका कल्पना-विहग जब आकाश में ऊँची उड़ानें मारने लगता तब उन्हें हिन्दुस्तान स्वतंत्र और प्रजासत्ताक शासन-प्रणाली में सुख से झूमता हुआ दिखाई देता।'

रानडे प्रागतिक तो थे ही पर वैध-मार्गी भी थे। उनके वैध मार्ग का अर्थ था—बहुत दूर के ध्येय की तरफ ध्यान न देते हुए एक दम आगे देखकर चलना और इसमें समझाने-बुझाने तथा देन-लेन की समझदारी से काम लेना। वे क्रान्तिकारक विचारों को नापसन्द करते थे और उन्हें बिल्कुल अवसर न दिया जाय ऐसी उनकी प्रवृत्ति थी। सामाजिक, धार्मिक, राजनैतिक किसी भी क्षेत्र में क्रान्ति का विचार उन्हें सहन न होता था। उनके पट्टशिष्य गोखले और गोखले के शिष्य माननीय शास्त्री ने भी अपने भाषणों में कानून के राज्य को धक्का न लगने पावे ऐसी ध्वनि प्रकाशित की है। और यही कारण है जो न्याय-प्रस्थापना अथवा सत्यनिष्ठा के लिए कानून भंग करने का सिद्धान्त रखने वाले महात्मा गांधी भारत-सेवक-समाज के सदस्य न बन सके।

मगर दादाभाई अथवा ह्यूम, इनका खयाल रानडे से भिन्न था। ये भी राज्य-क्रान्ति नहीं चाहते थे मगर उन्हें यह भय था कि ब्रिटिश राजनीति के कारण हिन्दुस्तान में जो भयंकर दरिद्रता फैल रही है उससे यहाँ राज्य-क्रान्ति अवश्य हो जायगी। इसे मद्देनजर रखकर ये लोग जो कुछ कहते थे और प्रचार करते थे वह शासकों को गरम और राजद्रोही मालूम होता था। उनके इसी रुख में से पहले महाराष्ट्र में और फिर सारे हिन्दुस्तान में गरम राजनीति का जन्म हुआ। इसके चिह्न दिखाई देते ही रानडे ने 'सार्वजनिक सभा' से भिन्न 'डेकन सभा' कायम की। कुछ समय तक कांग्रेस के सब सूत्र इन्हीं के पक्ष के हाथ में रहे। बाद में वह लोकमान्य के गरमदल के हाथ में चली गयी तब रानडे पक्ष ने 'प्रागतिक पक्ष' नामक संस्था खड़ी की।

एक ओर रानडे अपने वैध-मार्गों से लोगों के अन्दर अखिल भारतीय संयुक्त राज्य, उत्तरदायित्व के अधिकार, ब्रिटिश राष्ट्र के बराबर का दर्जा और भारतीय पार्लमेंट, इत्यादि भावनाओं के बीज बोते रहे और दूसरी ओर, १८७६ में, वासुदेव बलवंत फड़के ने नगर, नासिक, खानदेश के रामोशी और भीलों की सहायता से लोक-सत्ता की स्थापना करने का एक क्रान्तिकारी प्रयत्न किया।

: ५ :

कांग्रेस का जन्म और प्रचार

"जब कि लार्ड लिटन ने शाही दरबार में बैठे हुए यह घोषणा की थी कि इंग्लैंड की रानी अब भारत की सम्राज्ञी के पद पर प्रतिष्ठित हुई हैं, उसके बीस वर्ष के अन्दर ही उसी स्थान और उन्हीं दिनों में भारतीय राष्ट्रीय आन्दोलन का जन्म हुआ।"

—लाला लाजपतराय

एक ओर महाराष्ट्र में १८७५ से १८८२ तक चिपलूणकर, आगरकर और तिलक ने नवीन युग प्रवर्तित किया तो दूसरी ओर बंगाल में सुरेन्द्रनाथ बनर्जी ने और रामकृष्ण मिशन ने, पंजाब में आर्य समाज ने और मद्रास में थियोसोफी ने राष्ट्रीयता का एक नया युग स्थापित किया। इस समय यद्यपि नरम दल का प्राधान्य था तथापि गरम दल धीरे-धीरे उदय हो रहा था और फडके—जैसे सशस्त्र-क्रांति चाहने वाले लोग भी थे। जनता की दरिद्रता और फाकेकशी को देखकर उनके हृदय को बड़ी पीड़ा होती थी और उससे उसका एवं राष्ट्र का उद्धार करने के लिए बगावत के सिवा उनको कोई दूसरा रास्ता नहीं सुझाई देता था। अंग्रेज राजनीतिज्ञों को यह भी डर होने लगा कि हिंदुस्तान में जबर्दस्त राज्य-क्रान्ति हो जायगी, यदि समय पर उसकी रोक न की गयी। इसे बचाने के लिए हिंदुस्तानी देश-भक्त और कुछ अंग्रेज राजनीतिज्ञों ने बम्बई में २८ दिसम्बर १८८५ ईसवी को कांग्रेस की स्थापना की, जिनमें एक ओर ह्यूम, बेडरबर्न और दूसरी ओर दादाभाई, रानडे, बनर्जी, बोस,

तैलंग मुख्य थे। सहयोग और साम्राज्य-निष्ठा की नींव पर वैध-आन्दोलन के आधार पर कांग्रेस कायम हुई।

कांग्रेस की स्थापना के पहले एक दो अ० भा० आन्दोलन हो चुके थे। सुरेन्द्रनाथ बनर्जी के 'इंडियन असोसियेशन' ने सिविलसर्विस परीक्षा के बारे में आन्दोलन उठाया था। वे उम्मेदवारों की उम्र २१ के बजाय १९ वर्ष चाहते थे। इसके बाद ही सुरेन्द्रनाथ बनर्जी को १८८३ में अदालत की तौहीन के अपराध में दो महीने की सादी कैद की सजा हुई। इधर महाराष्ट्र में इन्हीं दिनों तिलक आगरकर को बर्वे प्रकरण में तीन-तीन महीने की सादी सजा मिली। इससे बंगाल और महाराष्ट्र में इन लोगों का प्रभाव काफी बढ़ गया। बनर्जी ने एक और आन्दोलन भी उठाया जिसका सम्बन्ध था फौजदारी मामलों में वर्ण-भेद नष्ट करने के लिए पेश हुए इलबर्ट बिल से। सुरेन्द्रनाथ ने इस बिल का समर्थन किया। इन आन्दोलनों के सम्बन्ध में अंग्रेजों ने जो रुख अख्तियार किया उसने दिखा दिया कि अंग्रेज लोगों और हिन्दुस्तानियों के दिलों में मेल बैठना मुश्किल है।

बम्बई कांग्रेस के प्रथम अधिवेशन में सारे देश के ७२ प्रतिनिधि आये थे। उमेशचन्द्र बनर्जी उसके अध्यक्ष थे। वे ईसाई थे। उन्होंने अपने भाषण में यह स्पष्ट कर दिया था कि हिन्दुस्तान में लोकसत्ताक राज्य-पद्धति कायम करने के मानी ब्रिटिश साम्राज्य का द्रोह हर्गिज नहीं है। इस अधिवेशन का काम तीन दिन चला और नौ प्रस्ताव पास हुए।

पहला प्रस्ताव इस आशय का था कि शासन-व्यवस्था की जांच के लिए एक रायल कमीशन मुकर्रर किया जाय। एक प्रस्ताव था धारा-सभाओं में बड़ी तादाद में लोकनियुक्त प्रतिनिधि लिये जाँय, बजट धारा सभाओं में पेश किये जांय, आदि। एक प्रस्ताव के द्वारा इंडिया कौंसिल रद्द करने की मांग की गयी थी। एक प्रकार से ये प्रस्ताव अनियंत्रित पद्धति को मिटा कर लोक-प्रतिनिधियों का प्रवेश शासन-कार्य में हो, इस दृष्टि से किये गये थे। इन मांगों का पूरा होना तो दूर, धारा सभा में लोक-नियुक्त प्रतिनिधियों के प्रवेश के लिए १९०९ तक राह देखनी पड़ी। लेकिन तबतक भारतीय नेताओं का वैध-मार्ग से विश्वास हट

चुका था और देश में निःशस्त्र-क्रान्तिवादी और सशस्त्र-क्रान्तिवादी ये दो नये दल हो गये थे। इसके बाद यहाँ की नौकरशाही में हिन्दुस्तानियों का अधिक प्रवेश हो, सिविल सर्विस परीक्षा हिन्दुस्तान में हो, सैनिक खर्च न बढ़ाया जाय, भारत-सरकार के कर्ज की जिम्मेदारी साम्राज्य-सरकार ले इत्यादि प्रस्ताव पास हुए हैं। फिर भी कांग्रेस के आठ साल मुख्यतः पूर्वोक्त सुधार कराने के प्रयत्न में गये। १८९३ में लार्ड क्रॉस का इंडियन कौंसिल बिल कानून बनकर सामने आया जिससे भारतीय नेताओं को विश्वास हो गया कि अब दस-बारह साल तक किसी सुधार की आशा नहीं। इस कानून में लोक-नियुक्त प्रतिनिधि चुनने का अधिकार नहीं दिया गया था। इन सुधारों के थोड़े ही दिनों के बाद गरम-नरम दो दल बन गये, हिंदू-मुसलमानों के दंगे शुरू हुए, और कांग्रेस ने शासन-सुधार का आन्दोलन बन्द कर दिया। वह लोकमत प्रदर्शित करनेवाला वार्षिक सम्मेलन मात्र रह गयी। गरमदल के लोग नौकरशाही के रोग के शिकार बनकर राजद्रोह के अपराध में जेल की हवा खाने चले गये। यह गरम-नरम राजनैतिक मतभेद, हिंदू-मुसलमानों के दंगे और गरमदल वालों के कारावास की घटनाएँ बम्बई-पूने में ही हुईं इसलिए इनकी तरफ सारे राष्ट्र का ध्यान अपने-आप चला गया।

कांग्रेस का दूसरा अधिवेशन कलकत्ते में दादाभाई नौरोजी की अध्यक्षता में, तीसरा मद्रास में, बदरुद्दीन तैयबजी की अध्यक्षता में, हुआ। पहले अध्यक्ष ईसाई, दूसरे पारसी और तीसरे मुसलमान—यह देखकर नौकरशाही के मन में कांग्रेस का द्वेष और डर पैदा होने लगा। मद्रास अधिवेशन के बाद कांग्रेस की बढ़ती हुई लोक-प्रियता को देखकर ह्यूम साहब ने तय किया कि उसे इंग्लैंड की 'एंटी कार्न ला-लीग' की तरह लोगों में आन्दोलन करनेवाली संस्था का रूप दिया जाय। उन्होंने अपने भाषणों में 'भारतमाता' की पवित्र भूमि में रहने वाले प्रत्येक भारतीय से सहकारी, भाई, और आवश्यकता पड़ने पर सैनिक बनने' की आशा प्रकट की। कांग्रेस के द्वारा आंदोलन और लोक-जागृति करने की इस नीति से सरकार में और उसमें विरोध पैदा होने लगा। १८८६ में तो कलकत्ते में दूसरे अधिवेशन के बाद खुद लार्ड डफरिन ने कांग्रेस के प्रतिनिधियों

को एक 'वनभोजन' दिया था और मद्रास अधिवेशन में तो वहाँ के गवर्नर गये भी थे। परन्तु चौथे अधिवेशन के समय इलाहाबाद में मंडप के लिए जगह भी न मिल सके, ऐसी कार्रवाई सरकारी अधिकारियों ने शुरू कर दी। अधिवेशन में आने वाले प्रतिनिधियों पर रुकावटें लगाने और कार्य-कर्त्ताओं से जमानतें लेने की कार्रवाई शुरू की गयी। पंजाब में ५-६ हजार लोगों से जमानत-मुचलके मांगे गये। इस विरोध से कांग्रेस की लोक-प्रियता बढ़ने लगी। इस अधिवेशन में १२४८ प्रतिनिधि आये थे और कलकत्ते के योरपियन व्यापारी मि० यूल अध्यक्ष के स्थान पर थे। अपने भाषण में उन्होंने प्रातिनिधिक राज्यपद्धति का समर्थन किया और लार्ड पामर्स्टन की प्रातिनिधिक योजना अमल में न आये तब तक इंग्लैंड को चाहिए कि वह अपने को हिन्दुस्तान का ट्रस्टी समझकर राजपाट चलावे ऐसा विचार उन्होंने प्रकट किया।

इस अधिवेशन के बाद कांग्रेस के प्रधान मंत्री ह्यूम और युक्तप्रान्त के गवर्नर सर ऑकलैंड कोलविन में पत्रव्यवहार भी हुआ। सर ऑकलैंड ने बताया कि सरकार और अधिकारी वर्ग के विरुद्ध जो आप कठोर शब्दों का प्रयोग करते हैं और विरोधी प्रचार करते हैं उससे द्वेष फैलने और दो विरोधी पक्ष खड़े हो जाने की संभावना है। इससे बेहतर है कि आप राजनैतिक सुधार की अपेक्षा सामाजिक सुधार की तरफ ही कांग्रेस को ले जायें। इसके जवाब में ह्यूम साहब ने लिखा कि हम तो अंग्रेज सरकार के प्रति द्वेष नहीं प्रेम ही फैलाते हैं। हाँ, अत्याचारों का निषेध अवश्य ही करते हैं। विरोधी प्रचार तो यहाँ के मुट्ठी भर अधगोरे कर रहे हैं। देहात के लोगों में शासन-व्यवस्था के प्रति बहुत असन्तोष है। दुःख और अन्याय उनके लिए अब असह्य हो गया है और उसे मिटाये बिना भावी संकट अब टल नहीं सकता।

शासकों के इस रोष की परवाह न करते हुए ह्यूम साहब ने अपना काम जोरों से जारी रक्खा। इधर दादाभाई ने इंग्लैंड में पार्लमेंट के सदस्यों की सहानुभूति प्राप्त की और वहाँ धारा-सभा के सुधार के लिए एक बिल पार्लमेंट में लाने का उद्योग किया। जॉन ब्राइट, फॉसेट और चार्ल्स ब्रेडलॉ पार्लमेंट के ये सदस्य कांग्रेस के साथ बड़ी सहानुभूति रखने

लगे। ब्रेडलॉ १८८९ के बम्बईवाले अधिवेशन में आये भी थे और उन्होंने एक भाषण भी दिया था। इस वर्ष मि० वेडरबर्न अध्यक्ष थे। इसके बाद का अधिवेशन कलकत्ते में हुआ जिसका अध्यक्ष पद फीरोजशाह मेहता ने स्वीकार किया था। इस समय यह हुक्म निकाला गया कि कांग्रेस में सरकारी अधिकारी दर्शक की तौर पर भी न जायँ। एक डेपुटेशन इंग्लैंड भेजने का प्रस्ताव पास हुआ और १८९३ वाला अधिवेशन इंग्लैंड में ही किया जाय ऐसा प्रस्ताव हुआ। इस पर से मि० ह्यूम को यह सूझा कि फिलहाल कुछ साल तक हिन्दुस्तान में कांग्रेस का अधिवेशन ही रोक दिया जाय, और इंग्लैंड में शुरू कर दिया जाय। इस आशय का एक परिपत्र भी उन्होंने निकाला। इस पर कांग्रेस के नेताओं में बड़ी चर्चा हुई। नरमदल वालों को वह राजद्रोह की तरफ जाता हुआ दिखाई दिया। नागपुर में आखिर इसका निर्णय करने के लिए भारत के बहुत से प्रसिद्ध राष्ट्रीय नेताओं का एक मंडल नियुक्त किया गया जिसने अन्त में यह फैसला दिया कि कांग्रेस के अधिवेशन जारी रहें; परन्तु उसे मि० ह्यूम जो आन्दोलनकारी रूप देना चाहते थे, वह न हुआ और केवल वार्षिक सम्मेलन होते रहे।

इससे पूना के युवक दल के नेता तिलक और आगरकर को बहुत बुरा लगा और उन्होंने उस परिपत्र का आशय अखबारों में छापकर अपने पर राजद्रोह का मुकदमा चलाने की चुनौती सरकार को दी। अन्त में निराश होकर ह्यूम साहब विलायत चले गये। उनका किसी ने साथ न दिया। पूना के सिर्फ दो युवक देशभक्तों ने उनका समर्थन किया—तिलक और आगरकर ने। इनमें से आगरकर तो जल्दी ही स्वर्गवासी हो गये और लोकमान्य तिलक पर कांग्रेस को आन्दोलनकारी संस्था बनाने का भार आ पड़ा। ह्यूम और दादाभाई के समय आरम्भ के १०–१२ वर्षों में जो उत्साह कांग्रेस में रहा, वह बाद के मेहता और वाचा युग के १०–१२ वर्षों में नहीं रहा और युवक वर्ग पर यह असर पड़ता रहा कि कांग्रेस सरकारी रोष के सामने दब गयी।

आरम्भ के दस अधिवेशनों में कांग्रेस पर दो संकट आये। एक सरकार के रोष का और दूसरा हिंदू-मुसलमानों के दंगों का, और उसके

पल्ले पड़ा सिर्फ १८९३ का खोखला सुधार-कानून। फिर भी उस समय की हालत को देखते हुए, यही कहना होगा कि कांग्रेस की यह प्रगति सन्तोषजनक थी। यहाँ से अब अर्थात् १८९५ के बाद महाराष्ट्र में लोकमान्य तिलक का स्वतंत्र राष्ट्रीय दल कायम हुआ। बाद में वह सब जगह फैला। इसके आगे का राजनैतिक घटना-क्रम देने के पहले १८७५ से १८९५ तक २० साल में सामाजिक और धार्मिक दृष्टि से भारतीय संस्कृति के संबंध में कौन-कौन से नये विचार-प्रवाह भारतीय वातावरण में संचार कर रहे थे, इसका विचार कर लें।

: ६ :

भारतीय संस्कृति का तत्वमंथन

"हमारा मनुष्यत्व मुक्त होना चाहिए, हमारी आशाएं ऊँची उछलनी चाहिएँ, कर्तव्य-पालन में कभी गलती न करने वाली श्रद्धा जागृत होनी चाहिए, सबसे समदृष्टि से व्यवहार करने वाली न्यायबुद्धि प्रज्वलित होनी चाहिए, बुद्धि पर आये हुए सब बादल बिखर जाने चाहिएँ और सब प्रकार के बांधों से मुक्त होकर हमारे प्रेम की गंगा बहने लगनी चाहिए—तभी हिन्दुस्तान को नवजीवन प्राप्त होगा और संसार के अन्य राष्ट्रों में अपना योग्य स्थान प्राप्त करके यह देश अपनी परिस्थिति पर और भविष्य पर अपना प्रभुत्व जमा सकेगा।...........उस समय अकाल और रोग, जुल्म और दुःख ये बातें सिर्फ दंत-कथा रह जायंगी और जिन पुराणों को हम आज केवल दंत-कथा कहते हैं उसी पुराण-काल के अनुसार पुनः इस भूमि पर देव अवतार लेंगे और वे मानव समाज में संचार करने लगेंगे।"

—न्या० रानडे

"ज्यों-ज्यों बुद्धि का विकास होता जाता है और कार्य कारण का संबंध अच्छी तरह समझ में आने लगता है, त्यों त्यों प्राथमिक और पौराणिक कल्पना मिथ्या प्रतीत होने लगती है और भूत पिशाच देव-दानव आदि महज कल्पना से उत्पन्न की हुई शक्तियों की असत्यता की प्रतीति होती है, पूजा व प्रार्थना का जोर कम होता है और कुछ समय सारे ब्रह्मांड को उत्पन्न करके उसका परिपालन व नाश करनेवाले एक परमात्मा की कल्पना उदय होती है लेकिन, आगे चलकर

वेदांत-विचार के कुंड में प्रज्वलित हुई अग्नि में यह द्वैत भी भस्म हो जाता है और 'अहं ब्रह्माऽस्मि' यही अनिर्वचनीय विचार पीछे रह जाता है! व्यक्ति के और राष्ट्र के धर्म-विचारों की यह पराकाष्ठा है।"

—गो. ग. आगरकर

"इस वजह से कर्म, बुद्धि (ज्ञान) और प्रेम (भक्ति) इन तीनों का विरोध नष्ट होकर सारे जीवन को यज्ञमय करने का प्रतिपादन करने वाला गीता धर्म सारे वैदिक धर्मों का सार है। यह नित्यधर्म पहचानकर सिर्फ कर्तव्य समझ कर प्राणी मात्र के हित के लिए महान् उद्योग करनेवाले और पुरुषार्थी पुरुष जब इस भारत भूमि को अलंकृत करते थे तब यह देश परमेश्वर की कृपा का पात्र था। और ज्ञान के ही नहीं ऐश्वर्य के भी शिखर पर पहुंचा हुआ था; और जब यह दोनों जगह श्रेयस्कर पूर्वतर धर्म छूट गया तबसे उसकी हालत गिरने लगी।

—लो. तिलक

१८७५ ई० से १८९५ ई० तक के समय में हिंदुओं को अपनी संस्कृति की श्रेष्ठता का पता चला। पहले जो पश्चिमी सभ्यता के प्रकाशन से सुशिक्षित लोगों की दृष्टि चौंधिया गयी थी अब वह स्थिति बदल गयी थी और उनमें अपनी कार्य-शक्ति का आत्मविश्वास और अपने राष्ट्र के भविष्य के सम्बन्ध में उज्ज्वल आशा प्रतीत होने लगी। १८७५ के पहले के हम लोगों के और उसके बाद के देशभक्त कार्यकर्ताओं के उद्गारों में यही मुख्य अन्तर दिखाई देता है। इस समय जो जो नयी हलचलें उत्पन्न हुईं वे सब इसी नये आत्मविश्वास पर अधिष्ठित थीं। पुरानी पीढ़ी के कार्यकर्ताओं को भी यह नया दृश्य देखकर अपने राष्ट्र के भविष्य के बारे में आशा होने लगी। पराधीनता के आघात से मूर्च्छित इस खंड तुल्य प्रचण्ड राष्ट्र में नव चैतन्य का संचार होने लगा। अपनी स्वतंत्रता की झलक उसे दिखाई पड़ने लगी। इस नवजीवन और नूतन आशावाद के समय में लोक-जागृति करनेवाले भिन्न-भिन्न सम्प्रदाय पैदा हुए और उनके द्वारा आधुनिक भारत के मन पर भिन्न-भिन्न संस्कार पड़ने लगे।

महाराष्ट्र में विष्णुशास्त्री चिपलूणकर ने १८७४ में निबंधमाला शुरू करके एक नवीन स्वाभिमानी राष्ट्रीय विचार-संप्रदाय उत्पन्न किया।

उसीको आगे बढ़ाकर लोकमान्य तिलक और इतिहासाचार्य राजवाड़े ने महाराष्ट्रीय इतिहास की पार्श्वभूमि पर आधुनिक भारत का चित्रपट खींचने की शुरुआत की। इस संप्रदाय की सामाजिक सुधार-सम्बन्धी तात्त्विक भूमिका लोकमान्य के शब्दों में इस प्रकार है—"जब तक स्वतंत्रता का अथवा राष्ट्रीयता का अभिमान या तेज कायम और जागृत है तब तक समाजरचना में कुछ दोष भी हो, तो राष्ट्र की उन्नति अथवा उत्कर्ष में बाधक नहीं होता। इसलिए (विशिष्ट) समाज-रचना की अपेक्षा लोगों में अपनी संस्थाओं और अपने देश के प्रति अभिमान जागृत रखने की चेष्टा प्रत्येक देशभक्त को करनी चाहिए। इसीको हमने स्वाभिमानी राष्ट्रवाद नाम दिया है। इसका आधार सामान्यतः वर्णाश्रम धर्म है और महाराष्ट्र के इतिहास में इसीको महाराष्ट्र-धर्म कहा गया है। भगवद्गीता और दासबोध इस राष्ट्रवाद या राष्ट्रधर्म के आधार हैं। शिवाजी महाराज इस धर्म के आराध्यदेव और भगवान श्रीकृष्ण का प्रवृत्ति-परक कर्मयोग और शंकराचार्य का अद्वैत सिद्धान्त और सनातन धर्मनिष्ठा यह परम्पराप्राप्त संस्कृति-धन है। इसे सामाजिक सुधार तो अभीष्ट है परन्तु इसका यह मत है कि हमारी संस्कृति का पाया पश्चिमी संस्कृति की अपेक्षा अधिक श्रेष्ठ तत्वों पर डाला गया है और इसने महाराष्ट्र में यह श्रद्धा पैदा की है कि सारे जगत् का मार्ग-दर्शन करने का सामर्थ्य भारतीय संस्कृति में है। महाराष्ट्र में गरम राजनीति को इसी संप्रदाय ने व्यापक किया है और इसी पक्ष के धुरन्धर नेता लो० तिलक ने प्रागतिक दल से हटाकर काँग्रेस को गरम राष्ट्रीय दल के हाथों में सौंप दिया।

महाराष्ट्र के राष्ट्रवाद के इतिहास में आगरकर का भी खास स्थान है। १८८० से १८९५ तक उन्होंने शुद्ध विवेकवाद के आधार पर उग्र राष्ट्रीयता निर्माण करने का प्रयत्न किया है। उन्हें सब बातों में पश्चिमी लोगों की नकल करना अर्थात् एक प्रकार की देशाभिमान-शून्यता पसन्द नहीं थी, तो सब पूर्वीय बातों के समर्थन करने का देशाभिमान भी पसन्द नहीं था। वे कहते थे कि सच्चा मार्ग दोनों के बीच का है। उनका मत था कि हमारी मूल प्रकृति अर्थात् भारतीय आर्यत्व को न

छोड़ते हुए नवीन पश्चिमी शिक्षा और उसके साथ आनेवाले नवीन विचारों को उचित तौर पर अंगीकार करने में ही हमारा भला है।

इसी समय बंगाल, पंजाब और मद्रास प्रांतों में भी एक प्रकार की विचार-क्रान्ति हो रही थी और भारतीय संस्कृति की श्रेष्ठता, वेदान्त-विचारों की महत्ता, वर्णाश्रम धर्म के समाज-धारणा के लिए उपयोगी तत्व, इनको सब जगह प्रधानता मिल रही थी। बंगाल का रामकृष्ण मिशन, पंजाब का आर्य समाज और मद्रास की थियॉसाफी ये सब विचार-संप्रदाय भारतीय संस्कृति की श्रेष्ठता पर आधार रखते थे। परन्तु महाराष्ट्र और दूसरे प्रांतों की विचार-जागृति में एक बड़ा अंतर था। महाराष्ट्र में जैसे लोकमान्य समाज-सुधार को अप्रधानता देकर राजनैतिक आन्दोलन को प्रधानता देनेवाले और आगरकर-जैसे शुद्ध बुद्धिवाद के आश्रय-पर सर्वांगीण सुधार का समर्थन करने वाले नेता थे वैसे दूसरे प्रान्तों में नहीं।

यहाँ पर यह साफ कर देना जरूरी है कि इस सुधार के मामले में रानडे और आगरकर पक्ष के मत तत्वतः बिलकुल भिन्न थे। रानडे अद्वैत-वाद और बौद्धमत को नास्तिक मत समझते थे और इसलिए अपने प्रार्थना समाज को उन्होंने ब्रह्म-समाज नाम न देने दिया। इसका कारण उन्होंने यह बताया कि ब्रह्म शब्द से वेदान्तियों के निर्गुण परब्रह्म का बोध होता है इसलिए हमारे द्वैत अथवा विशिष्टाद्वैत विचारों के लिए प्रार्थना-समाज नाम अधिक मौजूं होगा। उनका मत था कि अपनी परम्परा को न छोड़कर प्रचार करना चाहिए। हिंदू संस्कृति में जिस तरह गौतमबुद्ध और शंकराचार्य दो महान् विभूतियाँ प्राचीन समय में हो गयीं उसी तरह महाराष्ट्र में आधुनिक समय में आगरकर और तिलक ये दो महान् विभूतियाँ हुई हैं। बुद्ध और शंकराचार्य दोनों प्रखर बुद्धिवादी थे पर एक ने वैदिक परंपरा और वर्ण-व्यवस्था पर प्रकट आक्रमण किया और बुद्धिवाद के आश्रय से निरीश्वरवाद की मंजिल तक पहुँचे और दूसरे ने अद्वैत वेदान्त का आश्रय लेकर मायिक ईश्वर का अस्तित्व मान्य करके वैदिक परंपरा और वर्ण व्यवस्था को धक्का न पहुँचाते हुए हिंदू-संस्कृति का उद्धार किया। आगरकर का पंथ गौतम बुद्ध के प्रयत्न की तरह था और तिलक का प्रयत्न शंकराचार्य की तरह था। आगरकर का बुद्धिवाद

जैसा तिलक को रुचिकर न हुआ उसी प्रकार वह रानडे को भी पहले से मान्य न था। रानडे की राजनीति भी श्रद्धा-युग की थी और उन्हें परंपरा भंग होने की अपेक्षा भी राजशासन भंग होने की भीति अधिक मालूम होती थी। आगरकर की स्वतंत्र बुद्धि कहती थी कि जरूरत पड़ जाय तो परंपरा और राज्य-शासन दोनों का उल्लंघन करके हमें अपनी सत्यनिष्ठा क़ायम रखनी चाहिए। अपनी इसी स्वतत्र बुद्धि के कारण आगरकर ने उग्र राजनीति और उग्र समाजनीति का बीजारोपण महाराष्ट्र में किया और तिलक ने सामाजिक और धार्मिक विषय में परंपरा-रक्षण का सिद्धांत स्वीकार करके राजनैतिक विषय में परतंत्रता की परंपरा तोड़ने का उपदेश दिया और अपने और प्रखर बुद्धिवाद पर वेदान्त का आवरण चढ़ाकर वर्णाश्रम-धर्म की बुनियाद को ज़रा भी न हिलाते हुए राष्ट्र-निर्माण करने का प्रयत्न किया तथा सारे राष्ट्र की शक्ति और बुद्धि उग्र राजनीति पर केन्द्रित की।

बंगाल में इन्हीं दिनों कलकत्ता के पास दक्षिणेश्वर के मन्दिर में एक महान् विभूति आकर रही थी जिसने वहाँ के लोगों का ध्यान ब्रह्मसमाज की ओर से अपने वेदान्त की तरफ़ खींच लिया। वह थे रामकृष्ण परमहंस। राममोहन राय की मृत्यु के बाद ब्रह्मसमाज में महर्षि देवेन्द्रनाथ ठाकुर और केशवचन्द्र सेन ये दो प्रसिद्ध नेता हुए। १८४२ में देवेन्द्रनाथ और १८५७ के बाद केशवचन्द्र सेन आगे आने लगे। केशवचन्द्र ने ब्रह्मसमाज को ईसाई-धर्म की तरफ़ झुकाया और भारतवर्षीय ब्रह्मसमाज नामक स्वतंत्र शाखा १८६६ में स्थापित की। तब पुराने ब्रह्मसमाज का नाम 'आदि ब्रह्मसमाज' पड़ गया। आदि ब्रह्मसमाज का झुकाव भारतीय संस्कृति की श्रेष्ठता की तरफ़ है और उसका यह विश्वास है कि पूर्वी और पश्चिमी संस्कृति के मेल से ही वास्तविक मानव-सुधार होगा। कवि-सम्राट् रवीन्द्रनाथ इस ब्रह्मसमाज की आधुनिक भारत को बहुमोल देन हैं और महात्मा गान्धी के बाद संसार में भारत की कीर्ति फैलाने में उनकी विभूतिमत्ता कारण हुई। वे जैसे सर्वश्रेष्ठ कवि थे वैसे ही तत्वज्ञ भी थे और उनके तात्विक धर्म-प्रवचन भक्तिरस से लबालब और औपनिषदिक ज्ञान से भरे हुए होते थे। पश्चिमी लोगों की संकुचित

राष्ट्रभावना से उत्पन्न साम्राज्यवाद, भौतिक सुखों के लिए उनकी अमर्याद तृष्णा, पूँजीवाद का संगठित लोभ और सैनिकवाद की संगठित हिंसा इस योरपीय संस्कृति का अन्धानुकरण न करो । दूसरी तरफ अपनी संस्कृति की प्राचीन आध्यात्मिक भूमिका को छोड़ कर जापन की तरह पश्चिमी जड़वादी और हिंसक न बनो । यह सन्देश वह भारतवर्ष को दे रहे थे।

१८७५ के बाद केशवचन्द्र सेन खुद भी परमहंस से प्रभावित हुए और बाद में नरेन्द्रनाथ दत्त जो कि नास्तिक थे और स्पेन्सर के अनुयायी थे रामकृष्ण परमहंस के संपर्क में आये। उन्होंने परमहंस से पूछा "क्या आप मुझे ईश्वर का दर्शन करा देंगे? उन्होंने उत्तर दिया "हाँ"। तब नरेन्द्रनाथ उनके शिष्य हो गये, जो कि बाद में स्वामी विवेकानन्द के नाम से प्रसिद्ध हुए। परमहंस के प्रसाद से उन्हें यह निश्चय होता गया कि भारतवर्ष में परमेश्वरप्राप्ति का भी एक अनुभवगम्य शास्त्र है और इस अध्यात्मशास्त्र के सिद्धान्त भी भौतिक शास्त्र की तरह प्रमाण-सिद्ध और अनुभवगम्य हैं। वह धर्म-बाह्य विधि-विधानों की या कर्मठता की कवायद नहीं है; बल्कि आत्म-साक्षात्कार का विषय है और आत्म-साक्षात्कार ही सब धर्मों का साध्य है। उनके बहिरंग कैसे ही विविध बल्कि विरोधी क्यों न दिखाई दें परन्तु वास्तविक धर्म एक ही है और भिन्न-भिन्न धर्म उसी एक विश्वधर्म के विशिष्ट सम्प्रदाय अथवा पंथ हैं। ये दो सिद्धान्त उन्हें अपने गुरु से मिले। १८९३ में शिकागो की सर्व-धर्म-परिषद में वे 'अहं ब्रह्माऽस्मि' इस सिद्धान्त पर आधारित अद्वैत तत्वज्ञान की सर्वश्रेष्ठता और उसके आधार पर विश्वधर्म की प्राप्ति का संदेश देने गये। अपने गुरु के स्मारक के रूप में १८८६ में उन्होंने रामकृष्ण मिशन नामक संस्था उनका संदेश सारी दुनिया में फैलाने के लिए स्थापित की। सनातन हिन्दूधर्म के आधार पर व्यापक विश्वधर्म का संदेश दुनिया को देना, लोगों को यह विश्वास करा देना कि अद्वैत वेदान्त भौतिक शास्त्र की प्रगति के कारण मिथ्या नहीं ठहर सकता, भौतिक प्रगति को और प्रवृत्ति-परता को प्रधानता देकर वेदान्त को कर्म-प्रवण बनाना, ईसाई पादरियों की तरह धर्माचरण में लोक-सेवा को

प्रधानता देना और धर्म के आधार पर राष्ट्र-भक्ति और स्वाभिमान की ज्योति जलाकर लोगों में परतंत्रता के विरुद्ध क्रांति भाव फैलाना—इस प्रकार बहुविध कार्य रामकृष्ण मिशन ने किया है।

पंजाब में भी कुछ पहले से विचार-क्रान्ति हो रही थी। उसका श्रेय आर्य समाज को है। उसके संस्थापक स्वामी दयानन्द का जन्म १८२४ में काठियावाड़ के एक ब्राह्मण-कुल में हुआ। धर्म-प्रचार के लिए उन्होंने ब्रह्मचर्य व्रत धारण किया। फिर संन्यास लेकर १८७५ में बम्बई में आर्य-समाज की स्थापना की, जिसकी एक शाखा १८७७ में पंजाब में क़ायम हुई। लाला हंसराज, लाला मुन्शी राम उर्फ़-स्वामी श्रद्धानन्द और लाला लाजपतराय इन तीन विभूतियों के कारण पंजाब की इस शाखा को बहुत महत्त्व मिला।

आर्य समाज के सिद्धान्त संक्षेप में इस प्रकार हैं—परमेश्वर के शुद्ध स्वरूप का ज्ञान वेदों में है, इसलिए वेदों का अध्ययन करना हिन्दू-मात्र का कर्त्तव्य है। वेदाध्ययन का अधिकार मनुष्य-मात्र को है। वेद आर्यों के पवित्र ग्रन्थ हैं और उन्हें सब हिंदुओं को प्रमाण मानना चाहिए। वैदिक काल में मानव संस्कृति पूर्णावस्था को पहुँची हुई थी और समाज-रचना के सब श्रेष्ठ तत्त्व वर्णाश्रम-धर्म में हैं। चातुर्वर्ण्य जन्मसिद्ध नहीं, गुण-कर्म पर अवलम्बित होना चाहिए और जिसमें जिस वर्ण के गुण हों उसे उसी वर्ण के अधिकार मिलने चाहिएँ। आर्यों के वैदिक धर्म का द्वार सब धर्मवालों के लिए खुला रहना चाहिए और शुद्धि करके किसी भी धर्म के माननेवाले को वैदिक धर्म में आने की छुट्टी रहनी चाहिए। आर्य धर्म की दीक्षा सारे जगत् को देना यही जगदुद्धार का मार्ग है और आर्यावर्त आर्यों का ही देश है।

आर्यसमाज ने हिन्दू समाज को आक्रामक स्वरूप देने का प्रयत्न किया अर्थात् ईसाई और मुसलमान धर्म-प्रचारकों की कटुता और आक्रामक शक्ति उसने हिन्दू समाज में पैदा करने की कोशिश की। उसी तरह मूर्तिपूजा, बालविवाह, स्त्रियों की गुलामी, जन्मसिद्ध अस्पृश्यता इत्यादि दोषों पर भी उन्होंने जबरदस्त हमला किया। इसकी बदौलत सुधार दल में त्याग और संन्यासवृत्ति, लोक-सेवा का व्रत और धर्मनिष्ठा

का तेज निर्माण हुआ। उस आर्यसमाज ने राष्ट्रीयता और उग्र राजनीति और हिन्दू समाज की राजनैतिक क्रान्ति-भावना को गति दी थी। इसमें कोई सन्देह नहीं।

स्वामी दयानन्द के निमंत्रण पर थियोसॉफी के दो संस्थापक मैडम ब्लेवे-टस्की और कर्नल अल्कॉट हिन्दुस्तान में आये और उन्होंने बम्बई में अपने भाषण में हिन्दुस्तानियों को बताया कि भारतवर्ष का नेतृत्व भारतवासियों को ही करना चाहिए। भारत को अपनी आध्यात्मिक संस्कृति का अभिमान कभी न छोड़ना चाहिए। इसी से हिन्दुस्तान का सच्चा उद्धार होगा। थियोसॉफी सर्व धर्म-संग्राहक विचार-संप्रदाय है। १८९३ में एनीबेसेंट हिन्दुस्तान में आयीं। कर्नल अल्काट का झुकाव बुद्धधर्म की तरफ था और मिसेज बेसेंट श्रीकृष्ण की भक्त थीं। उन्होंने काशी में सेंट्रल हिंदू कॉलेज कायम करके हिंदुओं में धर्म-जागृति और राष्ट्रभक्ति पैदा करने का प्रयत्न किया। आखिर में वे राजनैतिक क्षेत्र में भी आयीं परन्तु उग्र राष्ट्रीयता को उनकी तरफ से बहुत सहायता नहीं मिली। फिर भी हिन्दुस्तानियों में अपनी संस्कृति के प्रति अभिमान पैदा करने का काम उन्होंने ठीक-ठीक किया है।

यद्यपि इस तरह भिन्न-भिन्न प्रान्तों में भिन्न-भिन्न महान् व्यक्तियों के द्वारा विचार-क्रांति हो रही थी, तो भी राजनैतिक क्षेत्र में जो जागृति लो० तिलक के द्वारा हुई उसकी तुलना किसी से नहीं की जा सकती। उनके पुरुषार्थ से ब्रिटिश सत्ता भी हिल गयी। उनके स्वतंत्र राजनैतिक कार्य का प्रारम्भ १८९५ से हुआ। परन्तु ४–५ साल में ही उनकी कीर्ति सारे हिन्दुस्तान में फैल गई और अँगरेज अधिकारियों ने यह शोर मचाना शुरू किया कि महाराष्ट्र में तिलक दल क्रान्तिवाद का जनक है। इस चिल्लाहट से अथवा सत्ताधारियों ने जो भास उन्हें दिया, उससे उनका बल उल्टे बढ़ता चला गया और १९०५ के लगभग उनके नेतृत्व में हिन्दुस्तान के तमाम युवक देशभक्तों ने एकत्र होकर कांग्रेस को गरम-नीति पर लाने का निश्चय किया।

लोकमान्य ने सांस्कृतिक पुनरुज्जीवन के आधार पर जो राष्ट्रीयता निर्माण की उसके कारण उनके जीवन-काल में महाराष्ट्र में अब्राह्मण

जनता में विशेष राजनैतिक जाग्रति नहीं हुई थी और उनकी मृत्यु के बाद इसी सांस्कृतिक राष्ट्रीयता का आधार लेकर उनके अनुयायी कहलानेवाले कुछ लोग कांग्रेस का विरोध करते हैं और यह कहकर विदेशी सत्ता से सहयोग भी करते हैं कि यदि हमारी अपनी संस्कृति की रक्षा न होती हो तो हमें स्वराज्य की भी जरूरत नहीं। इससे यह नतीजा निकलता है कि स्वसंस्कृति का अभिमान हमेशा प्रखर राष्ट्रीय राजनीति का पोषक होगा, यह नहीं कह सकते। यही नहीं बल्कि आज तो ऐसे लोग भी दिखाई देते हैं जो पश्चिमी पूँजीवाद को ही अपनी संस्कृति समझकर प्रेम से उसके गले लिपटते हैं और हिंदू संस्कृति के नाम पर फासिज्म का समर्थन करते हैं। इसके विपरीत हमारी राजनीति में एक ऐसा समाजवादी दल आज हिन्दुस्तान में उदय हो रहा है जो कहता है कि हमारी राजनीति को प्राचीन संस्कृति का नहीं, बल्कि दूसरे देशों के सफल सिद्धान्तों का आधार लेकर क्रान्तिकारक स्वरूप दिया जाय। राष्ट्रीय राजनीति में प्राचीन इतिहास से स्फूर्ति पानेवाले महात्मा गांधी और उसमें आधुनिक-जगत् के इतिहास से स्फूर्ति लाने वाले पं० जवाहर लाल नेहरू ये आधुनिक महाराष्ट्र के इतिहास के तिलक और आगरकर के नये अवतार प्रतीत होते हैं। तिलक और आगरकर के समय मिल और स्पेन्सर के सिद्धान्त आ रहे थे, आज मार्क्स और एंजल्स के सिद्धान्त आ रहे हैं। मिल स्पेन्सर के सिद्धान्त में से लोकसत्ता और और सामाजिक समता के भावों को अपनाकर हिन्दुस्तान ने आज आत्मसात् कर लिया है। और ऐसा करते हुए भी वह अपनी प्राचीन संस्कृति के अभिमान को धारण किये हुए है। अब इस नवीन समाजवादी तत्त्व-ज्ञान की क्या दशा होगी, यह प्रश्न है। हमारा ख्याल तो है कि इस नवीन तत्वज्ञान को भी हजम करके भारतीय संस्कृति की विशेषता और श्रेष्ठता कायम रहेगी। परन्तु यह बात इस पुस्तक के अंत में ही पाठकों की समझ में आ सकेगी।

: ७ :

क्रान्तिकारी राजनीति

"इस तरह हिन्दुस्तान का पहला जन-आंदोलन दक्षिण में शुरू हुआ। पूना उस का केन्द्र था, और तिलक थे उस के जीवनदाता। हालांकि तिलक ने कभी क्रान्तिकारी आंदोलन में भाग नहीं लिया, मगर उन्हीं के लेखों आदि से प्रेरित होने वाले कुछ लोग बाद में क्रान्तिकारी बन गये और देश में क्रान्तिकारी या आतंकवादी हलचल चलाने का श्रेय या दोष महाराष्ट्र के ही जिम्मे है।"*

बंगाल और महाराष्ट्र में अँगरेजों का संबंध अलग अलग तरह से हुआ इसलिए अँगरेजी राज्य के प्रति दोनों प्रान्तों का रुख शुरू में कुछ अलग अलग रहा। बंगाल में राजा राममोहन राय को यह प्रतीत होता था कि अँगरेजी राज्य हिन्दुस्तान के लिए एक ईश्वरीय प्रसाद है इसलिए बंगाल में उन्होंने मुसलमान सूबा के खिलाफ ईस्ट इंडिया कंपनी को मदद दी, जिसका नतीजा यह हुआ कि वहाँ का सारा व्यापार गोरों के हाथ में चला गया। फिर भी दो-तीन पीढ़ी तक बंगाली यही समझते रहे कि गोरों के सहवास से हिन्दुस्तान की सर्वांगीण उन्नति हो रही है। महाराष्ट्र में भी शुरू में यही भावना रही। लोकहितवादी और रानडे राममोहन राय के ही पदचिन्हों पर चले। परन्तु शीघ्र ही वहां लो० तिलक आगरकर की उग्र विचारसरणी लोगों के सामने आयी। दादाभाई और ह्यूम के लेखन और भाषणों के आधार पर ऐसे विचार लोगों के सामने आने लगे कि हिन्दुस्तान में दरिद्रता दिनों दिन बढ़ रही है। इसलिए फ्रांस की राज्य-क्रान्ति की तरह यहां भी एक प्रचण्ड राज्य-क्रान्ति होगी। तिलक और आगरकर ने राजा और प्रजा, विजित और विजेता के हितविरोध पर जोर देकर उग्र राजनैतिक विचार लोगों में फैलाये। रानडे का वैध सर्वांगीण सुधारवाद, आगरकर का उग्र सर्वांगीण सुधारवाद और चिपलूणकर --तिलक का उग्र राजनीतिवाद,--इस तरह ये तीन स्वतंत्र विचार-प्रवाह

* Landmarks in Indian Constitutional and National Development: by G. M. Singh, page 3002.

महाराष्ट्र में दिखाई पड़ते हैं। १८९५ के पहले १०–१५ साल तक जो विचार-मंथन महाराष्ट्र में हुआ, उसमें इन तीन विचार-प्रवाहों का त्रिवेणी संगम दिखाई पड़ता है। उसके बाद आगरकर के विचारों की सरस्वती गुप्त हो गयी और रानडे का वैध प्रागतिक दल तथा तिलक का उग्र राष्ट्रीय दल, ऐसे दो ही दल महाराष्ट्र में रह गये।

परतंत्र और स्वतंत्र राष्ट्रों में 'राजनैतिक सुधार'–इन शब्दों के अर्थ में बड़ा भेद रहता है। स्वतंत्र राष्ट्र के लोगों के सामने एक विशिष्ट वर्ग के हाथ की सत्ता सामान्य वर्ग के हाथ में ले जाने का सवाल रहता है। इसलिए वे सामान्य जनता के सामाजिक, आर्थिक, धार्मिक सभी प्रकार के सुधारों के अनुकूल रहते हैं। परन्तु परतंत्र राष्ट्र के सामने तो विदेशियों के आक्रमण और गुलामी से छूटने का सवाल मुख्यतः सामने रहता है। उसे हल करने के बाद वे सामाजिक पुनर्गठन का विचार कर सकते हैं। इसी से स्वतंत्र देश में सामाजिक क्रान्ति के बाद राजनैतिक क्रान्ति के विचार पैदा होते हैं। जैसे इंग्लैंड में १६वीं सदी में एक सामाजिक क्रान्ति हुई, जिससे सामन्त वर्ग पीछे हटा और मध्यम व्यापारी वर्ग आगे बढ़ा। बाद में इस वर्ग ने लोकसत्तात्मक क्रान्ति की। इसी तरह १८वीं सदी के मध्य से १९वीं सदी के प्रथम चरण तक एक दूसरी औद्योगिक क्रान्ति हुई और उसके बाद अब फिर समाजवादी क्रान्ति के विचार फैल रहे हैं। परन्तु परतंत्र देश में सामाजिक क्रान्ति के कारण राजनैतिक क्रान्ति के विचार शुरू में पैदा नहीं होते; बल्कि विदेशियों का आक्रमण और आधिपत्य देखकर मन में जो विरोध और प्रतिकार का भाव पैदा होता है उससे क्रान्तिकारी राजनीति का जन्म होता है। लोकमान्य ने विरोध की इसी प्रतिकार-भावना को प्रबल बना कर उग्र राजनीति को जन्म दिया, जिससे स्वदेशी, स्वराज्य, बहिष्कार, क्रान्ति, स्वतंत्रता के भाव सब जगह फैलने लगे, क्योंकि विदेशी सत्ता के आक्रमण से देश में जो दरिद्रता और बेकारी दिन दिन बढ़ रही थी उसे देश का बच्चा-बच्चा महसूस करने लगा था।

इन भावनाओं से प्रेरित होकर भिन्न-भिन्न लोगों ने स्वतंत्रता-प्राप्ति के भिन्न-भिन्न उपाय शुरू कर दिये। किसी ने शस्त्रास्त्र जमाकर स्वराज्य स्थापन करने का प्रयत्न किया तो किसी ने ज़ालिम अधिकारियों को कत्ल

कर डाला, किसी ने शिवाजी क्लब स्थापित कर के बलोपासना शुरू की, किसी ने राजे-रजवाड़ों की सहायता से क्रान्ति करने का विचार बाँधा, किसी ने भारतीय राजे-रजवाड़ों को निकम्मा समझ कर अफ़गानिस्तान और नैपाल जैसे दूर के स्वतंत्र राज्यों का आश्रय लिया, किसी ने रामदासी मठों को पुनर्जीवित करने का उद्योग किया तो किसी ने मंत्र-सामर्थ्य और योगसामर्थ्य से काम लेना चाहा। मगर लोक-मान्य की राजनीति इन सबसे भिन्न थी। वह उग्र ज़रूर थी, मगर साथ ही वह अवैध नहीं थी। उनका यह निश्चित मत था कि जब तक आम जनता में ज़बरदस्त जागृति न हो जायगी और कांग्रेस जैसी संगठित संस्था का नेतृत्व उसे प्राप्त न होगा तब तक हिन्दुस्तान को स्वराज्य नहीं मिल सकता। इसलिए उनकी राजनीति का संचालन महाराष्ट्र में सार्वजनिक सभा के द्वारा और भारत में कांग्रेस के द्वारा चल सकता था। इसलिए लोकमान्य ने पहले सार्वजनिक सभा और बाद में कांग्रेस पर कब्ज़ा किया। तिलक की राष्ट्रीय राजनीति अंत में तो क्रान्तिवादी है परन्तु तात्कालिक दृष्टि से वह विधि-विहित ही थी, क्योंकि वे मानते थे कि जब तक कांग्रेस जनता की प्रातिनिधिक संस्था नहीं बन जायगी, तब तक क्रान्ति नहीं हो सकती। इसलिए तब तक विधि-विहित राजनीति से ही काम लेना चाहते थे। उनकी सारी कोशिशें इसी दिशा में हो रही थीं कि कांग्रेस जनता की सच्ची प्रतिनिधि बने और उसकी राजनीति अग्रगामी हो। उनका मत था कि जो राष्ट्र का राजनैतिक नेतृत्व करना चाहता हो उसे आगे बढ़ते रहने की और लोग मेरे पीछे चलते हैं कि नहीं यह देखते रहने की आवश्यकता रहती है, अब किस समय राष्ट्र की कितनी तैयारी हो गयी है इस बारे में नेताओं में मतभेद हो सकता है। ऐसे समय लोकमान्य बहुमत का निर्णय मानने के पक्ष में थे। अपने ४० साल के सार्वजनिक जीवन में उन्होंने इस सिद्धांत के विपरीत कभी आचरण नहीं किया। उसका उल्लंघन करने वालों पर वे अराष्ट्रीयता का आरोप करते थे।

तिलक की राजनीति वृद्धिशील राष्ट्रीयता की और क्रान्तिवाद की राजनीति थी। अपनी राजनीति में शक्ति लाने के लिए तिलक ने १८९४ में गणपति उत्सव को सार्वजनिक स्वरूप दिया और १८९५ में शिवाजी-

उत्सव शुरू किया। इससे उन्होंने लोगों की धर्म-भावना और ऐतिहासिक विभूतियों के प्रति पूज्य भावना का बल, अपनी राजनीति को देने का प्रयत्न किया। जिस समय नवीन राष्ट्रीय भावना लोगों के अंदर जोरदार नहीं थी उस समय उत्सवों के द्वारा लोक-हृदय में उसका बीजारोपण करने का यह प्रयत्न था। कांग्रेस जो काम कर रही थी उसे जन-साधारण में व्यापक करने का यह उद्योग था। इन उत्सवों के अंदर लोगों की धर्म-भावना जाग्रत करके उन्हें नैतिक, सामाजिक और राजनैतिक शिक्षा आसानी से दी जा सकती थी। प्राचीन समय में जो यात्रा और मेले लगते थे, वे राष्ट्र की धार्मिक, औद्योगिक और सामाजिक हलचलों के भारी भारी प्रदर्शन होते थे। इसके बाद लोकमान्य ने जनता के दुःख-दर्द और शिकायतों का प्रश्न हाथ में लेने का उद्योग किया। १८९६ में अकाल पड़ा और लोकमान्य ने निश्चय किया कि सार्वजनिक सभा-द्वारा किसानों का लगान माफ अथवा स्थगित कराया जाय और इसके लिए उनमें जागृति की जाय। इसके द्वारा उन्होंने किसानों में अपने हकों का ज्ञान उत्पन्न करने और विधि-विहित रीति से उन्हें सरकार से किस प्रकार लड़ना चाहिए यह सिखाना शुरू किया। सार्वजनिक सभा के द्वारा हर गाँव में जाकर यह प्रचार किया गया कि पैदावार नहीं हुई है तो लगान मत जमा कराओ। इधर 'केसरी' के द्वारा भी इस संबंध में खूब हलचल शुरू की जिससे लोगों में हिम्मत आने लगी और किसान हजारों की तादाद में सभाओं में आने लगे। इस पर सरकारी अधिकारी तिलक महाराज को 'हिंदुस्तान का पारनेल' कहकर उनकी निंदा करने लगे।

इधर १८९६ में सरकार ने विलायत से आने वाले सूत की जकात उठा ली और विलायत से यहाँ आने वाले और यहाँ बनने वाले सब कपड़े पर पांच की जगह साढ़े तीन फीसदी जकात बैठा दी। मेनचेस्टर के कपड़ों को प्रोत्साहन देने के उद्देश्य से गरीब लोगों के लिए आवश्यक कपड़ों पर साढ़े तीन फीसदी जकात बैठाना एक नवीन अन्याय था। अब तक विलायत से यहां आने वाले कपड़े और सूत पर साढ़े पाँच फीसदी जकात थी लेकिन देशी सूत और कपड़ों पर जो जकात थी वह सिर्फ २० नंबर के ऊपर के ही कपड़ों पर थी। मगर अब नीचे

के नंबर के मोटे सूत पर भी ३॥ सैकड़ा जकात बैठ गयी और ऊपर के नंबर के देशी और विलायती सूत और कपड़ों की जकात साढ़े तीन से साढ़े पांच तक आ गयी। नतीजा यह हुआ कि विलायती मिलवालों को मोटे कपड़े में भी स्वदेशी मिलवालों से प्रतिस्पर्धा करना आसान हो गया एवं महीन कपड़े पहननेवाले सम्पन्न लोगों पर कर कम हो गया और मोटे कपड़े पहनने वाले गरीबों पर लग गया। इसका लोकमान्य ने जोरों से विरोध किया। उन्होंने लोगों से कहा—'इस अन्याय का जितना प्रतिकार कर सको, करो। इसका प्रतिकार करना तुम्हारे हाथ में है भी, और वह यही कि तुम स्वदेशी कपड़ा पहनना शुरू कर दो।' इस तरह लोकमान्य ने पहली बार यह सीधा प्रतिकार का उपाय बताया। हमारी माँगों के पीछे लोक-संगठन का बल होना चाहिए और लोक-संगठन के लिए लोगों में और नेताओं में स्वार्थ-त्याग और धैर्य-बल होना चाहिए—यह भाव कांग्रेस की राजनीति में दाखिल करने का श्रेय लोकमान्य तिलक को है। इस नवीन शक्ति का जन्म १८९६ में शहरों के मध्यमवर्ग में स्वदेशी हलचल के रूप में और देहात के किसानों में अकाल आंदोलन के रूप में हो रहा था। इस तरह शक्ति को संगठित कर के उस के आधार पर सरकारी सत्ता को शह देने का अत्यंत महत्त्वपूर्ण कार्य महाराष्ट्र में लोकमान्य कर रहे थे।

लोगों में जो यह प्रतिकार भावना पैदा हो रही थी, वह उस समय बिल्कुल बाल्यावस्था में थी इसलिए कभी-कभी वह उच्छृङ्खल भी बन जाती थी। यह उच्छृङ्खलता लोकमान्य की निगाह में आ जाती थी। फिर भी उससे उन्होंने अपनी प्रतिकार शक्ति को बढ़ाने के कार्य में खलल न पड़ने दिया। यह मान कर कि ऐसा तो होता ही रहेगा, वे अपने कार्य दृढ़ निश्चय से आगे चलाते गये। उन्हें यह देखकर ही आनन्द होता था कि लोगों में प्रतिकार शक्ति आ रही है। वे प्रभावकारी संगठन के रूप में उसका नियन्त्रण और रोक करने का प्रयत्न तो करते रहे, फिर भी उन्होंने लोगों का उत्साह भंग करने अथवा जोश में आकर लोग कुछ ऊटपटांग कर गुजरेंगे, इस डर से उनमें उत्साह ही न पैदा करने की नीति मंजूर नहीं की। उनकी बुद्धि ने यह निर्णय कर लिया था कि मौजूदा

परिस्थिति में हमारा आन्दोलन कानून की मर्यादा में रहते हुए चलाया जाना चाहिए और उसके द्वारा जितनी प्रतिकारक शक्ति पैदा हो सकती है, उतनी वे कर रहे थे। इसी नीति के व्यवहार से भावी भारतीय स्वराज्य निर्माण करने वाली शक्ति जन्म ले रही है और इसी शक्ति के द्वारा हिन्दुस्तान में स्वराज्य उपस्थित होनेवाला है और उसका स्वरूप जनतंत्रात्मक होगा, इस विषय में इनके मन में कोई सन्देह न था। उन्हें यह आत्मविश्वास था कि जो शक्ति हम निर्माण कर रहे हैं वह बहुमत के द्वारा काँग्रेस में जरूर डाली जा सकती है। उन्हें यह भी विश्वास था कि जब तक काँग्रेस इस शक्ति का अवलंबन और सत्कार न करेगी, तब तक उसकी राजनीति सफल नहीं हो सकती। वे यह मानते थे कि काँग्रेस को इस पर आमादा करा देना हमारा पहला कर्तव्य है। काँग्रेस को छोड़ कर स्वतंत्र रीति से अपनी राजनीति चलाने का विचार उन्होंने कभी नहीं किया, क्योंकि उन्हें विश्वास था कि हिन्दुस्तान को स्वराज्य काँग्रेस-जैसी संस्था के द्वारा ही मिल सकता है और उसी के द्वारा भारतीय राजनीति को प्रत्यक्ष प्रतिकार का अथवा क्रान्तिवादी स्वरूप दिया जा सकता है। वे क्रान्तिवादी थे, परन्तु उनका क्रान्तिवाद वर्धिष्णु था और उसकी भित्ति आम जनता के प्रतिकार-सामर्थ्य पर खड़ी हुई थी। उसके सामर्थ्य के अनुसार बढ़ने या घटनेवाला और घट कर भी फिर बढ़नेवाला उनका क्रान्तिवाद था। लोग क्रान्ति के लिए तैयार नहीं हैं इसलिए उन्होंने क्रन्तिवाद को नहीं छोड़ा और हम क्रन्तिवादी हैं, लेकिन लोग क्रान्ति के लिए तैयार नहीं हैं, इसलिए उन्होंने लोगों को भी छोड़ नहीं दिया। वे क्रान्तिवादी थे इसलिए 'लोकनायक' हुए और लोगों को साथ लेकर चले इसलिए 'लोकमान्य' हुए। उनकी लोकमान्यता उनके लोकनायकत्व पर अवलंबित थी और 'मुखरस्तत्र हन्यते' न्याय के अनुसार लोकनायक पर होनेवाले आघात उन्होंने आनन्द से शिरोधार्य किये और जब लोगों की और सरकार की लड़ाई छिड़ गयी तब उन्होंने कभी रणांगण से पीठ नहीं दिखायी। इसीलिए उनकी लोकमान्यता कभी अस्तंगत नहीं हुई। उनके प्रतिपक्षी अथवा उनके अन्ध अनुयायी जैसा मानते हैं, वह लोकानुरंजन के ,सस्ते दाम में मिली न कुछ लोकमान्यता नहीं

थी, बल्कि दृढ़ निश्चय, अलौकिक साहस और सुख तथा स्वार्थ-त्याग के दाम पर खरीदी हुई बहुमूल्य वस्तु थी। १८९७ में पूना में जो प्लेग-प्रकरण हुआ उसमें उनके इन सद्गुणों की परीक्षा का समय आ गया। मि० रेंड पूना में प्लेग-कमिश्नर नियुक्त हुए। उसके बाद फर्वरी से मई तक पूना में प्लेग हटाने के लिए एक प्रकार का कठोर फौजी शासन जारी किया गया। गोरी और काली सेना बुलायी गयी और गोरे सोल्जरों के द्वारा लोगों के घरों की तलाशियाँ ली गयीं। घर साफ कराये गये। घरों में धुआँ देकर सफेदी करायी गयी। इस सिल्सिले में लोगों पर भारी जुल्म किया गया। इसके बाद ही श्रीरेंड और श्री आयर्स्ट का खून वहाँ हो गया। ऐसा होते ही सारे ब्रिटिश साम्राज्य में तलहका मच गया और विलायत से पूना तक सब कहीं हिन्दुस्तान में बढ़ते हुए असंतोष और राजद्रोह की चर्चा हुई। इस पर तिलक की उग्र राजनीति से लोगों की इस प्रतिकार भावना का बादरायण सम्बन्ध जोड़कर पूना के अखबारों पर जब सरकारी अधिकारी और अंग्रेजी अखबार टूट पड़े, तब लोकमान्य तिलक ने निडर होकर सरकार से सवाल किया—क्या सरकार का दिमाग मुकाम पर है? उन्होंने कहा—शासन करने का अर्थ बदला लेना नहीं है। इस तरह सरकारी सख्तियों के विरोध में उन्होंने अपनी आवाज उठायी।

१८९५ से चाफेकर बन्धुओं—दामोदर व बालकृष्ण चाफेकर—ने पूना में एक संस्था कायम की थी। उसके युवकों का ध्येय था, धर्म-रक्षण जो एक अर्थ में स्वराज्य-प्राप्ति है। स्वधर्म-रक्षण और स्वराज्य-प्राप्ति में उस समय भेद नहीं किया जाता था और शिवाजी तथा गणपति उत्सवों में इसी नीति को लेकर व्याख्यान आदि होते थे। बम्बई में महारानी विक्टोरिया की मूर्ति पर डामर लगा देनेवाला व्यक्ति चाफेकर बन्धु की इसी संस्था का आदमी था। इस तरह चाफेकर बन्धु के स्वधर्म-रक्षण के हेतु और स्वसंस्कृति के अभिमान से प्रेरित युवक गण उस समय गुप्त षड्यंत्रों के द्वारा और अखाड़े स्थापन करके शिवाजी महाराज का उदाहरण सामने रख कर स्वातंत्र्य-प्राप्ति का यत्न कर रहे थे और यह सत्य है कि उनके अन्तःकरण में देशाभिमान की ज्योति प्रज्वलित करने में लोक-

मान्य तिलक और उनका 'केसरी' कारणीभूत थे। परन्तु ऐसा नहीं मालूम पड़ता कि क्रान्तिकारियों का मार्ग लोकमान्य को पसन्द रहा हो। यद्यपि सरकारी अधिकारी इस खून का दोष देशभक्त समाचारपत्रों के मत्थे मढ़ रहे थे, परन्तु ऐसे अत्याचारों की वास्तविक जिम्मेदारी उन जुल्मों और अत्याचारों पर है जो अधिकारियों द्वारा राजकाज के सिल्सिले में किये जाते हैं। ऐसे अवसर पर सरकारी अन्याय और अत्याचार की आलोचना करके विधिवत् मार्ग से उन्हें दूर करने का प्रयत्न करना और लोगों पर बेकायदा होनेवाले जुल्मों के प्रतिकार का न्यायोचित मार्ग उन्हें दिखाना देशभक्त लोकनायकों का आवश्यक कर्तव्य है। लोगों के दिलों में पराधीनता के प्रति तिरस्कार उत्पन्न करना और उनकी प्रतिकार-शक्ति को जाग्रत करना राजद्रोह नहीं है, बल्कि सशस्त्र बगावत को प्रत्यक्ष प्रोत्साहन देना वास्तविक राजद्रोह है। ऐसा करनेवालों को सजा देना और अत्याचारी लोगों को तलाश करके उनके लिए मुनासिब कार्रवाई करना अधिकारियों का कर्तव्य है, परन्तु इस कर्तव्य का पालन करते हुए अपराधी और निरपराध दोनों पर एक साथ टूट पड़ना समझदारी नहीं है। अत्याचार की प्रवृत्ति नष्ट करने का मार्ग यह नहीं है, बल्कि लोगों पर अत्याचार न करना है। सरकार खुद यदि कानूनों का पालन करे और अपना दिमाग ठण्डा रक्खे तो लोगों के भी दिमाग का पारा नहीं चढ़ता। सशस्त्र क्रान्ति को रोकने की जिम्मेदारी जिस प्रकार लोकनायकों पर है उसी प्रकार सरकारी अधिकारियों पर भी है। अगर वे उसको यथावत् न निभावें तो फिर लोकनायकों को लोगों के अत्याचारों के लिए जिम्मेदार ठहराना और वे महज देशभक्ति, धर्मभक्ति व प्रतिकार भावना जाग्रत करते हैं इस बिना पर उन्हें राजद्रोही सिद्ध करना अन्याय है। राज-द्रोह की मीमांसा करते हुए लोकमान्य लिखते हैं—

"जिस लेख (या भाषण) के द्वारा राज्य के उथल-पुथल अथवा विप्लव होने की संभावना हो उसका समावेश राजद्रोह में होता है, परन्तु सरकार के द्वारा जो भूल और अन्याय होता है, उसे साफ तौर पर सरकार को बताना या लोगों को समझाना या उस पर कठोर टीका करना किसी प्रकार आपत्तिजनक नहीं समझा जा सकता।"

परन्तु बाद में राजद्रोह की मूलधारा में सरकार ने संशोधन किया और सरकार के प्रति अप्रीति उत्पन्न करना अपराध ठहराया और प्रीति के अभाव को अप्रीति मानकर 'केसरी' के लेखों के कारण लोकमान्य को १॥ साल की सज़ा दी गयी। इसी समय पूना के सरदार घराने के दोनों नातू-बन्धुओं को १८२७ के २५ वें रेगुलेशन में पकड़कर बिना मुक़द्दमा चलाये जेल में रख छोड़ा। इसी समय महाराष्ट्र और पूना के बाहर के कई अखबारों पर मुक़द्दमे चले और सजाएँ हुईं। परन्तु लोकमान्य पर जो मुक़द्दमा चलाया गया, उसने सारे हिन्दुस्तान का ध्यान आकर्षित कर लिया। यहाँ तक कि १८९६ के कांग्रेस-अधिवेशन के अध्यक्ष श्री शङ्करन नायर को यह कहना पड़ा कि लोकमान्य पर अन्याय हुआ है। उन्होंने यह भी राय दी कि हिन्दुस्तान में राजद्रोह के मामलों में ज्यूरी हिन्दुस्तानी ही होनी चाहिए। उन्होंने अपने भाषण में भारतीय और ब्रिटिश नागरिकों के समान अधिकारों और दर्जों के सिद्धान्त का जोरों से प्रतिपादन किया और कहा कि 'स्वराज्य तथा भाषण और लेखन स्वातंत्र्य मिलने चाहिएँ। इनके बिना जनता का दारिद्र्य और रोगों से छुटकारा नहीं हो सकता।' अपने भाषण के अन्त में उन्होंने कहा कि 'ब्राह्मणों से लेकर अस्पृश्य तक सबके समान अधिकारों के लिए हम लड़ रहे हैं। इसी समता की भावना से हम अपने शासकों के उन कृत्यों की टीका करते हैं जिनमें विषमता का परिचय मिलता है। यूरोपियनों और हिन्दुस्तानियों में क़ानूनी विषमता जिस अंश तक दूर होगी और जिस हद तक हमें स्वराज्य दिया जायगा, उसी हद तक हम मानेंगे कि स्वतंत्रता की दिशा में हमारी प्रगति हो रही है।'

सुरेन्द्रनाथ बनर्जी ने इन गिरफ्तारियों और कारावास का निषेध करनेवाले प्रस्ताव पर बोलते हुए कहा—'पूना में जो ज्यादा पुलिस बिठायी गयी है, यह बेजा हुआ। श्री तिलक और पूना के दूसरे संपादकों को कारावास दिया गया, यह और भी बड़ी भूल हुई। श्री तिलक के प्रति सहानुभूति से मेरा हृदय भर गया है और सारे देश की आँखों से आज आँसू बह रहे हैं।' इस प्रकार अपने स्वार्थत्याग और अलौकिक धैर्य से लोकमान्य ने सारे राष्ट्र के अंतःकरण में अपना घर कर लिया। उनकी जेल-

यातना सारे राष्ट्र ने अपनी यातना समझी और सारे संसार को यह दिखा दिया कि हिन्दुस्तान एक राष्ट्र है, उसकी संवेदना-शक्ति जागृत है और अपने ज़ालिमों की अपेक्षा अपने लिए ज़ुल्म सहनेवालों के प्रति अधिक निष्ठा रखने की पावन वृत्ति हिन्दुस्तान में भी जीवित है। इस समय यह भी सिद्ध हुआ कि भारतीय जनता पर राज्य करने का नैसर्गिक अधिकार उन लोगों को नहीं है, जो उसके द्रव्य का अपहरण करके उस पर मुल्की सत्ता चलाते हैं, बल्कि उन लोगों का है जो कि इस ज़ुल्म और द्रव्य-हरण का प्रतिकार करने के लिए विधि-विहित और न्यायोचित मार्ग से झगड़ते हैं और उस मार्ग में आनेवाली अनिवार्य आपत्तियों को झेलने के लिए खुशी-खुशी तैयार होते हैं। परन्तु अभी वह समय नहीं आया था, जब कि इस सिद्धांत का ज्ञान लोगों को हो और कांग्रेस की नीति उसके अनुसार निर्धारित की जाय। अब भी कानून और ज़ाब्ते से सज़ा पानेवाले देशभक्तों का खुल्लमखुल्ला अभिनन्दन करने का साहस कांग्रेस में नहीं आया था।

इसी समय महाराष्ट्र में एक दूसरा युवक नेता अखिल भारतीय राजनीति के क्षितिज पर उदय पाने लगा था। यह थे माननीय गोखले। माननीय गोखले अपनी राजदरबारी राजनीति के कारण इतने प्रसिद्ध हो गये कि जैसे तिलक को लोगों ने 'लोकमान्य' पदवी दी, उसी प्रकार मानों लोगों ने गोखले को भी 'माननीय' पदवी दे दी हो। लोगों की ओर से राजदरबारी राजशासकों का विरोध करके भी सरकार-मान्यता कायम रखने का सम्मान सबसे पहले उन्हीं को मिला। परन्तु लोग जो यह कहते हैं कि राजमान्यता और लोकमान्यता ये दोनों वैभव उन्होंने भोगे, यह ठीक नहीं। तिलक को जैसे राजमान्यता अपने जीवन में कभी नहीं मिली, करीब-करीब वैसे ही गोखले को अपने जीवनकाल में अधिक लोकमान्यता भी कभी नहीं मिली। राजमान्यता और लोकमान्यता दोनों का भरपूर उपयोग तो आधुनिक भारत के इतिहास में महात्मा गांधी को ही प्राप्त हुआ। फिर भी अपने जीवन-काल में दरबारी राजनीति में माननीय गोखले ने अग्र स्थान प्राप्त किया और १८९७ से अगले २० साल का आधुनिक भारत का इतिहास गोखले और तिलक इन दो

महाराष्ट्रीय नेताओं के नेतृत्व में काम करने वाले दो अखिल भारतीय राजनैतिक पक्षों का इतिहास है, ऐसा कहने में कोई अत्युक्ति नहीं है। गोखले तिलक से १० साल छोटे थे, फिर भी राजनैतिक विचारों में वे तिलक के पहले की पीढ़ी के शिष्य थे, इससे उस पीढ़ी की राजनीति के नेतृत्व करने का गौरव उन्हें मिला और दरबारी राजनीति और कांग्रेस के कार्य्य में उनकी प्रगति उनकी उम्र के लिहाज़ से बहुत तेज़ी से होती गयी। पहले जब वे 'डेक्कन एजुकेशन सोसायटी' में आये, तब ऐसा कहते हैं कि आगरकर की अपेक्षा तिलक के विचारों की तरफ़ ही उनका झुकाव अधिक था' लेकिन थोड़े ही दिनों में सुधारक के नाते उन्होंने आगरकर का नेतृत्व स्वीकार कर लिया और 'सुधारक' पत्र निकलने के बाद चार वर्ष तक उसके अँगरेजी सम्पादक का काम किया। पर थोड़े ही दिनों में वे न्यायमूर्ति रानडे की कक्षा में आ गये और शीघ्र ही उनके शिष्य बन गये। तिलक और आगरकर ने जिस प्रकार अपनी स्वतंत्र बुद्धि से अपना स्वतंत्र मार्ग निश्चित किया था, ऐसी स्थिति गोखले की नहीं थी। वे न्यायमूर्ति रानडे के श्रद्धापूर्वक शिष्य बने और अपनी समस्त बुद्धि-सर्वस्व से उस श्रद्धा के प्रकाश में दिखनेवाले मार्ग का अनुसरण करने लगे। रानडे उनके द्रष्टा गुरु थे और गोखले कभी इस बात को नहीं भूले कि वे उनके एकनिष्ठ शिष्य हैं। उनकी प्रज्ञा चाहे अलौकिक न हो, पर उनकी श्रद्धा अलौकिक थी इसमें संदेह नहीं। इस श्रद्धा के बल पर उन्होंने कांग्रेस का नेतृत्व प्राप्त किया और प्रागतिक राजनीति को स्वार्थत्याग की आध्यात्मिक भूमिका पर अधिष्ठित किया। प्रागतिक राजनीति में यद्यपि क्रान्तिकारियों की वीर वृत्ति के लिए बहुत गुंजायश नहीं थी, तो भी निरन्तर लोकसेवा और आजन्म स्वार्थत्याग के जीवन में इसकी आवश्यकता तो है ही, यह जानकर उन्होंने 'भारत सेवकसमिति' (Servants of India Society) नाम की अपूर्व संस्था स्थापित की। प्रागतिक राजनीति कोई स्वार्थरक्षा का धन्धा नहीं है और प्रागतिक पक्ष कोई राव साहब और राव बहादुरों का पिंजरापोल नहीं है और धनिक वर्गों का 'हित रक्षक संघ' ही है, बल्कि क्रान्ति मार्ग से होनेवाली प्रगति की व्यर्थता को देखकर क्रमविकास का मार्ग निश्चयपूर्वक और

नित्य सेवात्मक स्वार्थत्यागपूर्वक ग्रहण करनेवाले देशभक्तों का एक सम्प्रदाय है यह सिद्ध करने का श्रेय माननीय गोखले को ही है। अनेक मामूली बुद्धिमानों से माननीय गोखले की बुद्धिमत्ता असामान्य थी, परन्तु उन्होंने यह देख लिया कि राष्ट्रीय उन्नति के शिखर तक जाने का स्वतंत्र मार्ग खोज निकालने के लिए आवश्यक द्रष्टत्व या स्वतंत्र प्रज्ञा अपने में नहीं है। एकद्रष्टा गुरु के उपदेशानुसार दृढ़ श्रद्धा व द्रुत गति से प्रगति-पथ पर चलते हुए ध्येय-शिखर तक पहुँचनेवाले वे एक असामान्य भारत-पुत्र थे, इसमें शङ्का नहीं।

"अज्ञश्चा श्रद्धधानश्च संशयात्मा विनश्यति" इस गीता की उक्ति के अनुसार न पूरा शिष्यत्व और न पूरा द्रष्टत्ववाली अवस्था में अपना स्वतन्त्र मार्ग निश्चित करने की और नेतृत्व की महत्त्वाकांक्षा रखकर अपना और अपने अनुयायियों का विनाश करनेवाले वे न थे। हिन्दुस्तान के सदृश खण्डतुल्य प्रचंड और प्राचीन राष्ट्र को स्वतन्त्रता का अभिनव मार्ग दिखाने का कार्य बहुत ही थोड़े लोग कर सकते हैं, परन्तु द्रष्टा पुरुषों द्वारा दिखाये मार्ग का अनुसरण करना प्रत्येक सामान्य प्रज्ञावाले मनुष्य के लिए भी निश्चय, श्रद्धा और त्याग के बल पर संभवनीय होता है। परन्तु ये गुण भी बहुत दुर्लभ हैं। आजन्म शिष्यत्व का पेशा स्वीकार करते हुए स्वतन्त्र प्रज्ञा का अहंकार नहीं छूटता और इसीलिए अन्त को 'न इस घाट, न उस घाट' वाली स्थिति में डूबते-उतराते हुए अहंकार से संसार के उपहास के पात्र बननेवाले और बिल्कुल मामूली प्रज्ञा पर राष्ट्र के स्वतंत्र नेतृत्व का मान-सम्मान खरीद करने की इच्छा रखनेवाले लोग बहुत मिलते हैं। परन्तु संसार के इतिहास का यह अनुभव है कि यह सम्मान का सौदा इतना सस्ता नहीं है।

हिन्दुस्तान के आय-व्यय की जाँच करने के लिए १८९६ में वेल्बी कमीशन नामक रॉयल कमीशन विलायत में नियुक्त हुआ था। इस कमीशन को बिठाने में दादाभाई आदि हिन्दुस्तानी नेताओं और भारतीय जनता के अँगरेजी हितेच्छुओं का यह उद्देश था कि ब्रिटिश पार्लमेंट को यह दिखा दिया जाय कि ब्रिटिश शासन-पद्धति के कारण हिन्दुस्तान दिन-ब-दिन कैसा भिखारी होता चला जा रहा है और शासन-कार्य में भारतीय

लोगों का प्रवेश कराया जाय, सैनिक खर्च में कमी की जाय, साम्राज्य-विस्तार के लिए हिन्दुस्तान पर लादा जानेवाला खर्च इंग्लैंड उठावे, विलायत में भारतमंत्री और भारतमण्डल (India Offiice) में होनेवाला खर्च इंग्लैंड चलावे। मतलब यह कि हिन्दुस्तान और इंग्लैंड का सारा आर्थिक व्यवहार मालिक और गुलामवाले सिद्धान्त पर न चलाते हुए एक साम्राज्य के दो समान दर्जे के हिस्सेदार होने के तत्व पर चलाया जाय और भारतीय आय-व्यय पर भारतीय जनता का थोड़ा-बहुत नियंत्रण हो। खुद दादाभाई इस कमीशन में नियुक्त हुए थे, जिससे लोगों के दिल में बहुत आशा उत्पन्न हुई थी। इसके सामने गवाही देने के लिए सुरेन्द्रनाथ बनर्जी, वाचा, सुब्रह्मण्यम् अय्यर जैसे बड़े-बड़े नेता थे। इस समय पूना की डैक्कन-सभा की तरफ से प्रो० गोखले भेजे गये थे। इंग्लैंड में काम के लिए पूना से किसी लोक-प्रतिनिधि के जाने का यह पहला ही सुयोग था। माननीय गोखले ने वेल्बी कमीशन के सामने जो गवाही दी, वह बहुत ही युक्तियुक्त और बढ़िया रही, और तभी से लोगों को विश्वास हो गया कि रानडे का यह युवक शिष्य आगे चलकर इंग्लैंड में बसीठी करने के लायक सिद्ध होगा। खुद लो० तिलक ने भी यह कबूल किया कि गोखले ने अपनी विलायत-यात्रा से अपने विद्वान् गुरु का गौरव बढ़ाया। भारतीय राजनीति का स्वरूप शुरु से अखीर तक द्विविध सरकाराभिमुख और लोकाभिमुख रहा है, इन दोनों अभिमुखों के पीछे एक अन्तःकरण और एक शक्ति जब तक न होगी, तब तक उसे सफलता नहीं मिल सकती। सार्वजनिक सभा अथवा कांग्रेस जैसी लोक-प्रतिनिधि सभाओं के द्वारा और उनके अनुशासन में यह राजनीति लोकसत्ता के तन्त्रानुसार बहुमत से चलती है। इसी में इसका वास्तविक स्वास्थ्य और बल है, परन्तु दुर्दैव से महाराष्ट्र में रानडे-पक्ष और तिलक-पक्ष ऐसे दो पक्ष जो इस समय निर्माण हो गये, वे इस प्रकार की एक संस्था में रह नहीं सके। इसलिए सरकाराभिमुख और लोकाभिमुख राजनीति का अन्तःकरण एक नहीं रह सका। इससे राष्ट्र की बेशुमार हानि हुई है, फिर इसमें दोष किसी का ही रहा हो।

रैंड और आयर्स्ट के खून की तथा पूने की दो महिलाओं पर गोरे

सोल्जरों द्वारा अत्याचार होने और एक के प्राण देने की खबर गोखले को इंग्लैंड में लगी, जिसे उन्होंने 'मैनचेस्टर गार्जियन्' में छपवाया, परन्तु सबूत न मिलने के कारण अन्त में माफी माँगी। इस घटना से गोखले लोकनिन्दा के भाजन बने। निष्पक्ष दृष्टि से देखा जाय तो कहना होगा कि इस प्रकरण में गोखले ने कोई भूल की हो ऐसा नहीं प्रतीत होता, परन्तु, तिलक जैसे राजनीतिज्ञों को यह महसूस होना स्वाभाविक था कि माफी के शब्द नपे-तुले न थे। तिलक की ब्रिटिश राजनीतिज्ञों को देखने की भूमिका शत्रुता की थी और गोखले की भूमिका ब्रिटिश साम्राज्य की ओर परमेश्वरीय प्रसाद की दृष्टि से देखने की भावनात्मक थी और यही दोनों में मूल अन्तर था। तिलक की राजनीति में माफी के लिए जगह तो थी, परन्तु वह सिर्फ जाब्ते कानून को भुगताने के लिए। गोखले की राजनीति में माफी का स्वरूप एक प्रकार से धार्मिक या प्रायश्चित्त के तौर पर था। १८९७ में अमरावती में जो कांग्रेस का अधिवेशन हुआ, उसमें इन दोनों राजनीतियों का स्वरूप बिल्कुल स्पष्ट हो गया और यह दिखाई दिया कि तिलक की राजनीति लोगों को मान्य हो रही है।

वेल्वी कमीशन के थोड़े ही दिन बाद हिन्दुस्तान में लार्ड कर्जन का जमाना शुरू हुआ। १८९९ में वे हिन्दुस्तान के वाइसराय हुए। उनके जमाने को हिन्दुस्तान की गरीबी और दुर्दैव का जमाना कहना चाहिए। १८९७ में सारे हिन्दुस्तान में अकाल और प्लेग का जबर्दस्त दौर-दौरा रहा। १८९९ और १९०० में तो अकाल के कारण लाखों लोग अन्न-अन्न करके मर गये। उसके कारण ४ साल तक अकाल रहा। इन अकालों और प्लेग से भारत भूमि मानों श्मशान भूमि बन गयी। इन संकटों के कारण यद्यपि प्राकृतिक थे तथापि इन्हें दूर करने के साधन उपलब्ध होने पर भी हम उनका उपयोग नहीं कर सकते, इसका कारण हमारी राजनैतिक गुलामी है, ऐसा हिन्दुस्तान की निवृत्ति-मार्गी और अल्प-सन्तुष्ट जनता भी समझने लगी। हम मर्त्यलोक में रहते हैं और हमें एक दिन मरना ही है, अतः मनुष्य को मरण का भय न रखना चाहिए—यह ठीक है। परन्तु जब हर घर से युवक, प्रौढ़ और बालक-बालिकाओं की चिता जलाने की नौबत आती है और घर-घर में बाल-विधवाओं की संख्या

बढ़ने लगती है, तो इसे मर्त्यलोक का शाश्वत चिह्न नहीं कह सकते। इसे समझने के लिए बहुत पांडित्य की भी जरूरत नहीं थी। इसी तरह हमारे देश से करोड़ों मन अनाज विदेशों को जा रहा है, जिसके फलस्वरूप देश के लाखों किसान भूखों मर रहे हैं। इसमें भी परमेश्वर का कोई दोष नहीं, बल्कि अपना अथवा अपनी राजनैतिक परिस्थिति का ही कुछ दोष होगा, यह एक अपढ़ आदमी भी समझ सकता था। एक और बात भी थी। एक ओर तो जनता दरिद्रता, अकाल और रोगों से पीड़ित होकर मौत के मुँह में जा रही थी, दूसरी ओर हमारी आँखों के सामने ही अधिकारी लोग चैन की बंसी बजा रहे थे। एक ओर किसानों का दिवाला निकल रहा था तो दूसरी ओर सरकार के खज़ाने में रुपयों की वर्षा हो रही थी। यह वैषम्य सुरेन्द्रनाथ बनर्जी ने १९०२ में अहमदाबाद कांग्रेस के अध्यक्ष पद से भाषण देते हुए बड़ी मार्मिकता से प्रदर्शित किया था,—"एक ओर सरकारी खजाने में रुपये की बाढ़ आ रही है और दूसरी ओर जनता भूखों मर रही है यह वैषम्य किसी को भी खटके बिना नहीं रह सकता। १८७७–७८–८९–९२–९७ और १९०० के तमाम अकालों में मिलकर १।।–२ करोड़ लोग काल के ग्रास हो गये। इधर सरकार तरह-तरह से अपनी आमदनी बढ़ाने में मशगूल थी। १८८४-८५ से लेकर १९०२ तक के सालों में करीब २८ करोड़ रुपये की बचत सरकार को हुई और इसका मुख्य कारण यह है कि १८८५ से इस तरह कर लगाये गये कि जिससे ६ करोड़ रुपये ज्यादा आमदनी होती थी। माननीय गोखले ने लार्ड कर्जन-कालीन बजट पर बहुत ही युक्तियुक्त सुबोध और सरस भाषण दिये और यह दिखलाया कि सरकार को प्रतिवर्ष बचत क्यों हो रही है? राष्ट्र-संवर्द्धन में उसका उपयोग कैसे किया जाय? लोगों के सिर से कर का बोझ कम करना सरकार का कर्तव्य है और यह बचत देश का उत्कर्ष साबित नहीं कर रही, बल्कि उचित् से अधिक कर लगाने की अर्थात् एक तरह से जुल्म करने की प्रवृत्ति जाहिर कर रही है, यह उन्होंने बहुत ही अच्छे ढंग से सिद्ध कर दिया। गरीब देश का बजट कैसा होना चाहिए, किस वर्ग पर कितना कर लगाना चाहिए, कौन सा कर कैसे कम किया जाय,

आम जनता की हालत सुधारने में कैसे मदद करनी चाहिए और सुशिक्षित नेताओं का नियंत्रण यदि देश के आय-व्यय पर हो तो वे उसकी कैसी व्यवस्था करेंगे, इसका शास्त्र-शुद्ध परन्तु सुबोध और साधार किन्तु सरस विवेचन गोखले के इन भाषणों में मिलेगा। इस कारण जिन गोरे अखबारों ने लोकमान्य तिलक को 'पारनेल' की उपमा दी उन्हीं ने माननीय गोखले को 'ग्लैडस्टन' की उपमा दी। ये दोनों उपमाएँ यथार्थ हैं। फर्क इतना ही है कि ग्लैडस्टन भर पेट वेतन लेकर देश-कार्य करते थे और गोखले का देश पराधीन था, इसलिए उन्हें दरिद्रता का व्रती होकर सरकारी नीति पर निष्फल टीका करते हुए अपनी बुद्धिमत्ता और देश-भक्ति का प्रदर्शन करके ही रह जाना पड़ता था। लोकमान्य तिलक और पारनेल में भी ऐसा ही फर्क था। चारित्र्य की शुद्धता और तेजस्विता इन दो गुणों में तो लोकमान्य पारनेल से श्रेष्ठ थे ही, परन्तु उनका देश आयर्लैंड से १५–२० गुना बड़ा है और उसी मात्रा में उसकी स्थिति भी अधिक अवनत थी। ऐसे खण्डतुल्य प्रचण्ड राष्ट्र को जाग्रत कर प्रतिकार-क्षम बनाने का कार्य उस आइरिश नेता के काम की अपेक्षा अनेक गुना अधिक विकट और कम फलदायी था। इस देश में ऐसा काम एक निष्काम कर्मयोगी ही कर सकता था। इस दृष्टि से विचार करते हुए माननीय गोखले और लोकमान्य तिलक की वास्तविक योग्यता ग्लैडस्टन अथवा पारनेल से एक व्यक्ति के नाते बहुत बड़ी थी। परन्तु उनका जन्म 'पिछड़ी हुई' संस्कृति में होने के कारण उनकी तुलना योरपियन संस्कृति में जन्मे श्रेष्ठ मुत्सद्दियों से हो सकती है, यह देखकर उस समय के लोग एक प्रकार का अभिमान अनुभव करते थे और उन्हें यह आत्मविश्वास होता था कि हम फिर अपनी प्राचीन श्रेष्ठता को पा लेंगे अथवा कम से कम दूसरे राष्ट्रों की बराबरी में तो आही सकेंगे।

हिन्दुस्तान का गोरा-समाज नौकरशाही और ब्रिटिश पूँजीपतियों की प्रतिनिधिस्वरूप भारत सरकार यह परम्परारक्षक (Conservative) पक्ष और भारतीय जनता का प्रतिनिधिभूत सुशिक्षित नेता वर्ग यह प्रागतिक अथवा लिबरल पक्ष—ऐसी गोखले की राजनीति की भूमिका थी जहाँ लोकमान्य के राज-कारण में ब्रिटिश सरकार विदेशी नेता और

ब्रिटिश पूँजी की गुलामी से छुड़ाकर भारतीय नेता आज़ादी में ले जानेवाले जनता के विश्वस्त लोकनायक के रूप में आते थे। पहिले पक्ष को भारतीय राजनीति अनियन्त्रित राजसत्ता को लोकसत्ता में परिवर्तित करनेवाली प्रतीत होती है तो दूसरे पक्ष को एक राष्ट्र के जबड़े से दूसरे राष्ट्र को मुक्त करने वाली मालूम होती है। पहले के लिए यह स्पष्ट स्थिति भूल जाना कि 'हम गुलाम राष्ट्र हैं', शक्य नहीं था उसी प्रकार दूसरे के लिए 'हमारा भावी स्वराज्य लोकसत्ताक होगा' यह विस्मृत होना भी संभवनीय न था। परन्तु पहले का जोर लोकसत्ताक उदार तत्त्वों पर विशेष था तो दूसरे का स्वातंत्र्य-प्राप्ति की जाज्वल्य राष्ट्रीय भावना पर अधिक था। पहले की राष्ट्रीय भावना चन्द्रमा की तरह शीतल और सौम्य थी, तो दूसरे की स्वातंत्र्य-भावना मध्याह्न के सूर्य की तरह प्रखर और तेजस्वी थी। पहले पक्ष के कुछ लोग कभी-कभी इस बात को भूल जाते थे कि गुलाम देश के हैं और अधिकारारूढ़ पक्ष से ऐसा ही व्यवहार करते थे, मानों एक ही देश के भिन्न वर्ग और पक्ष हैं तो दूसरे पक्ष के कुछ लोग इस बात को भूलकर कि भारतीय स्वराज्य आम जनता के बल से ही मिलनेवाला है और लोकसत्ताक ही होगा, देश की स्वतंत्रता के अवशेष-स्वरूप मध्ययुगीन राजे-रजवाड़ों की ओर स्वातंत्र्य-प्राप्ति की आशा से देखते थे। इन दोनों पक्षों के मूलभूत दृष्टिकोण में यह तात्विक भेद था। लॉर्ड-कर्जन के मनमाने और उद्दंड शासन-काल में यह तात्विक भेद अधिकाधिक स्पष्ट एवं विशद होता गया और उसी के हिसाब से दोनों पक्षों का अंतर भी बढ़ता गया।

लॉर्ड कर्जन का ध्येय अथवा नीति ही यह थी कि हिन्दुस्तान के प्रागतिक पक्ष अर्थात् नरम दल की राजनीति का पाया ही ढीला कर दिया जाय। प्रागतिक राजनीति का आधार था—महारानी विक्टोरिया की १८५८ की घोषणा और ब्रिटिश राजनीतिज्ञों के समय-समय पर दिये गये अभिवचन। लॉर्ड कर्जन ने कई बार यह स्पष्ट कह दिया कि यह घोषणा राजा और प्रजा में हुआ कानूनी ठहराव नहीं है और उनका यह भी मत था कि आनुवंशिक तथा परंपरागत संस्कारों के कारण अंग्रेज नौकरशाही में जो कार्यक्षमता है वह हिन्दुस्तान के पढ़े-लिखे लोगों में कभी

नहीं आ सकती इसलिए यहाँ की बड़ी और ऊँची नौकरियाँ अंग्रेजों को ही मिलनी चाहिएँ। अपने उच्चार और आचार के द्वारा वे यह भी दिखलाते कि भारतीयों को धीरे-धीरे योग्य बनाकर शासन-भार उनके हाथ में सौंप देना हमारा ध्येय है, ऐसा जो राजनीतिज्ञ लोग कहा करते हैं उस पर विश्वास करनेवाले लोग बड़े मूर्ख हैं। वे यह भी प्रदर्शित करते कि हिन्दुस्तान की आम जनता तो राजभक्त ही है, कांग्रेस के द्वारा मुट्ठी भर लोग उछल कूद करते हैं। दलीलबाज़ी से उनका यह भ्रम दूर करना शिक्षित लोगों के लिए शक्य न था। तब विरोध और बाधा डालने का ही मार्ग नेताओं के सामने बाकी था। परन्तु गोखले पक्ष के द्वारा इसके होने की आशंका न थी। लोकमान्य तिलक ने सब बातों से यह निचोड़ निकाला कि इसके लिए कांग्रेस को विरोध की नीति अख्तियार करनी चाहिए अतः उन्होंने लार्ड कर्ज़न के शासन-काल के अंत में कांग्रेस को अपने कब्जे में करने का उद्योग किया।

इधर लार्ड कर्ज़न ने हिन्दुस्तान का शासन सब तरह से अनियंत्रित या एकतंत्रीय करना शुरू किया। इसमें उनका मुख्य हेतु यह था कि हिन्दुस्तान के बाहर ब्रिटिश राज्य का विस्तार किया जाय। सरहद प्रान्त को स्वतंत्र करना, अफगानिस्तान को जोर देना, तिब्बत पर चढ़ाई करके चीन पर हावी होना और रूस को जकड़ बन्द कर देना उनकी साम्राज्य-विषयक और सैनिक नीति थी। अनियंत्रित सत्ता के इस केंद्रीकरण और आक्रामक परराष्ट्र नीति के आगे भारतीय नेताओं की बढ़ती हुई लोकसत्ता की आकांक्षाओं की कोई गुजर नहीं थी। परन्तु अपनी जिस स्वेच्छाचारिता और अहम्मन्यता के कारण लार्ड कर्जन का नाम आधुनिक भारत के इतिहास में अमर हो गया है, वह था—बंग-भंग। बंगाल में जो निःशस्त्र और सशस्त्र क्रान्तिवाद का जन्म हुआ और जिस बंगाल की राष्ट्रीय शक्ति को कांग्रेस की राजनीति के पक्ष में खड़ी करने के लिए लोकमान्य तिलक ने भगीरथ प्रयत्न किया उसका प्रथम आविर्भाव बंग-भंग के प्रतिकार के रूप में हिन्दुस्तान में हुआ।

: ८ :

क्रांतिकारी आध्यात्मिक राष्ट्रवाद

"अतः दमन, अनिवार्य था और वह इसलिए भी आवश्यक था कि सारी जनता राष्ट्रीयता की ओर झुके, किन्तु दमन से राष्ट्रीयता का जन्म नहीं हुआ। कंस ने यादवों पर जो अन्याय और अत्याचार किये उनसे कृष्णका जन्म नहीं हुआ परन्तु उनकी आवश्यकता इसलिए थी कि मथुरा के निवासी अपने मुक्तिदाता की कामना करें और जैसे ही उसका जन्म हो वैसे ही उसकी सत्ता स्वीकार कर लें। राष्ट्रीयता एक अवतार है और उसका नाश नहीं किया जा सकता। राष्ट्रीयता ईश्वर-द्वारा नियुक्त शक्ति है और सार्वभौम शक्ति में, जहाँ से उसका उद्‌गम हुआ है, अपना अस्तित्व विलीन करने के पूर्व उसे अपना ईश्वर-प्रदत्त कार्य पूरा करना चाहिए।" वन्देमातरम्*

१९०४ से १९०७ तक कांग्रेस के अधिवेशन दिनदिन अधिक उत्साह से और अधिक महत्त्वपूर्ण होने लगे। एक नवीन स्वाभिमानी राष्ट्रीय पक्ष संगठित होने लगा था। इधर इंग्लैंड में अनुदार दल की जगह उदार दल के हाथ में शासन-सत्ता आने से दादाभाई इत्यादि को हिन्दुस्तान के लिए कुछ आशा होने लगी। दादाभाई इत्यादि यह कोशिश कर रहे थे कि कांग्रेस के स्वाभिमानी उग्रदल और विनीत प्रागतिक दल दोनों के सहयोग से कांग्रेस को मजबूत किया जाय। गोखले के उत्साह और वक्तृत्व का लाभ कांग्रेस को मिले और तिलक के साहस और तेजस्विता से भी काँग्रेस को बल मिले। लोकमान्य तिलक का असली झगड़ा ह्यूम व दादाभाई नौरोजी से नहीं था, बल्कि गोखले से था। तिलक अपने ढंग से कांग्रेस को उसी नीति पर ला रहे थे जो आगे चलकर दादाभाई के १९०६ में कांग्रेस को दिये संदेश के द्वारा प्रकट हुई। अर्थात् यह कि "आंदोलन करो, अविराम आंदोलन करो व दृढ़ निश्चय या एकता के द्वारा स्वराज्य प्राप्त करो।" दादाभाई इत्यादि समझ गये थे कि इस कार्य के लिए गोखले के उत्साह व वक्तृत्व से काम नहीं चलेगा, बल्कि तिलक पक्ष के साहस और ज़बरदस्त

* Selections from the Bande Mataram. P. 168—9.

तेजस्विता की आवश्यकता होगी। और इसीलिए कांग्रेस के मूल संस्थापक बुजुर्गों की यह इच्छा थी कि उसमें फूट न पड़े और तिलक पक्ष के गुणों का संपूर्ण उपयोग उसमें हो। तिलक का भी यही मत था। उनके विचार कितने ही उग्र और क्रांतिकारी क्यों न हों, वे इस बात में दादा भाई से सहमत थे कि आगे के राजनीति-क्षेत्र में युद्ध करने के लिए कांग्रेस हमारे पास एक बड़ा हथियार है। उनका यह मत अंत तक क़ायम रहा कि नवीन पक्ष को चाहिए कि अपना बहुमत करके कांग्रेस में अपनी नवीन नीति का प्रवेश करे। उनका यह विश्वास था कि स्वराज्य की लड़ाई लड़ने के लिए हिंदुस्तान में कांग्रेस का जन्म हुआ है और वही उसे चला सकती है। १९०५ में उन्होंने 'केसरी' में लिखा था "अंग्रेजी हुकूमत की अथवा लार्ड कर्जन की फिज़ूल स्तुति करना निरर्थक है और न छोटी बातें लेकर व्यक्तियों का आलोचन-विवेचन करने में कुछ लाभ है। असली प्रश्न तो है शासन पद्धति का, मनुष्यों की व्यक्तिगत. शिकायतों का नहीं। असल बात यह है कि केनेडा या आस्ट्रेलिया की तरह हिन्दुस्तान राष्ट्रीय स्वराज्य चाहता है और जब हम सरकार को यह दिखा देंगे कि हम इस ध्येय को पाने के लिए तुल पड़े हैं तो हमें कुछ न कुछ सफलता अवश्य मिलेगी।' इसी वर्ष बाबू विपिन चंद्र पाल ने प्रागतिक पक्ष की राजनीति व राजनिष्ठा का अर्थ कानून-विहित राजनिष्ठा किया अर्थात् राजनिष्ठा या साम्राज्यनिष्ठा का अर्थ राजा के प्रति निष्ठा नहीं, बल्कि क़ायदे-कानून के प्रति निष्ठा है, ऐसा प्रतिपादन किया। उन्होंने अंधा-धुंधी व उपद्रव के खिलाफ़ अपनी राय दी और बताया कि परतंत्र भारतीयों में हार्दिक साम्राज्य-निष्ठा नहीं हो सकती। हमारी राजनीति का सच्चा आधार तो राष्ट्र-भक्ति ही हो सकती है और उसी पर राष्ट्रीय राजनीति की दीवार खड़ी हो सकती है। इसी वर्ष बनारस कांग्रेस में इस राजनीति की नयी स्थापना हुई और इस नवीन पक्ष का नेतृत्व लोकमान्य तिलक के हाथ में आया।

बंगाल में जिस प्रकार बाबू विपिन चंद्र पाल नवीन क्रांतिकारी भावना पैदा कर रहे थे उसी तरह महाराष्ट्र में स्वर्गीय शिवराम महादेव परांजपे अपने 'काल' पत्र के द्वारा पूर्ण स्वातंत्र्य का ध्येय प्रतिपादन करके

नवयुवकों में क्रान्तिकारी ढंग की राजनीति फैला रहे थे। उनके लेखों से युवक महाराष्ट्रीय आजादी पाने के लिए बेचैन हो रहे थे और उसके लिए अधिक से अधिक कुर्बानी करने के लिए छटपटा रहे थे। लोकमान्य भी ऐसा मानते थे कि विजित् लोगों के अंतःकरण में एक प्रकार की क्रान्तिकारी भावना सदैव जीती-जागती रहना बहुत आवश्यक है। वह जबतक कानून की मर्यादा नहीं लाँघती अथवा शान्ति भंग नहीं होने देती तबतक उसका निषेध करने की जरूरत नहीं होती। हिन्दुस्तान की राजनीति इंग्लैंड के जैसे स्वतंत्र व 'लोकसत्ताक' देश की वैधानिक राजनीति की जैसी नहीं हो सकती, उसे किसी न किसी प्रकार का क्रान्तिकारी स्वरूप प्राप्त हुए बगैर नहीं रह सकता, ऐसा उन्हें दिखाई देता था। भारतीय हृदय की इस क्रान्तिकारी स्वातंत्र्य-भावना को बहिष्कार योग की निःशस्त्र क्रान्ति का रूप देकर उस शक्ति को कांग्रेस की राजनीति के पीछे खड़ी करना और उसके बल पर ब्रिटिश राजनीतिज्ञों को कांग्रेस की मांगें मंजूर करने पर मजबूर कराना उस समय लोकमान्य की नीति थी। १९०४ की कांग्रेस में जो बाईस प्रस्ताव हुए, उनसे उनकी राजनीति का स्वरूप अच्छी तरह जाना जाता है। अब तक चार प्रकार की मांगें सरकार से की जाती थीं—एक आर्थिक और उद्योगों-संबंधी सुविधाओं की; दूसरी शासन-व्यवस्था में सुधार होकर लोक-प्रतिनिधियों का नियंत्रण होने संबंधी; तीसरी न्याय विभाग और शासन विभाग को अलग करने के संबंध में, व चौथी आक्रमक विदेशी नीति और बढ़ते हुए सैनिक खर्च के विरोध के संबंध में।

इन चार प्रकार की नित्य मांगों के अलावा बंग-भंग की योजना के तथा दमनकारी कानूनों के विरोध संबंधी नैमित्तिक प्रस्ताव भी समय समय पर होते रहते थे। महज़ राजनैतिक सुधारों के तात्विक विवेचन और सुशिक्षित देशभक्तों के शासन-कार्य संबंधी मतप्रदर्शन की दृष्टि से अब तक का कार्य ठीक था। लेकिन इस राजनैतिक तत्वज्ञान को व्यावहारिक राज़-कारण का परिणामकारक स्वरूप प्राप्त करा देने के लिए उन मांगों के पीछे संगठित लोकशक्ति का बल होना चाहिए और उसके द्वारा प्रत्यक्ष कृति से लोगों को यह सिद्ध कर दिखाना चाहिए कि प्रचलित शासन प्रणाली हमें

असह्य हो गयी है। इसके सिवा, ये मांगें प्रतिपक्षी कबूल नहीं करेंगे यह विचार लो० तिलक, बाबू विपिन चन्द्र पाल और लाला लाजपत राय इन तीनों ने १९०५ में एकही साथ कांग्रेस के सामने रक्खा। इस नीति पर कांग्रेस के राजकारण को ले जाने का प्रयत्न १९०५ से १९०७ तक उन्होंने किया। परन्तु सर फिरोजशाह मेहता के नेतृत्व में नरम दलवालों ने यह जिद पकड़ी कि यह प्रयत्न सफल न हो, जिसके फलस्वरूप १९०७ में कांग्रेस की नैया सूरत में टूट-फूट गयी और लाल, बाल, पाल के ये प्रयत्न व्यर्थ गये। इस प्रकार अंग्रेज राजनीतिज्ञों की भेद-नीति को सफलता मिली और कांग्रेस कमजोर पड़ गयी। मॉर्ले मिण्टो के खोखले सुधार देश के पल्ले पड़े, राष्ट्रीय पक्ष का दमन हुआ, उत्साही नवयुवक देशभक्तों ने सशस्त्र क्रान्ति का अव्यवहार्य मार्ग स्वीकार किया और कुछ समय तक ब्रिटिश साम्राज्य की संगठित, वैज्ञानिक और भेद-नीति-प्रधान दमन नीति का ताण्डव नृत्य सारे देश में जारी हुआ।

बंगभंग की योजना में अंग्रेजों की भेदनीति काम कर रही थी। बंगाल के दो टुकड़े इस ढंग से किये गये थे कि पूर्व बंगाल मुस्लिम-प्रधान प्रान्त बन जाता था और पश्चिम बंगाल में विहार और उड़ीसावासियों की बहुसंख्या हो जाती थी। अर्थात् दोनों टुकड़ों में बंगाली अल्पसंख्यक हो जाते थे। मुसलमानों को फोड़ लेने की यह नीति थी। १९ जुलाई, १९०५ को बंगभंग की योजना प्रकाशित की गयी और १६ अक्तूबर १९०५ को बंगाल के दो टुकड़े कर दिये गये। इस योजना का श्रेय लॉर्ड कर्जन को था। ७ अगस्त १९०५ को इसके विरोध का झंडा कलकत्ते में और बंगाल के दूसरे बड़े शहरों में आम सभा में खड़ा किया गया जिनमें अंग्रेजी माल का बहिष्कार करने की कसमें खायी गयीं। लोकमान्य ने इस आन्दोलन का जोरों से समर्थन किया। उन्होंने 'केसरी' के अपने एक लेख में यह बताया कि 'स्वतंत्र राष्ट्र की विधिविहित राजनीति से परतंत्र राष्ट्र की राजनीति किस प्रकार भिन्न होती है। उन्होंने लिखा कि नाक दबाये बिना मुँह नहीं खुलता। यदि हम ऐसा कार्यक्रम न बनायेंगे जो सरकार को चुभनेवाला हो तो सरकार का दर्प कभी नहीं जायगा। हजारों लाखों लोगों का समुदाय निश्चय की रस्सी से बँध जाना चाहिए। लोक-

मत का बल निश्चय में है, केवल समुच्चय में नहीं। शब्दों की ज़रूरत नहीं कृति चाहिए, और वह भी निश्चययुक्त। हिन्दुस्तान के लोकमत-विकास के इतिहास में आज ऐसा दिन आ पहुँचा है जबकि हमारे नेताओं को निश्चय के साथ आगे बढ़कर कार्य सिद्ध करना चाहिए या मुँह की भाप से दूषित वातावरण में व्यर्थ दम घुट कर मर जाना चाहिए। ऐसे आनबान के समय में आपने नेताओं से मैं कहना चाहता हूँ कि यदि आपने ठीक कदम नहीं उठाया या ढीले पड़ गये तो आप की विद्या, आपके वचन और आपके देशाभिमान से लोगों का विश्वास उठ जायगा।

'इंग्लैंड और हिन्दुस्तान दोनों की स्थिति एक दूसरे से भिन्न है। इंग्लैंड एक स्वतंत्र देश है और वहाँ की शासन-पद्धति के अनुसार भिन्न-भिन्न दल के लोगों के अधिकारारूढ़ होने की सम्भावना रहती है। जिसका बहुमत हो उसके हाथ में वहाँ राजसत्ता आ जाती है इसलिए वहाँ के नेता बहुमत को अपने पक्ष में करने का प्रयत्न करते रहते हैं। परन्तु हिन्दुस्तान की स्थिति ऐसी नहीं है। यहाँ इंग्लैंड के जैसी बहुमत की कोई कीमत ही नहीं है। यहाँ लाखों लोगों की सभाओं में प्रदर्शित राय की सरकार जरा भी परवाह नहीं करती, यह बंगभंग के इस आन्दोलन से स्पष्ट हो रहा है। और यदि हमने इसके प्रतिकार का कोई उपाय न किया तो ऐसे आन्दोलनों पर से लोगों का विश्वास बहुत जल्दी ही उठ जायगा अब ऐसा समय आ पहुँचा है कि जब हम इस जबानी जमा-खर्च से आगे बढ़ें नहीं तो हमें निरन्तर गुलामी में रहने के लिए तैयार रहना चाहिए।

महाराष्ट्र में इस आन्दोलन को देखकर लो० तिलक के मन में जैसी उत्साह की लहर उठी उसी तरह विलायत में पितामह दादा भाई की आँखों में भी यह दृश्य देखकर आनन्द के आँसू आ गये। टेक्सटन हॉल की सभा में उन्होंने कहा कि "हमारे शासक कहते हैं कि तुम्हारे देश को स्वराज्य कभी नहीं मिल सकता। हम ऐसा मौका ही नहीं देंगे जिससे तुम लोग स्वराज्य के लायक बन सको। इसके विरुद्ध हिन्दुस्तानी अब जाग्रत होकर कहने लगे हैं कि इस हालत को हम बर्दाश्त नहीं कर सकते। शासकों के और उनके बीच यही सवाल है। वे एक दूसरे से भिड़ पड़े हैं। शासक कहते हैं कि हम विदेशी और विजेता बनकर

ही यहाँ राज्य करेंगे और तुम्हारे देश की धनसम्पत्ति को अपने देश में बहा ले जाकर तुमको अकाल, प्लेग, दरिद्रता और फ़ाकेकशी के मुँह में डाल देंगे। इसके बरखिलाफ़ हिन्दुस्तानी कहते हैं कि हम ऐसा हरगिज़ नहीं होने देंगे। कलकत्ते में इस संबंध में जिस दिन पहली सभा हुई वह दिन हिंदुस्तान के इतिहास में कुंकुम से लिखने जैसा है। परमेश्वर का मैं अत्यन्त कृतज्ञ हूँ जो मैं भारतीयों की स्वतंत्रता के जन्म दिन को देखने के लिए ज़िन्दा हूँ। अब सवाल यह है कि प्रजाजन और शासकों के इस संघर्ष का नतीजा क्या होगा। बम्बई के गवर्नर और पोलिटिकल एजंट सर जॉन मालकम ने ब्रिटिश शासन-पद्धति के अनिवार्य परिणाम के संबंध में लिखा है इसका नतीजा महज हमारे अधःपात के रूप में ही न होगा बल्कि हमारे साम्राज्य के विनाश के बीज भी इसमें निहित हैं। अंग्रेजों के ही मतों के निष्कर्ष के रूप में यह कहा जा सकता है कि हिन्दुस्तान से ब्रिटिश साम्राज्य नष्ट हो जायगा। लोगों पर भी अब अपने कर्तव्य की जिम्मेदारी आ पड़ी है और उन्होंने काम भी शुरू कर दिया है। उन्होंने कह दिया कि अब हम ग़ुलाम बन कर नहीं रहेंगे। अब उन्हें ऐसा निश्चय कर ही लेना चाहिए, क्योंकि जिस दिन अँग्रेजों को यह विश्वास हो जायगा कि हिन्दुस्तानियों ने स्वराज्य प्राप्त करने का दृढ़ निश्चय कर लिया है तो फिर मुझे कोई शंका नहीं है कि वे स्वराज्य देकर ही रहेंगे। संभव है वह सुदिन देखने के लिए मैं जिन्दा न रहूँ परन्तु मुझे निश्चय है कि यह बात अवश्य होकर रहेगी।"*

इस समय स्वर्गीय गोखले और लाला लाजपतराय ये दो तरुण नेता कांग्रेस की ओर से इंग्लैंड गये। इस समय इंग्लैंड में माननीय गोखले ने वसीठी का जैसा काम किया उसकी तारीफ़ खुद लोक० तिलक को भी करनी पड़ी। इसका कारण यह कि दादाभाई की सलाह के अनुसार वैध मार्ग को नाकाफी समझ कर बहिष्कार जैसे प्रत्यक्ष प्रतिकार के साधन की ओर वे झुके और ब्रिटिश जनता के सामने उन्होंने खुल्लमखुल्ला बहिष्कार का समर्थन किया। कांग्रेस के पुराने और नये दोनों पक्ष के नेता अब बुद्धि-बल का मार्ग छोड़कर प्रत्यक्ष कृति अथवा प्रत्यक्ष प्रतिकार के रास्ते

* Speeches and Writings of Dada Bhai, P. 274-75.

की तरफ आ रहे हैं ऐसा दृश्य १९०५ में दिखाई देने लगा था और उसी से लो० तिलक को इतनी खुशी हुई थी। इस समय पूर्व बंगाल में सर बमफील्ड फुलर लेफ्टिनेंट गवर्नर थे और वे भेद तथा दमन नीति का यथेच्छ उपयोग करके इस प्रत्यक्ष प्रतिकार की क्रान्तिकारी भावना को दबाने का अत्याचार-पूर्वक प्रयत्न कर रहे थे। परन्तु लोकमान्य को यह विश्वास था कि यदि लोग निग्रह के साथ एक निश्चय से प्रत्यक्ष प्रतिकार के मार्ग पर दृढ़ रहे तो 'फुल्लरशाह' को झुके बिना चारा नहीं है। स्व० गोखले द्वारा बहिष्कार का समर्थन होते देखकर उन्हें इतनी खुशी हुई थी कि जब गोखले हिन्दुस्तान में आये तो पूना में लोकमान्य ने उनका सार्वजनिक रूप से अभिनन्दन किया।

इस समय भारतीय राजनीति में जो बहिष्कार-आन्दोलन चल रहा था वह बढ़ते-बढ़ते अन्त को निःशस्त्र अथवा सशस्त्र क्रान्ति का रूप धारण कर लेगा—यह अन्दाज उनका था। ज्यों-ज्यों भारतीय राजनीति क्रान्तिवादी बनने लगी त्यों-त्यों उसका सम्बन्ध इंग्लैंड के समाजवादी दल से अधिकाधिक होने लगा। अब तक भारतीय नेताओं का संबंध इंग्लैंड के उदार दल से था और दादाभाई आदि राष्ट्रीय नेताओं का विश्वास उस पक्ष के नेताओं पर था। मगर सितम्बर १९०४ को एम्सटर्डम में समाजवादी नेताओं की एक अंतर्राष्ट्रीय परिषद् हुई उसमें दादाभाई ने भारत की करुणास्पद दुःस्थिति का हृदयस्पर्शी चित्र खींचा जिससे ब्रिटिश साम्राज्य-द्वारा जकड़बन्द हिन्दुस्तान की ओर संसार के समाजवादी क्रान्तिकारियों का ध्यान आकर्षित किया। उस समय उन तमाम समाजवादियों ने खड़े होकर दादाभाई के भाषण का गौरव बढ़ाया और दादाभाई का जय-घोष किया। इस समय दादाभाई का स्नेह सम्बन्ध इंग्लैंड के समाजवादी नेता हिण्डमन से हो गया था। जुलाई १९०५ में श्री श्यामजी कृष्ण वर्मा ने विलायत में 'इंडिया हाउस' नामक संस्था खड़ी की और उसका उद्‌घाटन हिण्डमन साहब से कराया। उस जल्से में दादाभाई भी मौजूद थे। हिण्डमन साहब ने अपने भाषण में बहिष्कार की व्याप्ति का जो उल्लेख किया उस पर लोकमान्य तिलक के नीचे लिखे उद्‌गारों से अच्छा प्रकाश पड़ता है।

"शासक जब लोगों की बात नहीं सुनते तब लोग क्षुब्ध होकर खुद राजा को शासन करने के लिए उठ खड़े होते हैं। खुद इंग्लैंड के इतिहास में ही इसका उदाहरण मिलता है। अनेक आचार-विचारों से छिन्न-विछिन्न और शासकों द्वारा निःशस्त्र किये गये बेचारे हिन्दुस्तान के लिए यह उपाय शक्य नहीं है, परन्तु, यदि उत्तम रामबाण औषध न मिले तो क्या मामूली दवा दारू भी न की जाय······अब तक यह समझा जाता था कि विलायत में रोने-धोने से हमारी कोई सुनवाई न होगी, परन्तु अब हिण्डमन साहब ने अपने इस भाषण में ऐसा साफ-साफ कह दिया है कि यह ख्याल गलत है। अधिकार और स्वार्थ के कारण जो पर्दा आँखों पर पड़ा है वह मुँह की भाप से कभी उड़ नहीं जाता······न लॉर्ड कर्जन सुनते हैं, न बॉड्रिक साहब, न पार्लमेंट ही, तब क्या किया जाय? ऐसा कुछ इलाज करना तो जरूरी है कि जिससे इनकी आँखें खुलें। शस्त्रास्त्रों के द्वारा इस मनमानी का प्रतिकार करना तो असम्भव है तब संघ-शक्ति का प्रयोग विधिवत् शासकों का नशा उतारने में किया जा सके तो साहस और दृढ़ता से ऐसा उद्योग करना हिंदुस्तान का हित चाहनेवाले प्रत्येक मनुष्य का कर्तव्य है। हिण्डमन साहब ने इसी सिद्धांत का प्रतिपादन अपने भाषण में किया है······ऐतिहासिक दृष्टि से विचार किया जाय तो 'राष्ट्रीय बहिष्कार' ही इसका एक उपाय मालूम होता है। सर डब्ल्यू० वेडरबर्न ने 'ग्रीनविच एथिकल सोसायटी' में कांग्रेस पर भाषण देते हुए कहा कि इटली जब आस्ट्रिया के कब्जे में था तब इटालियन लोगों ने विदेशी आस्ट्रियन अधिकारियों का बहिष्कार करके शासन-व्यवस्था असम्भव कर दी थी। वेडरबर्न साहब ने कहा—यदि हिंदुस्तान के लोग इसी पद्धति को स्वीकार कर लें तो हिंदुस्तान का शासन करना शासकों के लिए कठिन हो जाय। जिस बहिष्कार का भय उन्हें था वही अवसर आज उपस्थित हो गया है।" *

अर्थात् इस बहिष्कार में महज विलायती कपड़े का बहिष्कार ही नहीं बल्कि विलायती माल का बहिष्कार भी शामिल था और वह भी इस बहिष्कार-योग की पहिली सीढ़ी थी। अन्त को जाकर कानून-भङ्ग और

* लोकमान्य तिलक के 'केसरी' में लिखे हुए लेखों का संग्रह, भाग ३, पृ० ८-९

करबन्दी रूपी निःशस्त्र क्रान्ति के अन्तिम शिखर तक पहुँच जाना, इस बहिष्कार-योग की परिसीमा थी। दादाभाई नौरोजी ने तो १८८० में ही यह कह दिया था कि स्वदेशी आन्दोलन और विलायती माल के बहिष्कार की हलचल का अन्त ब्रिटिश राज्य के बहिष्कार में हो जायगा और हिन्दुस्तान में क्रान्तिवादी राजनीति फैल जायगी। अब खुल्लम-खुल्ला इस मार्ग का उपदेश करनेवाला एक दल हिन्दुस्तान में पैदा हो गया था और लोकमान्य तिलक उसके नेता बनने जा रहे थे। इन्हीं दिनों आयर्लैंड में भी एक निःशस्त्र क्रान्तिवादी दल आर्थर ग्रिफिथ के नेतृत्व में बना और लोकमान्य तिलक को जो कि, पहले से ही आयर्लैंड के नेताओं से प्रेरणा लेते रहते थे, ग्रिफिथ साहब का निःशस्त्र क्रान्तिमार्ग ग्रहण करने की प्रवृति हुई हो तो आश्चर्य नहीं। पारनेल की मृत्यु के बाद आयरिश राजनीति पार्लमेंट में बाधा पहुँचा कर शासन-यंत्र को बेकार बना देने और प्रतिस्पर्धी शासन व्यवस्था कायम करने के निःशस्त्र क्रान्तिमार्ग तक आ पहुँची थी। ऐसी दशा में भारतीय राजनीति का क्रम-विकास बहिष्कार-योग के बल पर निःशस्त्र क्रान्तिमार्ग की ओर होना स्वाभाविक था। आर्थर ग्रिफिथ का सिनफीन दल पहले निःशस्त्र क्रान्तिवादी था। उसका सारा जोर स्वदेशी, स्वावलंबन, बहिष्कार और निःशस्त्र प्रतिकार—इन साधनों पर था। एक ओर पार्लमेंट में रुकावट डालना और दूसरी ओर सशस्त्र क्रान्ति इन दोनों के बीच का यह निःशस्त्रक्रान्तिमार्ग था। इसी समय समाजवादी क्रान्तिकारियों में भी आम हड़ताल के रूप में एक प्रकार का निःशस्त्र क्रान्तिवाद पैदा हो रहा था। परन्तु इन सब निःशस्त्र क्रान्तिवादी विचारों को कार्य रूप में परिणत करने का काम सिर्फ हिन्दुस्तान में ही हुआ है और उसका बहुत कुछ श्रेय महात्मा गांधी तथा उनके सत्याग्रही तत्वज्ञान को है।

यद्यपि स्वर्गीय गोखले के बहिष्कार-समर्थन से और लो॰ तिलक द्वारा उनके सार्वजनिक अभिनन्दन से कुछ समय ऐसा भासित हुआ मानों पूना का पक्ष-भेद मिट गया परन्तु जानकार और सूक्ष्मदर्शी लोग जानते थे कि दोनों की राजनीति की मूल भूमिका अलग अलग है। लो॰ तिलक भारतीय राजनीति को वैधमार्गी सुधारवाद से हटाकर

निःशक्रान्तिवाद की ओर ले जाने का प्रयत्न कर रहे थे। उसी समय माननीय गोखले अपने गुरु की वैध राजनीति को चिरंतन करने के लिए 'भारत-सेवक-समाज' की स्थापना कर रहे थे। १२ जून १६०५ को यह संस्था खुली। उसकी उद्देश्य-पत्रिका में 'ब्रिटिश साम्राज्य-अंतर्गत स्वराज्य' अपना राष्ट्रीय ध्येय बताया गया है और श्रद्धा व्यक्त की गयी है कि अंग्रेजों का हिन्दुस्तान से सम्बन्ध जोड़ने में हिन्दुस्तान का हित करने की ही ईश्वरीय इच्छा है। इसका यह अर्थ हुआ कि अब ब्रिटिश सम्बन्ध तोड़कर पूर्ण स्वतंत्रता स्थापित करने का प्रयत्न करना मानों ईश्वरीय इच्छा या आज्ञा का भंग करना है।

यह मानना कि एक राष्ट्र का हमेशा दूसरे राष्ट्र के अधीन बना रहना उचित है मानों यह कहना है कि मनुष्यों की दो पृथक् जातियाँ हैं। एक का विशेष साम्य पशु से है मगर उसे संयोग से मनुष्य नाम दे दिया गया है। अफ़लातून, अरस्तू आदि पुराने ग्रीक दार्शनिकों का कुछ ऐसा ही ख्याल था और आजकल भी उन बलाढ्य राष्ट्रों के कुछ लोग जो दुर्बल विदेशियों पर शासन कर रहे हैं ऐसी बातें कहा करते हैं। परंतु अब इन विचारों को कोई भी विचारशील मनुष्य नहीं मानता। हैलेनिक (ग्रीक) लोग ही अकेले शासन करने के योग्य हैं ऐसी दलील अब कोई नहीं सुन सकता। अब तो शासन-सम्बन्धी विचारों का झुकाव यह मानने की तरफ़ है कि प्रयत्न या पुरुषार्थ से इच्छित स्थिति प्राप्त की जा सकती है। फिर भी यदि कोई यह साबित कर दे कि फलाँ जाति या देश अब किसी तरह आगे नहीं बढ़ सकता तो यह कहना कि उनका समूल नाश हो जायगा ग़लत न होगा और उनका नाश जल्दी से जल्दी हो ऐसी इच्छा करना अनैतिक न होगा।*—इस तरह १९०५ तक के समय में राष्ट्रीय स्वाभिमान की जो जागृति लोकमान्य आदि नेताओं ने की उसकी बदौलत भारत-पुत्रों को यह विश्वास होने लगा था कि अब हमारा नाश किसी तरह नहीं हो सकता, बल्कि हम स्वतंत्र होकर रहेंगे और संसार का नेतृत्व करेंगे।

यह दैवयोग की ही बात है कि 'हिन्दुस्तान का परतंत्र होना एक

* आगरकर का 'निबंध संग्रह' भाग १ पृ० १८३

ईश्वरीय प्रसाद है' यह खयाल जिस तरह एक बंगाली हिन्दू नेता ने ही शुरू किया उसी तरह इसके विपरीत एक बंगाली हिन्दू नेता ने ही इस भावना को फैलाया कि ईश्वर का यह आदेश हो चुका है कि हिन्दुस्तान आजाद हो और आधुनिक भारतीय राष्ट्रीयता परमात्मा की एक अवतार-शक्ति ही है। यह जोरदार प्रेरणा लोगों को (योगी) अरविंद से मिली। जिन जिन के दिलों में इस राष्ट्रीय स्वातंत्र्य की भावना ने संचार कर लिया था वे सुख-दुःख के द्वन्द्व से मुक्त हो गये थे, बल्कि इस भावना की अभिव्यक्ति के लिए हर तरह के कष्ट उठाने में ही अपने जीवन की सार्थकता मानकर एक प्रकार का पारमार्थिक आनंद अनुभव करने लगे थे। इन अद्वैतानुभवी मुक्त आत्माओं को, जो सुख-दुःखादि द्वन्द्वों से परे हो गये थे, कोई भी काम करना कठिन नहीं मालूम होता था न कोई आपत्ति ही दुस्तर मालूम होती थी। वे यह अनुभव करते थे कि जो आपत्ति की प्रचण्ड लहरें हमारे सामने मुँह बाये आ खड़ी होती हैं वे हमें डराने के लिए नहीं, बल्कि हमारे अन्तःकरण की उससे भी प्रचण्ड शक्ति को अपना प्रचण्डतर सामर्थ्य व्यक्त करने के लिए प्रेम-पूर्वक आवाहन कर रही है। उन्हें यह भास होने लगा था कि ऊपर से प्रचण्ड दिखाई देनेवाली भौतिक शक्ति पर भी अपना प्रभुत्व चलानेवाली एक प्रचण्डतर शक्ति हमारे अन्तःकरण में है और जो ध्येय या आदर्श मानवी बुद्धि में स्फुरित होते हैं वे इस आत्मशक्ति से ही पैदा होते हैं, बल्कि बाह्यतः विरोधी दिखाई देनेवाली भौतिक शक्ति भी सचमुच हमारे अन्तःकरण की आत्मशक्ति की विरोधक नहीं, किन्तु ऊपर से जड़ दिखाई देनेवाला उसका एक स्वरूप है। बंगाली युवक यह अनुभव करने लगे थे कि आपत्ति की हिलोरों को पार कर जाना हमारे हृदय के असीम प्रेरणा-बल की एक दैवी लीला है और इसलिए उन्हें आध्यात्मिक मोक्ष तथा राष्ट्रीय स्वातंत्र्य में कोई भेद नहीं दिखाई देता था। राष्ट्रीय स्वातंत्र्य के विषम विग्रह से उत्पन्न आपत्ति की लहरों का मुकाबला वे देहज्ञान भूलकर करते थे और राजनैतिक संग्राम में आध्यात्मिक मोक्ष पद का अनुभव करने लगे। इस तरह जो बंगाली सारे हिन्दुस्तान में बोदे और दब्बू माने जाते थे वे राष्ट्रीय स्वातंत्र्य-संग्राम में सबसे आगे निकल गये और जो

वेदान्त इस बात के लिए दुनिया भर में बदनाम था कि वह व्यक्ति या राष्ट्र को संसारिक जीवन-कलह के अयोग्य बना देता है उसी का आधार लेकर वे प्रवृत्ति-क्षेत्र में कूदे और सारे संसार को राष्ट्र-संगठन और राष्ट्रीय स्वातंत्र्य के मार्ग-दर्शन का गौरव इस प्राचीनतम भरतभूमि के पुत्रों को ही मिलेगा, ऐसी आत्म-विश्वास की भाषा भी बोलने लगे।

इस बंगाली आध्यात्मिक राष्ट्रवाद का यथार्थ वर्णन योगी अरविंद के एक भाषण में मिलता है। उपनिषद् के दो पक्षियों की एक कथा का आधार लेकर अरविन्द बाबू कहते हैं—"इस कथा में कहा गया है कि मीठे और कड़वे फलों से लदे एक विशाल वृक्ष पर दो पक्षी बैठे हैं। एक तो पेड़ के अग्र भाग पर बैठा है और दूसरा उसके नीचे की शाख पर। दूसरा पक्षी जब ऊपर देखता है तब उसे अपने सारे पंख फैलाकर एक वैभव का आनन्द लेनेवाले पहले पक्षी का दर्शन होता है और वह प्रेम से उस पर मोहित हो जाता है। उस समय उसके मन में यह भावना पैदा होती है कि यह वैभवशाली पक्षी कोई गैर नहीं बल्कि मेरा ही श्रेष्ठतम अन्तरात्मा है। परन्तु जब वह उस वृक्ष के मीठे फलों का स्वाद लेता है तब उसकी मिठास से इतना मुग्ध हो जाता है कि वह अपने इस प्रियतम प्राण-सखा को भूल जाता है। थोड़ी ही देर के बाद उस पेड़ के कड़वे फल खाने की बारी आती है जिसके कडुवे रस से उसकी मोहनी उतर जाती है और वह फिर अपने तेजपुञ्ज सहचर की ओर देखने लगता है। जाहिर है कि यह कथा जीवात्मा और मोक्ष से सम्बन्ध रखती है। यह राष्ट्रीय मोक्ष पर भी उसी तरह घटित होती है। हम हिन्दुस्तानी विदेशियों की माया के फेर में पड़ गये थे और उसका जाल हमारी आत्मा पर भी फैल गया था। यह माया थी उन विदेशियों के शासन-प्रबन्ध की, विदेशी संस्कृति की, विदेशियों के शक्ति और सामर्थ्य की। हमारे शारीरिक, बौद्धिक व नैतिक जीवन पर डाली गयी मानों ये बेड़ियाँ ही थीं। हमारी भी यही धारणा बन गयी कि हम स्वराज्य और राजनीति के योग्य नहीं हैं। इंग्लैंड की ओर हम एक आदर्श राष्ट्र की दृष्टि से देखने लगे और यह मानने लगे कि वही हमारी मुक्ति करेगा पर वह सब माया थी और थीं बेड़ियाँ।......हिन्दुस्तान में जो कुछ चैतन्य

था उसे नष्ट करने में हमीं ने उन्हें सहायता दी—छिः छिः हमीं अपने बन्धन के साधन बन गये ! हम बंगाली उनकी नौकरी में घुसे और उनका राज्य स्थापित किया। हमें अपनी रक्षा, अपनी शिक्षा और अपने भरण-पोषण के लिए दूसरों की आवश्यकता मालूम पड़ने लगी। हमारी स्वावलम्बन-शक्ति इतनी नष्ट हो गयी थी कि हम मानवी जीवन के किसी भी कार्य को करने में असमर्थ बन गये थे।

"इस माया का विध्वंस बिना दमन और क्लेश के नहीं हो सकता। बंग-भंग का जो कटु फल लार्ड कर्जन ने हमें चखाया उससे हमारा मोह नष्ट हो गया। हम ऊपर निगाह उठाकर देखने लगे और संसार-वृक्ष की चोटी पर बैठा तेज-पुञ्ज पक्षी दूसरा नहीं हमारा ही अन्तरात्मा है, हमारा वास्तविक प्रत्यगात्मा ही है—यह ज्ञान हमें हो गया। इस तरह हम समझ गये कि हमारा स्वराज्य हमारे ही अन्दर है और उसे पाने तथा उसका साक्षात्कार करने की शक्ति भी हमारे अन्दर है।

"लोग कहते हैं कि अपने पैरों पर खड़े रहने की ताकत हम में नहीं। उसके लिए विदेशियों की सहायता लेने की जरूरत है। इसलिए उसका विरोध करते हुए भी उनसे सहयोग करना चाहिए। पर हम एक ही समय में परमेश्वर और माया दोनों पर अवलम्बित रह सकते हैं ?...... तुम शस्त्र के संकटों से न डरो। तुम्हारे मार्ग में रुकावट डालनेवाली शक्ति कितनी ही बड़ी क्यों न हो, तुम चिन्ता न करो। 'तुम स्वतंत्र हो' यह परमेश्वर का आदेश है और तुम्हें स्वतन्त्रता प्राप्त करनी ही चाहिए... यदि तुमने आत्मस्वरूप को पहचान लिया तो तुम्हें डरने जैसी कोई बात नहीं है। संसार में सत्य, प्रेम और श्रद्धा के लिए असाध्य कुछ नहीं है। यही तुम्हारा धर्म-मन्त्र है और इसके द्वारा बड़े चमत्कार दिखाई देंगे। अपनी सुरक्षितता या सुख के लिए दुमानी भाषा मत बोलो, दुर्बलता को पास मत आने दो। तनकर सीधे खड़े रहो। स्वदेशी का जो दमन किया जा रहा है इसीसे उसका तेज बढ़ रहा है। लोग कहते हैं, हम में एका नहीं है, यह एका हो कैसे ? सब पुत्र मिलकर मातृभूमि की पुकार पर दौड़ पड़ेंगे तो इसीसे एकता हो जायगी। दूसरे झूठे उपायों से हरगिज न होगी।......यह कार्य हमारा नहीं है—हमसे भी बढ़कर

एक प्रचण्ड शक्ति हमें आगे बढ़ा रही है और वह हमें तब तक प्रेरणा देती रहेगी जब तक हमारे सब बन्धन टूट न जायँ और हिन्दुस्तान सारी दुनिया में एक स्वतन्त्र देश न बन जाय।" * एक जगह और वे कहते हैं—"इस परमेश्वरी शक्ति से व्याप्त यह सारा राष्ट्र जब जाग्रत होकर खड़ा हो जायगा और सर्वशक्तिमान् परमेश्वर उसे प्रेरणा करेगा तब कोई भी ऐहिक शक्ति उसका प्रतिकार न कर सकेगी और उसकी प्रगति को संसार की कोई भी आपत्ति या बाधा नहीं रोक सकेगी; क्योंकि इसमें परमेश्वर का अधिष्ठान है। यह उसी का कार्य है। वह हम से कुछ काम करा लेना चाहता है।"

बंगाल में वंगभंग के प्रतिकार को लेकर जो एक प्रचण्ड शक्ति निर्माण हो रही थी उसे निःशस्त्र क्रान्ति का रूप देकर कांग्रेस की राजनीति को उसका बल मिले यह नीति लोकमान्य की १९०५ से लेकर १९०८ तक थी। इसके विपरीत सर फीरोजशाह आदि पुराने नेताओं की नीति थी कि कांग्रेस को नवीन मार्ग पर न जाने देकर पहले के ही परावलम्बन के पथ पर जोर से खींचकर पकड़ रखें, क्योंकि उन्हें यह आशंका थी कि नवीन शक्ति के प्रकाश में दिखाई पड़े इस पथ पर कांग्रेस चली गयी तो न जाने किस खोह में जा गिरेगी। मा० गोखले व बाबू सुरेन्द्रनाथ थे तो यद्यपि पुराने पथ के ही पथिक, फिर भी उन्हें सर फीरोजशहा की नीति में हठ और दुराग्रह मालूम होता था। परन्तु इस नवीन शक्ति के खुल्लम-खुल्ला स्वागत करने का साहस उनमें न था और उनका विश्वास तो पुरानी नीति पर था ही, इसलिए अन्त में उन्हें सर फीरोजशाह के झण्डे के नीचे ही रहना पड़ा। इस रस्साखिंचाई का नतीजा यह हुआ कि कांग्रेस में फूट पड़ गयी जिससे अँगरेज शासकों ने खूब फायदा उठाया। फलतः भारतीय राष्ट्रशक्ति कुछ साल तक निश्चेष्ट पड़ी रही।

लोकमान्य ने १९०५ में ही कांग्रेस के दायरे में नवीन दल को बहिष्कार-योग की दीक्षा देकर लाला लाजपतराय, बाबू विपिन चन्द्र पाल, की सहायता से नवीन निःशस्त्र क्रान्तिकारी दल की स्थापना की। †

* Speeches of 'Aurobindo Ghose p. 61—66.

†' Young India by Lajpatrai P. 175.

उस वर्ष गोखले, जिन्होंने 'भारत सेवक समाज' की स्थापना करके पुरानी राजनीति को चिरंतन करने का प्रयत्न किया था, कांग्रेस के अध्यक्ष थे। उन्होंने अपने भाषण में औपनिवेशिक स्वराज्य को ही हमारा अन्तिम साध्य बताया था, फिर भी उन्होंने बंगाल की विलायती माल के बहिष्कार की हलचल का समर्थन और अभिनन्दन किया था और स्वदेशी-आन्दोलन की पुष्टि की थी। मगर चूँकि उनके मूल विचारों की भूमिका वही रही, राजनिष्ठा और राष्ट्रनिष्ठा का समन्वय करके उन्होंने अपने भाषण में युवराज के आगमन का स्वागत किया था। इधर बंगाली युवक इसके विरोध में थे। यहाँ तक कि गोखले को कह देना पड़ा कि यदि युवराज के स्वागत का प्रस्ताव गिर गया तो मुझे अध्यक्ष स्थान छोड़ देना पड़ेगा। तब लोकमान्य और लालाजी के बीच बिचाव से यह तय हुआ कि बंगाली युवक प्रस्ताव के विरोध-स्वरूप सभा से उठकर चले जायँ और प्रस्ताव बहुमत से मंजूर किया जाय। इस तरह बनारस का कांग्रेस अधिवेशन निर्विघ्न पूरा हुआ।

१९०६ साल दो तीन बातों के लिए प्रसिद्ध है। एक तो इस बहिष्कारयोग का परिणाम बंगाल में शान्ति-युक्त कानून-भंग के रूप में हुआ जिससे बंगाली नेताओं को तात्कालिक सफलता मिली। इसके कुछ ही दिन बाद (लोकमान्य की प्रेरणा से) श्री दादा सा० खापर्डे ने इस आशय की एक विज्ञप्ति कांग्रेस के कार्यकर्त्ताओं को भेजी कि आगामी कांग्रेस में कांग्रेस की नीति को नयी दिशा मिलनी चाहिए। इसका समर्थन करते हुए लोकमान्य ने लिखा कि जब तक निःशस्त्र कानून-भंग तथा बहिष्कार का अवलंबन करके शासन-यंत्र को बेकार नहीं बना दिया जायगा तब तक मोर्ले साहब भी हमें कुछ न दे सकेंगे। इधर विलायत में गोखले और मोर्ले की बातचीत चलती रहती थी जिससे मोर्ले के उदार विचारों से गोखले प्रभावित हो गये और उनकी साम्राज्य-निष्ठा और भी मजबूत हो गयी—यहाँ तक कि वे तिलक के नवीन प्रयत्नों का विरोध करने के लिए भी आमादा हो गये। इधर बंगाली नेताओं ने कानून-भंग का जो छोटा सा उद्योग किया, उसके साथ ही उन्हें जेल में डाल दिया गया और जब हजारों लोगों ने उनका अनुकरण किया तो

उनके सिर फोड़े गये। यह दृश्य देखकर लोकमान्य के आगे की पीढ़ी के कुछ युवकों का विश्वास निःशस्त्र-क्रान्ति पर से उठ गया और वे सशस्त्र क्रान्ति की ओर चल पड़े।

तीसरी महान् घटना यह हुई कि दादाभाई ने कांग्रेस को स्वराज्य का मन्त्र पढ़ाया और पुराने तथा नये दोनों दल के लोगों का सहयोग लेकर स्वदेशी, राष्ट्रीय शिक्षा, बहिष्कार और स्वराज्य-संबंधी प्रस्ताव पास करा लिये और नवीन पीढ़ी को 'दृढ़ संकल्प रक्खो, एक होओ और स्वराज्य प्राप्त करो' यह दिव्य सन्देश दिया। इस कारण १९०६ की कांग्रेस, जो कलकत्ते में हुई, आधुनिक भारत के इतिहास में चिरस्मरणीय और युग-प्रवर्तक मानी जाती है। दादाभाई द्वारा निर्धारित यह नीति यदि पुरानी पीढ़ी के लोगों ने मंजूर कर ली होती तो आज कांग्रेस का तथा भारत का इतिहास कुछ और ही बना होता; परन्तु ऐसा उज्वल इतिहास बनाने जैसी राष्ट्रीय बुद्धि हमारे देश में उस समय पैदा नहीं हुई थी। कांग्रेस पर नवीन पीढ़ी का प्रकृति-दत्त अधिकार है, यह पुरानी पीढ़ी के लोग अभी महसूस नहीं करते थे। कर्मठ सनातनियों की तरह अपनी राजनीति को उन्होंने अचल व चैतन्यशून्य बना दिया था और अपनी साम्राज्यनिष्ठा को परमेश्वर-निष्ठा जैसी त्रिकालावधित सत्यनिष्ठा बनाने का मोहान्ध प्रयत्न कर रहे थे। आत्म-प्रत्यय का अभाव और विदेशी सत्ता के दमन से कुचल जाने की भीति—ये दो इस मोहान्धता के वास्तविक कारण हैं। पुराने दल के लोगों का अहंकार इतना बढ़ गया था कि उनके इस मोहान्धकार में यदि कांग्रेस की नैया हठ से खेने में टकराकर चूर-चूर भी हो जाय तो उनके कर्णधारों को दुःख नहीं होता। इधर नवीन दल में भी अहंकार की कमी न थी, परन्तु उनके पीछे आत्म-श्रद्धा और आत्माहुति की चैतन्यशक्ति थी। इस कारण, यद्यपि कांग्रेस की नैया के टूटने का कारण दोनों तरफ का अहंकार था, तथापि उसके दोष की जिम्मेदारी पुराने दल के लोगों पर ही आती है। आगे की घटनाओं से यह साफ समझ में आ जायगा।

१९०६ के आरम्भ में इंग्लैंड में उदार मतवादियों का मंत्रिमण्डल बना जिसमें मोर्ले साहब ने यह जाहिर किया कि वंग-भंग के रद्द करने की

आशा किसी को न रखनी चाहिए और न ही यह अपेक्षा रखनी चाहिए कि शासन-व्यवस्था में भी उदार-दल कोई जल्दी सुधार करेगा। इस पर लोकमान्य ने स्वावलम्बन का, निश्चय का, निग्रह-सामर्थ्य दिखाने का और विदेशी कपड़े की होली जलाने का उपदेश लोगों को दिया। उन्होंने कहा मोर्ले उदार विचार के तत्ववेत्ता हैं; परन्तु भारत-मन्त्री के नाते उनसे हमारे लाभ की कोई भी बड़ी बात कभी नहीं हो सकती जब तक कि हम अपने तेज और बल का परिचय न दें। जब तक उन्हें यह न मालूम हो जायगा कि ब्रिटिश शासन-पद्धति के कष्ट हमारे लिए असह्य हो गये हैं, और अब हम उनको दूर करने के लिए तुल पड़े हैं, एवं जब तक वे दूर न हो जायँगे तब तक ब्रिटिश शासन निर्विघ्न नहीं चल सकता तब तक मीठे लेकिन सूखे शब्दों के सिवा मोर्ले से हमें कुछ नहीं हासिल हो सकता। 'आत्मैव ह्यात्मनो बन्धुरात्मैव रिपुरात्मनः' ही हमारा आधार होना चाहिए।

इस आत्मनिग्रह और दृढ़ निश्चय का परिचय लोग किस तरह दें, इसका नमूना अप्रैल में मिल गया। नवम्बर १९०५ में पूर्व बंगाल के ले० गवर्नर फुलर साहब के सेक्रेटरी ने हुक्म निकाला कि 'वन्देमातरम्' का नारा न लगाया जाय तथा स्वदेशी बहिष्कार आन्दोलन को दबाने के लिए गुरखों को बुलाकर उन्होंने फौजी-शासन का दौर-दौरा शुरू किया। इसका विरोध करने के लिए बरीसाल में, १९०६ में, प्रान्तीय परिषद् करना तय हुआ। इस पर यह हुक्म निकला कि इस परिषद् में विद्यार्थी भाग न लें और जिन विद्यालयों के विद्यार्थी इसमें जायँगे उनको सरकारी सहायता न मिलेगी। लोगों का कहना था कि 'वन्देमातरम्' का घोष करने से शान्ति भंग होती है ऐसा मानकर हुक्म निकालना ही बेकायदा है। अतः उन्होंने उस हुक्म के खिलाफ सत्याग्रह करने का निश्चय किया। परिषद् के सभापति के जुलूस में हजारों लोगों ने 'वन्देमातरम्' का जय-घोष किया और उसमें सैकड़ों विद्यार्थियों ने हिस्सा लिया। 'वन्देमातरम्' का जय-घोष होते ही बाबू सुरेन्द्रनाथ गिरफ्तार कर लिये गये। पुलिस की लाठियों ने जुलूसवालों के सिर अच्छी तरह फोड़े। इस पर लोकमान्य ने 'केसरी' में लिखा "जिस प्रकार बाकायदा जुल्म लोगों पर किया जाता है

उसी प्रकार शान्ति से, स्थिर भाव से और संकट के सामने हिम्मत न हार कर दृढ़ निश्चय से जुल्मी हुक्मों का प्रतिकार भी प्रजा कर सकती है। जुल्म आखिर जुल्म ही है, फिर वह बाकायदा हो या बेकायदा। जुल्म यदि बाकायदा है तो शान्ति और कष्ट-सहन के द्वारा दृढ़ निश्चय से उसका प्रतिकार करना चाहिए और यदि बेकायदा हो तो बेकायदा तरीके से उसका प्रतिकार करना चाहिए। बंगाल के लोगों ने इस हुक्म को न मान कर कष्ट-सहन करने की अपनी इच्छा व स्वार्थ-त्याग के द्वारा यह दिखा दिया है कि यह आज्ञा अन्यायपूर्ण है। सरकार ने अप्रत्यक्ष रीति से उस हुक्म को रद्द कर दिया, इसका श्रेय लार्ड मिंटो व मा० मोर्ले को देना चाहिए। 'वन्देमातरम्' का खुल्लम-खुल्ला जयघोष करने का हक प्राप्त करने के लिए बंगाल के नेताओं ने जो अनुकरणीय तेजस्विता दिखायी वह अभिनन्दनीय है।"

यहाँ समझ लेना जरूरी है कि आज्ञा-भंग बाकायदा कैसे हुआ? इसका अर्थ यह हुआ कि अन्यायपूर्ण कानून का भंग करने के बाद उसकी सजा शान्ति के साथ भुगतने के लिए जब तक लोग तैयार हैं तब तक वह प्रतिकार बाकायदा ही है—ऐसा लोकमान्य तिलक का मत था। कानून कहता है कि ऐसा करो नहीं तो सजा भुगतो। इनमें से किसी भी एक बात को मान लेना एक तरह से बाकायदा ही हुआ, क्योंकि दोनों मार्ग पर चलने वाले लोग कानून बनानेवालों की सत्ता मानते ही हैं। अतएव कानून भंग करके सजा भुगतने को तैयार होना—यह सत्याग्रही विधि एक तरह से बाकायदा प्रतिकार की—शान्ति, आत्मक्लेश और दृढ़निश्चय-युक्त प्रतिकार की—ही विधि है। इसके अनुसार लोकमान्य ने इसी सत्याग्रह का मार्ग ग्रहण करने का उपदेश कांग्रेस को देना शुरू किया। इसके दूसरे ही सप्ताह में दादा सा० खापर्डे की गश्ती चिट्ठी घूमी और लोकमान्य ने 'केसरी' में लिखा—

"विधि-विहित आन्दोलन से सफलता मिलेगी, ऐसा कहने वालों के मुँह पर मोर्ले ने यह जो (वंग-भंग-संबंधी) चपत लगायी है, उसे सहन करनेवालों को तथा अब भी भिक्षा-वृत्ति के गीत गानेवालों को पागल या निर्लज्ज समझना चाहिए। हम यह नहीं कहते कि अपने दुःख-दर्द

अधिकारियों पर प्रकट न करें या उनके सामने अपनी माँगें पेश न करें। परन्तु राजनैतिक बातों में ब्राह्मणी माँग से काम नहीं चल सकता। मदरास की प्रान्तिक सभा के अध्यक्ष श्रीकृष्ण स्वामी अय्यर ने भी अपने भाषण में कहा है—हमारे राजनैतिक आन्दोलन की दिशा में अब कोई विशेष परिवर्तन करना चाहिए। 'हिन्दू' के विलायती संवाददाता का भी ऐसा ही कहना है। वह कहता है कि 'पैसिव रेजिस्टेंस' यदि किया जाय तो विलायत के उदार मतवादी लोग उनका समर्थन करेंगे। यह तत्त्व अब सर्वमान्य हो चुका है।

लो० तिलक के इधर महाराष्ट्र में सत्याग्रह मार्ग का उपदेश देकर कांग्रेस में नयी नीति दाखिल करने की घोषणा करते ही बंगाल के नेता बाबू विपिन चन्द्र पाल ने 'वन्देमातरम्' में यह ज़ाहिर किया कि पूर्ण स्वतंत्रता ही हमारा ध्येय है और सत्याग्रह अथवा निःशस्त्र प्रतिकार हमारा साधन। (१८ सितम्बर १९०६)। उसमें उन्होंने कहा है कि स्वतंत्रता के ध्येय का अर्थ यह है कि विदेशी नियंत्रण बिलकुल न रहे। यह बिलकुल विधिविहित ध्येय है। निष्क्रिय प्रतिरोध हमारा साधन है। इसका अर्थ यह हुआ कि हम सरकार को स्वेच्छापूर्वक किसी प्रकार की सहायता न दें। कौन कह सकता है कि ये साधन पूरी तरह विधि-विहित नहीं हैं?

इन दिनों लॉर्ड मॉर्ले भारत-मंत्री थे। वे तत्ववेत्ता माने जाते थे। स्वर्गीय गोखले ने लोकमान्य से कहलाया कि मोर्ले साहब जो सुधार देना चाहते हैं उनका विरोध मत करो। लोकमान्य ने एक तरह से इसके जवाब में ही 'केसरी' में एक लेख लिखकर दिखलाया कि, "जब तक सरकार की गाड़ी रुक नहीं जायगी, तब तक हमें कोई वास्तविक सुधार नहीं मिलेंगे। जब मॉर्ले साहब को ही नहीं कर्जन साहब को ऐसा विश्वास हो जायगा कि हिन्दुस्तान के लोगों को महत्त्वपूर्ण अधिकार दिये बिना गति नहीं है, तभी हिन्दुस्तान को कुछ लाभ हो सकता है। यदि हम केवल उदात्त तत्वों के मनोराज्य में डूबकर, तत्वज्ञान का विश्वास पकड़ कर बैठ रहें तो कहना होगा कि हमारे जैसा हतभागी कोई नहीं। हमें यह न भूलना चाहिए कि यह राजनीति है, तत्वज्ञान नहीं।"

लोकमान्य का मतलब यह था कि हमारी माँग ब्राह्मण की नहीं, क्षत्रिय की होनी चाहिए। उसके पीछे बल होना चाहिए। तत्ववेत्ता मॉर्ले और राजनेता मॉर्ले की भूमिका में फर्क है। उनका तत्वज्ञान कार्य-रूप में कैसे परिणत हो, इसका मार्ग लोकमान्य ने बताया।

बरीसाल-परिषद् में निःशस्त्र जनता का जो सिर फुड़ौव्वल हुआ वह दृश्य बाबू अरविन्द घोष ने देखा था। निःशस्त्र प्रतिकार का वह उत्साह-वर्धक दृश्य देखकर उन्होंने बड़ौदा का अपना शिक्षाधिकारी का पद छोड़ कर बंगाल की निःशस्त्र क्रान्ति के कार्य में पड़ जाने का निश्चय किया। 'वन्देमातरम्' के वे सम्पादक हुए। राष्ट्रीय शिक्षण का काम जोर-शोर से शुरू किया। अरविन्द बाबू की प्रवृत्ति पहले से ही आध्यात्म-प्रवण थी। इससे इस निःशस्त्र क्रान्ति-मार्ग में उन्हें संसार का एक अभिनव क्रान्तिशास्त्र दिखाई दिया और उस दृष्टि से वे भारतीय राजनीति का आध्यात्मिक स्वरूप लोगों को दिखाने लगे। परन्तु उनके छोटे भाई वारीन्द्रकुमार घोष का इस निःशस्त्र मार्ग पर विश्वास नहीं बैठा। उन्होंने उन्हीं दिनों स्वामी विवेकानन्द के भाई भूपेन्द्रनाथ दत्त की सहायता से आध्यात्मिक शक्ति के आधार पर ही मगर सशस्त्र क्रान्तिवाद का प्रसार बंगाली युवकों में करने का उपक्रम किया। इन्हीं दिनों नासिक में श्री विनायकराव सावरकर 'अभिनव भारत समाज' संस्था के द्वारा सशस्त्र क्रान्तिवाद की दीक्षा दे रहे थे। लोकमान्य तिलक इन स्थितियों से परिचित थे। नासिक में उन्होंने इस विषय पर कहा था कि ये अविचारी युवक किसी दिन अपने गले में फाँसी लगवा लेंगे और निश्चय ही नासिक के नेताओं को नीचा सिर करने का मौका आ जावेगा। बेलगाँव में भी लोकमान्य ने कहा था कि नासिक में कुछ युवक मुझे मिले थे। उनमें बड़ा उत्साह और बड़ी महत्वाकांक्षा है; परन्तु अविचार भी है। ऐसे अविचार और मूर्खता से कार्य-हानि होती है। उनकी बुद्धि ने यह मान लिया था कि आज का राजनैतिक कार्य निःशस्त्र क्रान्ति मार्ग से ही चलना चाहिए। अविचारी नवयुवकों को सदुपदेश देकर वे उचित मर्यादा में रखने का प्रयत्न करते थे। लोकमान्य महसूस करते थे कि एक ओर भिक्षा देनेवाली वैध राजनीति और दूसरी ओर

सशस्त्र क्रान्तिवाली त्वरित और व्यवहार-शून्य राजनीति दोनों को एक ओर रखकर निःशस्त्र क्रान्ति मार्ग से कांग्रेस की नैया चलायी जाय और यह नवीन दल उसका कर्णधार बने। इसी खयाल से कलकत्ता अधिवेशन के सभापति लाला लाजपतराय को बनाने की तजवीज श्री० खापर्डे के पत्रक में की गयी थी। बंगाल से पालबाबू ने लोकमान्य तिलक का नाम पेश किया। यह देखकर अंग्रेजी अखबारों के रोष का ठिकाना न रहा। अन्त को बाबू सुरेन्द्रनाथ और भूपेन्द्रनाथ—इन नरम दली नेताओं ने दादाभाई नौरोजी को सभापति बनाना तय किया। दादाभाई का नाम पेश होते ही नवीनदल ने अध्यक्षपद का विवाद खतम कर दिया; क्योंकि उन्हें विश्वास था कि दादाभाई नवीन दल के साथ सहानुभूति रखकर ही काम करेंगे। इस अधिवेशन में स्वदेशी, राष्ट्रीय शिक्षण, बहिष्कार और स्वराज्य ये चार मुख्य प्रस्ताव पास हुए। चारों पर नरम गरम दलों में खूब वादविवाद हुआ। स्वदेशी के प्रस्ताव पर 'Even at a sacrifice' अर्थात् 'त्याग और कष्ट सहन करके भी' इन शब्दों का नरम दल की ओर से विरोध किया गया। राष्ट्रीय-शिक्षा-संबंधी प्रस्ताव पर 'राष्ट्रीय नियंत्रण में' इन शब्दों का विरोध किया गया। दोनों में नरम दल की करारी हार हुई। तीसरा महत्त्व का प्रस्ताव था बहिष्कार का। इस प्रस्ताव पर बहुत गरमा-गरमी हुई। तब फिर एक गोलमोल मजमून बनाकर "Boycott movement inaugurated in Bengal" वह पास किया गया। नरम दल को व्यापक और सार्वत्रिक बहिष्कार मंजूर नहीं था। पूर्वोक्त गोलमोल भाषा से दोनों दल अपना अपना अर्थ निकाल सकते थे। एक और विवादग्रस्त मुद्दा था अन्तिम ध्येय और स्वराज्य की मांग-संबंधी। नवीन दल का मत था कि हमारा अंतिम ध्येय पूर्ण स्वतंत्रता होना चाहिए। फिर भी वे तात्कालिक मांग के रूप में औपनिवेशिक स्वराज्य का स्पष्ट उल्लेख करके उसकी पहली किश्त के रूप में कुछ सुधार तुरन्त दिये जाने का प्रस्ताव मान लेने के पक्ष में थे। तदनुसार इसी आशय का प्रस्ताव पास किया गया। इसके साथ ही कुछ सुधारों की मांग पेश की गयी थी। सरकारी नौकरी के लिए हिन्दुस्तान और इंग्लैंड

में एक साथ परीक्षा लेने, भारत-मंत्री, वाइसराय, और गवर्नर के शासन-मण्डल में हिन्दुस्तानियों को काफी प्रतिनिधित्व देने, केन्द्रीय और प्रान्तिक धारा-सभाओं में लोक-प्रतिनिधियों की संख्या बढ़ाने और उन्हें आयव्यय और शासन-प्रबन्ध में अधिक नियंत्रण के अधिकार देने तथा स्थानिक स्वराज्य की वृद्धि करने संबंधी वे माँगें थीं। इसमें नवीन दल की नीति यह थी कि इन तात्कालिक सुधारों के मिलते ही उनके आधार पर औपनिवेशिक स्वराज्य की मांग की जाय। अंतिम ध्येय तो पूर्ण स्वतंत्रता उनका कायम था ही। पाल बाबू का मत था कि दादाभाई ने अपने भाषण में इसी ध्येय को मंजूर कर लिया है। दादाभाई के भाषण में ध्येय के सम्बन्ध में ये शब्द थे—"Self government or Swaraj alike that of the United Kingdom or the Colonies." इग्लैंड जैसे स्वराज्य का अर्थ पूर्ण स्वतंत्रता ही है। फिर दादाभाई ने अपने भाषण में सिर्फ स्वराज्य का ही उल्लेख किया है। (Be united, persevere and achieve self-government एका करो, दृढ़ उद्योग करो और स्वराज्य प्राप्त करो।) इसमें इंग्लैंड या उपनिवेश का कोई जिक्र नहीं था। दादाभाई के इस सन्देश पर लोकमान्य तिलक ने लिखा था कि वृद्ध पितामह दादाभाई ने स्वराज्य की और कांग्रेस की जो गाँठ या शृंखला बांध दी है वह अब किसी तरह नहीं तोड़ी जा सकती है।...... स्वराज्य प्राप्त किये बगैर हमारे उद्धार का रास्ता नहीं है, ऐसा जोर के साथ स्पष्टता से और सरल भाषा में, गद्गद कण्ठ से, दादाभाई ने उपदेश दिया है। इस समय ऐसा मालूम होता था कि मानों कोई वृद्ध देवदूत अपनी युवापीढ़ी को अन्तिम उपदेश देने के लिए आसमान से उतरा हो।

नवीन दल की नीति पर प्रकाश डालते हुए लोकमान्य तिलक ने बताया कि "गरम और नरम शब्दों का अर्थ काल-क्रमानुसार बदलता जायगा। गरम शब्द प्रगति सूचक है। आज हम गरम कहलाते हैं, तो कल हमारे लड़के हमें नरम कहेंगे। प्रत्येक नवीन दल जब पैदा होता है, तब गरम कहलाता है और नरम होकर अंत पाता है। व्यावहारिक राजनीति का क्षेत्र अमर्याद है। नरम दल वालों का विश्वास ब्रिटिश

राज्य से मदद माँगने पर है और हमारा नहीं; इसलिए हमें दूसरे साधन की जरूरत है और वह हमारे पास हैं भी। हम न निराश हैं और न निराशावादी हैं। हमें स्वयं अपने ही प्रयत्न से ध्येय-प्राप्ति की आशा है और इसी के लिए नवीन दल का निर्माण हुआ है। श्रीकृष्ण बसीठी के लिए गये थे; परन्तु कौरव और पाण्डव दोनों अपनी अपनी सेना की तैयारी कर रहे थे इस ख्याल से कि कहीं बसीठी सफल न हो तो फिर लड़ाई की परिस्थिति का मुक़ाबला किया जा सके। इसे कहते हैं राजनीति। हमारी माँग यदि ठुकरा दी गयी तो हमारे पास लड़ने की तैयारी है क्या? हमारे पास एक प्रबल राजनैतिक शस्त्र है, वह है बहिष्कार। हमारा मुख्य मुद्दा यह है कि नियंत्रण की सब सत्ता, हमारे घर की सब कुंजी हमारे ताबे रहनी चाहिए। स्वार्थ-त्याग और आत्म-संयम के द्वारा विदेशी-सरकार को हम पर शासन करने में सहायता न देना हमारे बहिष्कार का अर्थ है। लगानवसूली, शान्ति-रक्षा, विदेशों को पैसा ले जाना, न्याय-दान आदि में हम सरकार की सहायता न करेंगे। यदि मुझे पूरी रोटी न मिली और आधी भी मिली तो मैं आधी ही लेकर फिर पूरी हासिल करने का प्रयत्न करूँगा।" इस तरह लोकमान्य के इस भाषण से यह सिद्ध होता है कि उनके मत में एक ओर वैध राजनीति और दूसरी ओर सशस्त्र क्रान्तिकारी राजनीति दोनों के बीच निःशस्त्र-क्रान्ति की एक स्वतंत्र राजनीति है। सन् १९०५ से उसका खुल्लम-खुल्ला प्रचार हुआ। इस बहिष्कार पर तात्विक या नैतिक दृष्टि से खुद "गोखले" को भी आपत्ति न थी। आपत्ति भी तो इतनी ही थी कि उस परिस्थिति के लिए वह अव्यवहार्य ही है। जब असहयोग के रूप में यही कार्यक्रम महात्मा गांधी ने देश के सामने रक्खा और उसकी व्यावहारिकता की प्रतीति ब्रिटिश राजनेताओं को करा दी, तब मा० स्वर्गीय गोखले के अनुयायी आज तीस वर्ष हो जाने पर भी उस पर वही अव्यवहार्यता का आक्षेप करते आ रहे हैं। आश्चर्य तो यह है कि खुद लोकमान्य तिलक के अनुयायी कहलाने वाले महाराष्ट्र के कुछ लोग भी वही टीका इस पर करते हैं।

आगे चलकर स्वर्गीय गोखले को भी लोकमान्य तिलक आदि की

स्वतंत्र राजनीति को देखकर अपनी राजनीति में परिवर्तन करना पड़ा। ४ फरवरी १९०७ को प्रयाग में पं० मोतीलाल नेहरू की अध्यक्षता में "हमारे सामने का कार्य" इस विषय पर स्वर्गीय गोखले का एक सुप्रसिद्ध व्याख्यान हुआ। उसमें उन्होंने कहा था "मैं चाहता हूँ कि किसी प्रकार के वर्ण-भेद अथवा धर्म-भेद का लिहाज न करके हमारे देश के स्त्री-पुरुषों को अपने देश के सब गुणों का पूर्ण विकास करने का अवसर मिले और उस पर किसी प्रकार के कृत्रिम अथवा विकास-विरोधी बंधन न डाले जायँ। मैं चाहता हूँ कि क्या राजनीतिक, या औद्योगिक, धार्मिक, साहित्यिक, शास्त्रीय और कलात्मक सब क्षेत्रों में हिन्दुस्तान को संसार के बड़े राष्ट्रों में उचित स्थान मिले; लेकिन मेरा यह ख्याल है कि यह सब चीजें हमें वस्तुतः और सारतः इसी साम्राज्य में मिल सकेंगी। वैध राजनीति में पहली बात यह है कि शस्त्र-बल का त्याग हो; विद्रोह या बगावत, दूसरे बाहरी राज्य का नियंत्रण या सहायता और अत्याचार या हिंसा का अवलंबन, ये तीन बातें वर्ज्य हैं। अर्थात् जो कुछ वैध हो, वह समझदारी और व्यावहारिकता से युक्त होगा ही यह नहीं कह सकते। अनुनय-विनय से लेकर कर-बन्दी तक अर्थात् निःशस्त्र-प्रतिकार तक यह सब वैध-मार्ग में आ जाता है; अतः हमारे देश में आज जो कुछ हो रहा है वह सब अवैध है, ऐसा नहीं कह सकते। दूसरा लक्षण यह भी बताया जा सकता हैं कि हमें जो कुछ न्याय प्राप्त करना है वह अपने देश की प्रस्थापित राज्यसत्ता से ही प्राप्त कर लेना है और इसके लिए हमें सत्ताधारियों पर दबाव डालते रहना चाहिए। इस दबाव का आधार होगा हमारे पीछे रहनेवाले लोकमत का बल और निश्चय। यह बल निर्माण करने का हमें दृढ़ निश्चय करना चाहिए। केवल इतनी सदिच्छा से काम न चलेगा कि हमारे देश में उद्योग-धन्धों की तरक्की होनी चाहिए। स्वदेशी में इस कल्पना का भी समावेश होता है कि स्वदेशी उद्योग-धन्धों की उन्नति के लिए हम शक्ति भर स्वेच्छा से कुछ त्याग करें। परन्तु इसके लिए बहिष्कार शब्द का प्रयोग करना उचित न होगा; क्योंकि बहिष्कार में दूसरों को नुकसान पहुँचाने की प्रतिहिंसा का भाव आता है, जिससे अकारण विरोधी भावना जाग्रत

होकर स्वदेशी के कार्य में विघ्न उपस्थित होते हैं।......(राजकीय) बहिष्कार को इस परिस्थिति में शक्य मानना तो विचित्र ही होगा। सरकार को जितने नौकर मिल जाते हैं इतने यदि न मिल सकें तब तो इस बहिष्कार का असर सरकार पर होगा ; परन्तु यह विचार तो व्यवहार्य कोटि में ही नहीं आता। स्थानिक स्वराज्य, म्युनिसिपल्टी, धारा सभा आदि संस्थाओं का बहिष्कार करेंगे तो उन खाली जगहों पर दूसरे लोग आ धमकेंगे और उनके द्वारा हमें जो लोक-सेवा करने का अवसर मिला था वह व्यर्थ चला गया, ऐसी प्रतीति खुद हटजानेवालों को ही हो जायगी। अतएव इस मार्ग का अवलम्बन करने से राष्ट्र का हित नहीं, अहित ही होगा। जो यह कहते हैं, स्वराज्य प्राप्त करने का एक मात्र या एक उपाय है सार्वत्रिक बहिष्कार ही ; उनसे मैं कहना चाहता हूँ कि करबन्दी निःशस्त्र प्रतिकार का अत्यन्त प्रभावशाली और सरल उपाय है। जिनकी यह राय है कि वर्तमान परिस्थिति में निःशस्त्र प्रतिकार करना चाहिए वे यदि करबन्दी का अवलम्बन करेंगे तो उन्हें तुरन्त पता लग जायगा कि हम कहाँ हैं।" *

दुर्भाग्य की बात है कि आज यही आपत्तियाँ लोकमान्य के कुछ अनुयायी कांग्रेस के असहयोग पर करते हैं। विदेशी माल के बहिष्कार का जिक्र किया नहीं कि वे कहते हैं कि देश के लिए आवश्यक सारा विलायती माल एक दम तैयार करके दे दीजिए। सरकारी स्कूलों के बहिष्कार की बात चलाते हैं तो वे झट से कह देते हैं कि उनकी जगह राष्ट्रीय स्कूल खोलकर बताइए। निःशस्त्र प्रतिकार अथवा सत्याग्रह का नाम लिया नहीं कि उन्होंने चुनौती दी नहीं, अच्छा हिन्दुस्तान में सब जगह कर-बन्दी की घोषणा करके देखिए। जो लोगों को आगे ले जाना नहीं चाहते, या इसका सामर्थ्य नहीं रखते उनका यह सनातन आक्षेप-शास्त्र ही समझिए। यह राष्ट्र को आगे बढ़ाने का तरीका नहीं है। बहिष्कारयोग के सम्बन्ध में लोकमान्य सदा 'स्वल्पमप्यस्य धर्मस्य त्रायते महतोभयात्' या 'न हि कल्याणकृत् कश्चित् दुर्गतिं तात गच्छति' भगवद्गीता के इस वचन का आधार लिया करते थे। राष्ट्रीय पक्ष को

* Speeches of Gopal Krishna Gokhale. Page 1104—12.

उस समय सिर्फ विलायती माल के बहिष्कार का तथा लियन सर्कुलर जैसे अन्यायपूर्ण हुक्मों को न मानने के रूप में सत्याग्रह का कार्यक्रम देश के सामने रखना था और यह दिखा देना था कि इनके अवलम्बन से अन्त में बहिष्कारयोग के अन्तिम शिखर तक पहुँच कर स्वराज्य प्राप्त किया जा सकेगा। परंतु प्रागतिक पक्ष की उस समय इतनी तैयारी नहीं थी। वह तो स्वातन्त्र्यवादी युवक दल को कांग्रेस में रहने ही नहीं देना चाहता था। परंतु दादाभाई नौरोजी के सभापतित्व में हुई कांग्रेस में उनकी बात नहीं चली और बहिष्कार-योग पास हो गया। तब प्रागतिक दल ने यह निश्चय किया कि अगले साल इस प्रभाव को केवल विदेशी माल व बंगाल तक मर्यादित कर दिया जाय, कांग्रेस का अंतिम ध्येय औपनिवेशिक स्वराज्य बना दिया जाय जिससे बंगाल का युवक दल अपने आप उससे बाहर निकल जायगा और फिर हम जैसा चाहेंगे, प्रस्ताव पास कर लेंगे। यह उस समय इनकी नीति थी। इसके विपरीत लोकमान्य का यह दृढ़ निश्चय था कि बंगाल के युवक दल को किसी भी दशा में कांग्रेस से बाहर न जाने दिया जाय और बहिष्कार के प्रस्ताव में कलकत्ते से पीछे बिल्कुल न हटा जाय।

इस समय बंगाल की राजनीति को एक तरफ बाबू विपिन चन्द्र पाल व अरविन्द घोष आगे खींच रहे थे, तो दूसरी तरफ सर फीरोजशाह मेहता पीछे हटा रहे थे। मा० गोखले, सुरेन्द्रनाथ बनर्जी, लो० तिलक, और लाला लाजपत राय ये दोनों के बीच में खड़े दिखाई देते हैं। इन चारों नेताओं को इस बात की बड़ी चिन्ता थी कि कांग्रेस में फूट न फैले, उसकी शक्ति छिन्न-भिन्न न हो और विरोधियों को उसका फायदा न मिल सके। विपिन बाबू व अरविन्द घोष को सम्हालने की जिम्मेदारी लो० तिलक ने ली। इधर गोखले व सुरेन्द्र बाबू ने मेहता वाच्छा को कुछ आगे खींचने की कोशिश की। फलतः कलकत्ता में दादाभाई के सभापतित्व में व उनके प्रभाव से, यह तजवीज पार पड़ गई। अब यदि दोनों दलों को एक ही संस्था में काम करना था तो कलकत्ते का यह प्रस्ताव नहीं बदला जाना चाहिए था। परन्तु सर फीरोज-शाह हठ ठान बैठे और अन्त को गोखले तथा बनर्जी भी उसके

शिकार हो गये जिससे १९०७ के सूरत के अधिवेशन में कांग्रेस के दो टुकड़े हो गये।

इस साल कांग्रेस का अधिवेशन नागपुर में होनेवाला था, परन्तु वहाँ का वातावरण अपने अनुकूल न पाकर उसके अधिकारियों अर्थात् प्रागतिक दल के नेताओं ने ऐन वक्त पर सूरत में अधिवेशन करना तय किया। तरुण बंगाल की नवीन राजनीति को कांग्रेस से हटाने का ही यह उपक्रम था। किन्तु मा० गोखले को यह डर था कि नवीन दल नागपुर में कांग्रेस करने का प्रयत्न करेगा और इस तरह कांग्रेस के दो टुकड़े हो जायँगे। उन्होंने सर वेडरबर्न को लिखा कि ऐसा होने से नौकरशाही किसी भी दल को दाद न देगी और राष्ट्रकार्य बिगड़ेगा। यह पत्र मोर्ले साहब के हाथ लगा और उन्होंने लार्ड मिंटो को लिखा कि यदि गोखले 'सुधार व शान्ति' इन सिद्धान्तों को लेकर सरकार से समझौता कर लेंगे तो कांग्रेस के टुकड़े हो जाने पर भी उनका कुछ नहीं बिगड़ेगा और वे शासन में जो-जो सुधार चाहेंगे उनमें ६०–७० फी सदी उनके पल्ले पड़ जायँगे। मोर्ले सा० की यह इच्छा सफल हुई और राष्ट्र पर संकट आने-सम्बन्धी गोखले की आशंका अक्षरशः सत्य सिद्ध हुई। यदि पुराने दल के लोग यह आश्वासन दे देते कि कलकत्ते में पास हुए चारों प्रस्ताव ज्यों के त्यों कायम रहेंगे तो सारा विरोध और झगड़ा जहाँ का तहाँ खतम हो सकता था। इसलिए इसकी जिम्मेवारी नये की अपेक्षा पुराने दल पर ही अधिक आती है।

सूरत में कांग्रेस का अंग-भंग हो जाने के थोड़े ही दिनों बाद सरकार ने राष्ट्रीय दल को नेस्तनाबूद करने के लिए घोर दमननीति शुरू की। इसका श्रीगणेश तो हुआ १९०७ में लाला लाजपत राय के निर्वासन से। वे सूरत की कांग्रेस के कुछ दिन पहले ही छोड़ दिये गये। किन्तु सूरत-काण्ड के बाद यह दमन का दौर-दौरा फिर शुरू हुआ। १९०८ के मध्य में लोकमान्य को छः वर्ष कड़ी कैद की सजा ठोंकी गयी। मदरास में चिदंबरम् पिल्ले, बंगाल में अरविन्द घोष, विपिनबाबू आदि कई छोटे-बड़े नेताओं पर हाथ साफ किया गया। चारों ओर दमन और भय का राज्य सरकार ने फैला दिया। राष्ट्रीय

दल ने १९०८ के दिसंबर में कांग्रेस-अधिवेशन करने का निश्चय किया, जो गैर-कानूनी ठहरा दिया गया। अब राष्ट्रीय दल के लिए खुल्लम-खुल्ला काम करना असंभव होगया।

इसी समय देश के युवकों में सशस्त्रक्रान्ति व गुप्त षड्यन्त्रों वाली राजनीति का खूब जोर जमा। दिसंबर १९०७ में 'इंडियन सोश्यालाजिस्ट' के द्वारा श्याम जी कृष्ण वर्मा ने यह कहना शुरू किया कि हिन्दुस्तान में अब गुप्त रूप से तथा रूसी क्रान्तिकारियों के ढँग से आन्दोलन चलना चाहिए। इधर श्री विनायकराव सावरकर श्री श्याम जी कृष्णवर्मा से जा मिले और उधर बंगाल में 'युगान्तर' 'सन्ध्या' पत्रों के द्वारा गुप्त षडयन्त्रों और सशस्त्र क्रान्ति का आन्दोलन फैलाया जा रहा था। वारीन्द्र कुमार घोष बंगाली युवकों का गुप्त रूप से संगठन कर रहे थे। अप्रैल १९०८ में बंगाल का पहला धड़ाका हुआ, जिसपर लेख लिखने के कारण लोकमान्य को सजा दी गयी। १९०८ से दो-तीन साल तक इस तरह एक ओर से गुप्त षड्यन्त्रकारियों तथा दूसरी तरफ से सरकारी आतंकवाद के दो दो हाथ हो रहे थे। इसी बीच गोखले-जैसे नेता शान्ति रक्षा में सरकार की सहायता कर रहे थे और कांग्रेस असहाय बनकर यह दृश्य देख रही थी। सरकार राष्ट्रीय नेताओं से शान्तिरक्षा में सहयोग की मांग कर रही थी, उधर अरविन्दबाबू कह रहे थे कि जब तक नागरिकता के मूलभूत अधिकार नहीं दिये जाते और स्वराज्य की नींव नहीं डाली जाती तब तक सहयोग नहीं दिया जा सकता। उन्होंने कहा—हम स्वावलम्बन और निःशस्त्र प्रतिकार के द्वारा अपना ध्येय प्राप्त कर सकेंगे। हमारे पास लोगों की न्याय्य आकांक्षाओं की पूर्ति के लिए एक ही मार्ग है निःशस्त्र प्रतिकार का। इस के द्वारा हम शान्ति व सुव्यवस्था की रक्षा में सहयोग दे सकते हैं। इसका अर्थ यह हुआ कि अरविन्दबाबू की सम्मति में लोगों की स्वातन्त्र्य-भावना का दमन करने में सरकार को सहयोग देना घातक व तत्वभ्रष्टता है। और उनका यह कथन अकाट्य है। सरकारी दमनशाही के विषय में 'वन्देमातरम्' ने लिखा—"हमेशा याद रखना चाहिए कि दमननीति के द्वारा लोगों को भयभीत करने का यत्न करना मानों आग से खेलना है। प्रेम से प्रेम

बढ़ता है, विश्वास से विश्वास पैदा होता है, समझदारी से समझदारी को गति मिलती है और सहानुभूति से सहानुभूति जाग्रत होती है। इसके विपरीत द्वेष से द्वेष फैलता है, सन्देह से सन्देह जाग्रत होता है, आतंकवाद आतंकवाद को जन्म देता है। दमननीति से लोगों के विचार, भावना या आकांक्षा कमजोर नहीं पड़ेगी, उलटी और जोर पकड़ेगी। इस दमननीति से लोगों को यह निश्चय हो जायगा कि हमारे नेता ध्येय के लिए आन्दोलन कर रहे हैं। वह ब्रिटिश सरकार के कायम रहने तक सम्भव नहीं है। इससे गरम दल का जोर बढ़ेगा और प्रागतिक प्रचार नेस्तनाबूद हो जायगा।"

यदि प्रागतिक दल के लोग सरकार को उचित सलाह देते तो यह स्थिति रुक सकती थी। परन्तु उन्होंने यह समझ रक्खा था कि गरम राजनीति लार्ड कर्जन के अत्याचारों और मनमानी का एक क्षणिक फल है। ब्रिटिश सरकार यदि दमन बन्द करके शासन में कुछ सुधार कर दे तो यह अपने आप बैठ जायगी। लेकिन यह उनका निरा भ्रम था। इसके उत्तर में अरविन्द बाबू कहते हैं—"राष्ट्रवाद के सन्देश का जन्म निराशा से नहीं हुआ है, न वह अत्याचार में से उदय हुआ। ...... इसका जन्म श्रीकृष्ण की तरह बन्दीगृह में हुआ है। जिन्हें अनियंत्रित किन्तु उदार सुराज्य वाला हिन्दुस्तान जेल की कालकोठरी की तरह असह्य मालूम होता था उनके हृदय में इसका जन्म हुआ है। श्रीकृष्ण का लालन-पालन जैसे दरिद्र और अज्ञान जनता के अज्ञात घर में हुआ उसी तरह यह राष्ट्रवाद संन्यासियों की गुहा में, फकीरों के वेष में, युवकों और लड़कों के हृदयों में, जो लोग अंगरेजी का एक अक्षर भी नहीं जानते थे मगर जो मातृभूमि के लिए बलिदान हो जाना चाहते थे, उनके अन्तःकरण में और जिन पढ़े-लिखे लोगों ने इस यन्त्र का नाम सुनते ही अपनी धन-दौलत और पद-प्रतिष्ठा को लात मारकर लोकसेवा और लोकजागृति का व्रत धारण किया उनके जीवनों में धीरे-धीरे बढ़ा और पनपा है। हाँ अत्याचार के कारण सारे देश ने उसको अंगीकार जरूर किया मगर उसका जन्म अत्याचार में से नहीं हुआ। यह राष्ट्र धर्म एक अवतार ही है। इसका अन्त कदापि नहीं हो सकता। यह परमात्म-

नियुक्त शक्ति है और वह ईश्वर-नियोजित कार्य को पूरा किये बगैर विश्व की चित् शक्ति में, जहाँ से कि उसका उद्गम हुआ है, फिर नहीं मिलने की।"

एक ओर इस दुर्दमनीय राष्ट्र-शक्ति का वास्तविक स्वरूप प्रागतिक दल के ध्यान में नहीं आता था और दूसरी तरफ ब्रिटिश सत्ताधारी और राजनेता उसे खतम करने पर कमरबस्ता थे, फिर भी उसका उत्साह सतत बढ़ता जा रहा था। ऐसी दशा में ज़ालिम साम्राज्यवाद और क्रान्तिकारी राष्ट्रवाद में कुछ समय के लिए क्यों न हो एक प्रकार का सशस्त्र मुकाबिला होने जा रहा था और उसे टालना अरविन्दबाबू को असम्भव-सा मालूम होता था। साथ ही उन्हें यह आशा भी न थी कि इस सशस्त्र मुकाबले में राष्ट्रवाद की विजय होगी। उनकी बुद्धि तो यह मान गयी थी कि निःशस्त्र प्रतिकार के रणांगण में राष्ट्रवाद दुर्द्धर्ष होकर रहेगा, परंतु उनके सामने यह एक समस्या थी कि निःशस्त्र रणांगण में उसे कैसे ले जायँ? न सरकार, न प्रागतिक दल के नेता इसमें उनकी सहायता करने को तैयार थे। इधर यह खबर भी उनके कान तक पहुँची थी कि और नेताओं की तरह उन्हें भी देश-निकाला जल्दी होनेवाला है। उन्होंने यह भी देखा कि राष्ट्र के द्वारा निःशस्त्र क्रान्ति का प्रयोग सफल कराने योग्य नेतृत्व उनके पास नहीं है और कम से कम इस समय यह काम मेरे हाथों होता नहीं दिखाई पड़ता। इसीलिए उन्होंने तय किया कि कुछ समय देश छोड़ कर चले जायँ और योग-साधन के द्वारा वह शक्ति प्राप्त की जाय। वे पांडुचेरी चले गये और योग-साधना में लग गये। जाते समय जुलाई १९०९ में अपने देशबंधुओं के नाम उन्होंने एक अंतिम पत्र लिखा था जिसका महत्त्व का भाग यहाँ दिया जाता है–

'कुछ लोगों का यह ख्याल हो गया है कि राष्ट्रीय पक्ष मर गया। यह ग़लत है। वह वैसा ही सजीव है। उसकी शक्ति व व्याप्ति बिल्कुल कम नहीं हुई है। हाँ, एक नेता और नीति की आवश्यकता जरूर है। नीति तो मिल जायगी, परंतु, नेता परमेश्वर ही दे सकेगा। जब तक ईश्वर-नियोजित नेता नहीं आता और हम परमेश्वरी शक्ति के आविष्कार के साधन नहीं बनते तब तक बड़े आन्दोलन रुके रहते हैं, पर ज्यों ही वह आता है वे

विजय-प्राप्ति के लिए आगे बढ़ते हैं। आज तक जिन लोगों ने इस आन्दोलन का नेतृत्व किया वे जवाँमर्द थे, उनमें बड़े बड़े गुण थे, महान् प्रतिभा थी। किसी भी बड़े आन्दोलन का नेतृत्व करने जैसी महत्ता उनमें थी, परंतु इस संसार-व्यापी क्रांति के प्रमुख प्रवाह का अंत तक नेतृत्व करने की उनकी शक्ति पूर्ण नहीं साबित हुई अतएव राष्ट्रीय दल को, जो कि भावी काल का ट्रस्टी है, ऐसे किसी नेता के आने तक अब राह देखना चाहिए। विपत्ति में धैर्य न छोड़े, पराजय में आशा न छोड़े। यह विश्वास रखे कि अन्त में हमें विजय अवश्य मिलेगी और हिन्दुस्तान की भावी पीढ़ी और संसार में दूसरे राष्ट्रों के प्रति जो जिम्मेदारी हम पर है उसे न भूलें।

'जब तक वह समय न आवे तबतक हमें धीमे-धीमे कदम बढ़ाना चाहिए। इस परिस्थिति में हमारा बल नैतिक है, भौतिक नहीं। इस नैतिक बल पर ही अन्त में हमारे विजय पाने की आशा अवलंबित है। जल्दबाज़ी में या दुस्साहस से जिस क्षेत्र में हम प्रबल हैं उसे छोड़कर जिस क्षेत्र में हम कमजोर हैं उसमें जाने की गलती न करें। स्वराज्य अथवा पर-नियंत्रण-मुक्त पूर्ण-स्वातंत्र्य हमारा ध्येय, स्वावलंबन और प्रतिकार हमारा साधन है। इस ध्येय में किसी राष्ट्र के या हमारे देश पर राज करनेवाली सरकार के प्रति द्वेष का समावेश नहीं। जो यह कहते हैं कि हमारी इस आकांक्षा में द्वेष और अत्याचार का ंचार अवश्य हो जायगा वे गलत कहते हैं। हमारी देश-भक्ति के ध्येय का अधिष्ठान प्रेम और बन्धु-भाव है और उसमें मानवजाति के अंतिम ऐक्य का भी समावेश होता है। जो हमारे इन अधिकारों को देने से इन्कार करते हैं उनके प्रति द्वेष रखने की जरूरत नहीं। उसमें तो सिर्फ प्रयत्न करना, कष्ट भोगना, किसी भी व्यक्तिगत विचार को स्थान न देते हुए सच बोलना और जो सत्ता प्रगतिधर्म का विरोध करती है उसको उलट कर अपनी सत्ता प्रस्थापित करने के लिए प्रत्येक विधिवत् साधन और नैतिक बल का उपयोग करना—इतनी ही बातों का समावेश होता है।'

राष्ट्रीय और प्रागतिक दल में समझौता कराने की दृष्टि से वे कहते हैं "स्वराज्य-सम्बन्धी प्रस्ताव में 'औपनिवेशिक स्वराज्य' की जगह 'पूर्ण

स्वराज्य' शब्द डालने से यह झगड़ा मिट सकेगा। निःशस्त्र प्रतिकार-सम्बन्धी वाद का लगाव वहिष्कार के प्रस्ताव से है। इस संबंध में राष्ट्रीय दल अपने सिद्धांत का त्याग न कर सकेगा। बहुतेरे प्रागतिक लोग भी इसका समर्थन करते हैं, परन्तु इसका फैसला भी स्वतंत्र रूप से निर्वाचित कांग्रेस के बहुमत द्वारा कर लेने को वह तैयार है। प्रागतिक और राष्ट्रीय दल का मतभेद इसी बात में है कि राष्ट्रीय दल जैसे तैसे व नाम मात्र के शासन-सुधार स्वीकार करके अपना ध्येय छोड़ने के लिए और लोगों को यह दिखाने के लिए कि हमें वास्तविक अधिकार मिल गये हैं, तैयार नहीं है।"

थोड़े ही दिनों में अरविंदबाबू पांडीचेरी चले गये। उसके बाद बंगाल में प्रागतिक राजनीति का सदा के लिए खात्मा हो गया। युवक बंगाल बहुत-कुछ सशस्त्र क्रान्तिवादी बन गया और यह सशस्त्र क्रान्तिवाद कल तक वहाँ जीवित था। इस क्रान्तिवाद को महज अधिकारियों का खून करनेवाला आतंकवाद न कहना चाहिए। बारीन्द्र कुमार ने अदालत में अपने बयान में कहा था कि हम यह नहीं मानते कि राजनैतिक हत्याओं से स्वाधीनता मिल जायगी। हम तो यह इस लिए करते हैं कि लोगों को उसकी जरूरत है।* ये क्रांतिकारी संस्थाएँ रूस और इटली के गुप्त षड्यंत्रों की लाइन पर काम कर रही थीं।

जब महात्मा गांधी ने भारतीय राजनीति की बागडोर अपने हाथों में ली तब अरविंदबाबू, विपिनबाबू, लोकमान्य तिलक द्वारा प्रवर्तित बहिष्कार योग का पुनर्जीवन, असहयोग के रूप में हुआ। फलतः बंगाल का सशस्त्र क्रांतिवाद सब जगह नहीं फैलने पाया। आज तो बंगाल के सशस्त्र क्रांतिवादी भी महात्मा गांधी के निःशस्त्र क्रांतिवाद का अवलंबन करने की नीति घोषित कर रहे हैं और निःशस्त्र क्रांति की दीक्षा ले चुकनेवाली कांग्रेस में शामिल हो रहे हैं। जो लोग सशस्त्र क्रांति की अंतिम आवश्यकता को स्वीकार करते हैं वे भी साम्यवाद के क्रांतिशास्त्र का अवलंबन करके वर्ग-संगठन का प्रकट कार्य कानून-कायदे और शांति की व्यावहारिक मर्यादा में रहकर करने लगे हैं। इस तरह आज

* Speeches of Aurobindo Ghose, Appendix.

के हिन्दुस्तान में महात्मा गांधी का अहिंसात्मक निःशस्त्र क्रांतिशास्त्र और साम्यवाद का वैज्ञानिक क्रांतिशास्त्र यही दो क्रांतिकारी राजनीतियाँ बाकी बच रही हैं। इनमें से कांग्रेस ने तो आज महात्मा गांधी के निःशस्त्र क्रांतिशास्त्र को स्वीकार किया है। इन दोनों क्रांतिशास्त्रों में क्या भेद है—इसकी चर्चा हम इस पुस्तक के अंतिम दो प्रकरणों में करेंगे।

: ९ :

राष्ट्रीय आपत्-धर्म

१९०९ ईस्वी में मार्ले-मिंटो-सुधार अमल में आये। १९१० में लार्ड मिंटो गये और लार्ड हार्डिंज वायसराय बनकर आये। तब से भारतीय राजनीति में एक नवीन युग शुरू हुआ और वह लगभग १० वर्ष तक रहा, जिसे राष्ट्रीय दृष्टि से एक आपत्-काल ही कहना चाहिए। इसे मॉर्लेमिंटो-सुधारकाल कहते हैं। राष्ट्रीय दल को वह मंजूर न था। प्रागतिक दल को भी उससे पूरा समाधान नहीं था। बाबू सुरेन्द्रनाथ प्रभृति प्रागतिक बंगाली नेता भी कहते थे कि जबतक बंग-भंग रद्द नहीं हो जाता तब तक हम इन सुधारों को स्वीकार नहीं करेंगे और न नयी धारा सभाओं में जायँगे। राष्ट्रीय दल दमन की चक्की में पीस दिया गया था और लोकमान्य तिलक मांडले में जेल काट रहे थे। देश के उत्साही युवक सशस्त्र क्रान्तिकारी बनकर इधर-उधर हिंसा-काण्ड करते थे। और अमेरिका, युरोप में जाकर षड्यंत्र रचते थे। इस समय बंगाल और महाराष्ट्र की तरह पंजाब में लाला हरदयाल के नेतृत्व में एक सशस्त्र क्रांति-दल स्थापित हुआ जो अमेरिका में 'गदर पार्टी' कहलाया। बाद में इस क्रांतिकारी दल का सूत्र युरोपीय महाभारत के समय में जर्मनी से जुड़ गया और रूस की राज्यक्रांति के बाद श्री मानवेन्द्र राय अदि भारतीय साम्यवादियों का संबंध रूस के बोलशेविकों से हो गया, परंतु, हिन्दुस्तान में साम्यवादियों का क्रांतिवाद १९२२ तक एक दल के रूप में प्रतिष्ठित नहीं हुआ था। इसी प्रकार निःशस्त्र क्रांतिवादी राष्ट्रीय दल भी एक प्रकार के प्रच्छन्न रूप में ही काम कर रहा था।

इन दस वर्षों के दो हिस्से हो जाते हैं—१९१० से १५ तक, और १९१५ से १९२० तक। १९१० से १९१५ तक दोनों प्रकार के क्रांतिवाद अथवा राष्ट्र-वाद किसी तरह जीवित रहने का प्रयत्न कर रहे थे। १९१४ के अंत में युरोपीय महाभारत शुरू हुआ। जिससे दोनों राष्ट्र-वादों को अपना जोर जमाने का मौका मिला। जून १९१४ में लोकमान्य तिलक मांडले से छूट कर लौटे और उन्होंने राष्ट्रीय दल के संगठन का काम शुरू किया। १९१५ से २० तक राष्ट्रीय दल के संगठन और संवर्द्धन का काम लोकमान्य ने किया और कांग्रेस जो प्रागतिक दल के हाथ में थी उसे अपने प्रभाव में लेकर महात्मा गांधी के निःशस्त्र क्रांतिवादी राजनीति के लिए एक प्रभावशाली राष्ट्रीय संस्था बना दी। अलबत्ता १९०५ के बहिष्कार-योग की क्रांतिवादी राजनीति का पुनरुज्जीवन वे उस समय न कर सके। यह कार्य महात्मा गांधी ने १९२० में किया और ९९०७ में सूरत में जो राजनीति की शृंखला टूट गयी थी उसे फिर से जोड़ा। लोकमान्य के जेल-काल में गरम-राजनीति की स्मृति को जागृत रखने का कार्य श्री न० चि० केलकर ने किया।

१९११ के अंत में दिल्ली दरबार हुआ जिसमें सम्राट् पंचमजार्ज का राज्याभिषेक घोषित किया गया। इस समय बंग-भंग रद्द किया गया और राजधानी कलकत्ते से दिल्ली लायी गयी। इन्हीं दिनों अर्थात् अगस्त १९११ में लार्ड हार्डिञ्ज ने इस आशय का एक खरीता विलायत भेजा कि मॉर्ले-मिंटो-सुधारों का विकास प्रांतिक स्वराज्य में होना आवश्यक है। इससे बाबू सुरेन्द्रनाथ ही नहीं, विपिनबाबू भी बहुत संतुष्ट हुए। लार्डहार्डिञ्ज के दिल्ली-प्रवेश के समय किसी ने उन पर बम फेंका, परंतु उससे प्रभावित होकर उन्होंने दमन-नीति का आश्रय नहीं लिया और लोकपक्ष से समझौता करने की नीति ही अख्त्यार की। यह समय गोखले की नरमनीति के दौरदौरे का था। दक्षिण अफ्रीका के भारत-वासियों के सत्याग्रह का पृष्ठ-पोषण करने में माननीय गोखले और लार्ड हार्डिञ्ज दोनों साथ दे रहे थे। ऐसे समय में श्री केलकर ने बहिष्कार-योग की नीति को छोड़ देना ठीक समझा। जब बड़े काम के लायक बड़ा नेता न हो तब सामान्य लोगों को यह कहना ही पड़ता है कि

अपनी शक्ति और सीमा को पहचान कर काम करो, परंतु, जब बड़ा नेता सामने आ जाता है तब यह दलील काम नहीं दे सकती, बल्कि उससे राष्ट्र-कार्य को नुकसान भी हो सकता है। शुद्ध बुद्धिवाद की दृष्टि से भी सामान्य मनुष्य और असामान्य विभूति का यह भेद सच मानना पड़ता है, क्योंकि वह अनुभवगम्य है। फिर भी वह सामान्य मनुष्य-द्वारा असामान्य मनुष्य की, असामान्य विभूति की पूजा करने या उसका शिष्य बनकर उसकी नीति पर चलने में रुकावट नहीं डाल सकता। जब असामान्य विभूति या नेता अपने अनुयायियों के लिए कोई कार्यक्रम बना देते हैं तब स्वभावतः ही सामान्य नेता उनपर अमल करते हैं, परंतु, इससे, अंधानुकरण का आक्षेप नहीं आ सकता। असामान्य नेता अपनी अंतःप्रेरणा के बल पर नवीन सत्य का प्रकाश देते हैं और संसार में उसकी प्रस्थापना भी कर सकते हैं। इस काम में उन्हें अलौकिक स्वार्थत्याग भी करना पड़ता है, परंतु, संसार में जब किसी विभूति के आत्मबल से नवीन सत्य की स्थापना होती है तब उस अलौकिक स्वार्थत्यागी विभूति को सत्य-प्रस्थापना के कार्य में अनेक साधारण लोगों की सहायता की आवश्यकता होती है। और वह उनसे भी कुछ समय तक स्वार्थ-त्याग की अपेक्षा करता है। ऐसे समय सामान्य लोग इस असामान्य विभूति का शिष्यत्व स्वीकार करते हैं और शक्ति भर स्वार्थत्याग करके उसके अंगीकृत महत् कार्य में सहयोग देते हैं। राष्ट्र-निर्माण में महान नेताओं की इस विभूति-पूजा की जो आवश्यकता है वह इसीलिए।

पंजाब के नेता लाला लाजपतराय ने सूरत कांग्रेस में औपनिवेशिक स्वराज्य का ध्येय मंजूर कर लिया और कांग्रेस में रह गये। अतः वे सरकार के पंजे से बच गये। फिर एक-दो साल के बाद कांग्रेस-कार्य के लिए विलायत गये। वहाँ से अमेरिका चले गये। तब फिर भारत-सरकार की कुदृष्टि उन पर पड़ी और सरकार ने उन्हें महायुद्ध खतम होने तक हिन्दुस्तान में नहीं आने दिया। सरकार को यह सन्देह हुआ कि अमेरिका की गदरपार्टी से उनका संबंध होगा, लेकिन बाद को वह गलत साबित हुआ। १९१४ से १९१९ तक के समय में हिन्दुस्तान में

लोकमान्य ने होमरूल आन्दोलन किया। उन दिनों लाला जी अमेरिका में होमरूल-कार्य का प्रचार कर रहे थे। बाबू विपिनचन्द्र पाल सूरत कांग्रेस के समय ही जेल में डाल दिये गये थे। मगर वे जल्दी ही छूट गये और कुछ समय इंग्लैंड जाकर रहे। लौटने पर उन्होंने अपनी नीति बदल दी और यह कहना शुरू किया कि ब्रिटिश साम्राज्य के भीतर रहने में ही हमारा और ब्रिटिश साम्राज्य का हित है। दिल्ली भारत की राजधानी बनायी गयी उस पर उन्होंने सन्तोष प्रकट किया। यह भी लिखना शुरू किया कि लार्ड हार्डिंज ने प्रांतिक स्वराज्य की स्थापना का ध्येय मंजूर कर लिया है और हिन्दुस्तान शीघ्र ही स्वराज्य-मंडित संयुक्त राज्य बन जायगा। अंग्रेज राजनेताओं को उसके सहयोग की आवश्यकता मालूम होने लगी है। इसलिए अब असहयोग की नीति राष्ट्रीय दल को छोड़ देनी चाहिए। क्रांतिकारी राष्ट्रवाद हमारे मार्ग का एक संकट ही है। मुसलमान राष्ट्र तथा चीन की ओर से ब्रिटिश साम्राज्य के लिए संकट पैदा हो गया है। हमारे लिए भी वह एक संकट है। इसलिए ब्रिटिश साम्राज्यवाद को भारतीय राष्ट्रवाद से आज या कल अवश्य ही समझौता करना पड़ेगा। पैन-इस्लामिज्म के संकट को देखते हुए हिन्दुस्तान को क्रांतिकारी राष्ट्रवाद छोड़ देना चाहिए और ब्रिटिश साम्राज्य से मित्रता करनी चाहिए। इस विचारधारा का उद्गम बंगाल के तत्कालीन अति गरम नेता विपिनचन्द्र पाल के लेखों में है। आज हिन्दू-सभा के कुछ नेता इसी पैन-इस्लामिज्म का हौवा खड़ा करके एक ओर हिन्दूराज्य की घोषणा करते हैं और दूसरी ओर ब्रिटिशराज्य से सहयोग करने की पुकार मचाते हैं। मुसलमानी साम्राज्य के द्वेष या भय से बंगाली नेताओं में ब्रिटिश साम्राज्य के प्रति प्रेम बल्कि अंधभक्ति पैदा हुई थी। इसलिए विपिन बाबू की नीति उस परंपरा के अनुरूप कही जा सकती है। परंतु महाराष्ट्र में जो लोग क्रांतिकारी के नाम से प्रसिद्ध हैं वे मुसलमानी साम्राज्य के भय का हौवा खड़ा करके अंग्रेजों से सहयोग की इतनी आवश्यकता क्यों बताते हैं, यह महाराष्ट्रीय परंपरा की दृष्टि से समझना कठिन है। १८५७ में दिल्ली के तख्त पर बूढ़े मुगल बादशाह को बैठा कर स्वराज्य-स्थापना का प्रयत्न करते हुए नाना साहब पेशवा, झाँसी की

रानी अथवा तात्याटोपे इन क्रांतिकारियों को भय नहीं मालूम हुआ; क्योंकि उन्हें यह आत्मविश्वास था कि हिन्दुस्तान में मुसलमान हिन्दुओं पर सदा के लिए अनियंत्रित सत्ता नहीं चला सकते। फिर महाराष्ट्रीय राज-नेता इस बात को जानते थे कि हिन्दू मुसलमानों की एकता के द्वारा पहले जब हम अपनी गुलामी के बंधन तोड़ने लगेंगे तभी दोनों का भला होगा। जो हो, इस समय तो विपिन बाबू ब्रिटिश साम्राज्य से सहयोग करने की नीति का प्रतिपादन करते थे और आगे चलकर जब महात्मा गांधी ने कांग्रेस को असहयोग की दीक्षा दी तब भी उन्होंने गांधी जी का विरोध किया था।

१९१४ में जब लोकमान्य तिलक जेल से छूटकर आये तब उनके सामने यह प्रश्न था कि देश का बल कैसे बढ़ाया जाय और उस में फिर साम्राज्यवाद से लड़ने की शक्ति कैसे पैदा की जाय? देश की हालत कैसी ही हो उसे कर्म-प्रवण कैसे बनाना चाहिए और प्रतिपक्षी पर उसकी छाप कैसे बैठानी चाहिए? लोकमान्य इस कला में निपुण थे। मनुष्य की बुद्धि परिस्थति से बँधी हुई रहती है, यह सच हो तो भी वह उसी बुद्धि की सहायता से परिस्थति पर अपना प्रभुत्व स्थापित कर लेता है। **इसीलिए बुद्धि के केवल परिस्थति-निष्ठ होने से काम नहीं चलता। उसे आत्म-निष्ठ भी होना पड़ता है।** यह आत्म-निष्ठ बुद्धि ज्ञात परिस्थति के उस पार जाकर यह पहचान सकती है कि भावी काल की अज्ञात परि-स्थिति अपने अनुकूल कैसे बनायी जाय। ज्ञात के उस पार उड़कर जाने की शक्ति मानवी बुद्धि को अंतः-प्रेरणा से प्राप्त होती है। सत्य-संशोधन, काव्य-सृष्टि और राष्ट्र-निर्माण जैसे महत् कार्य के लिए आवश्यक नेतृत्वकला इन सबके लिए इस आत्म-निष्ठ बुद्धि की या अंतः-प्रेरणा युक्त बुद्धि की आवश्यकता होती है। लोकमान्य के जैसा अलौकिक लोक-नायकत्व इसीसे प्राप्त होता है। **हाँ, अलबत्ते अंतः-प्रेरणा के फेर में पड़कर बुद्धि की परि-स्थिति पर की पकड़ ढीली न होने देनी चाहिए।** वह ढीली हुई कि मनुष्य सांसारिक कार्यों में और झगड़ों में टिकने के अयोग्य बन जाता है। बुद्धि के पीछे यदि अंतः प्रेरणा का बल न हो तो बुद्धि परिस्थिति की दासी हो जाती है। इसके विपरीत यदि अंतः-प्रेरणा को बुद्धि की सहायता न हो

तो परिस्थिति के ज्ञान के अभाव में वह मनुष्य व्यवहार-शून्य आदर्शवादी बन जाता है। राष्ट्रनिर्माण के लिए ऐसा आदर्शवाद बहुत उपयोगी नहीं होता। वास्तववाद और आदर्शवाद का समन्वय जो बुद्धि कर सकती है वही राष्ट्रनिर्माण कर सकती है। लोकमान्य की बुद्धि इसी तरह की थी। 'सुख दुःख समे कृत्वा लाभालाभौ जयाजयौ' बुद्धि का यह समत्व उनके पास था और 'योगः कर्म सुकौशलम्' में वर्णित कर्मयोग भी उन्हें सहज प्राप्त था।

लोकमान्य की राजनीतिका अंतरंग क्रांतिवादी था; परंतु उनके मन में पहले से ही यह दृढ़ निश्चय था कि हिन्दुस्तान में क्रांति जनता के द्वारा करानी होगी और उसका स्वरूप लोक-सत्ताक होगा। लोक-बल का संगठन कैसे किया जाय और उनका सामर्थ्य कैसे बढ़ाया जाय यह वे जानते थे। सूरत में कांग्रेस के दो टुकड़े हो गये। प्रागतिक दल वालों ने अपना 'कन्वेन्शन' ज्यों त्यों चालू रक्खा। राष्ट्रीय दल जिस कांग्रेस को चाहता था वह नष्ट हो गयी। इस सारी परिस्थिति पर विचार करके उन्होंने यह तजवीज की कि कांग्रेस पर कब्जा किया जाय। उसका वर्तमान ध्येय स्वीकार करके ही वे उसके अंदर दाखिल हो सकते थे। वे जानते थे कि राजनैतिक संस्था में राष्ट्र-शक्ति के प्रविष्ट हो जाने पर उसके साधन और साध्य उसके विकास के साथ ही साथ बदलने चाहिए। जिस मात्रा में राष्ट्र-शक्ति का विकास होता जाता है उसी मात्रा में राष्ट्र की बुद्धि को अधिक उच्च ध्येय सूझने और पटने लगते हैं। अतएव यदि कांग्रेस में घुसने का अवसर न मिला तो राष्ट्र-शक्ति के संगठन के लिए दूसरी संस्था खड़ी करके उसके द्वारा राष्ट्र का काम करने की उनकी तैयारी थी।

अब हम यह देखें कि इस समय कांग्रेस का रुख क्या था। इस वक्त की कांग्रेस प्रागतिकों की कांग्रेस थी, जिस पर सूरत में औपनिवेशिक स्वराज्य का ध्येय व वैधनीति लद गयी थी। कुछ प्रागतिकों की यह इच्छा थी कि सूरत की फूट फिर से जुड़ जाय, लेकिन वे अपना नया ध्येय बदलने को तैयार न थे। इनमें सुरेन्द्रनाथ बनर्जी, पं० मालवीयजी व गोखले तो इस मत के थे कि यदि गरम दल के लोग नयी परिस्थति के अनुकूल होकर कांग्रेस में आना मंजूर करें तो उन्हें लेकर फूट मिटा ली

जाय, किन्तु सर फीरोजशाह मेहता गरम दल वालों को किसी तरह कांग्रेस में आने देना नहीं चाहते थे। सूरत के बाद, मदरास में (१९०८) डा० रास बिहारी घोष के व (१९०९ में) लाहौर में पं० मालवीय जी के सभापतित्व में कांग्रेस के अधिवेशन हुए। लाहौर अधिवेशन के अध्यक्ष सर फीरोज शाह मेहता चुने गये थे, लेकिन गरम दल को कांग्रेस में शामिल न करने के अपने मत के कारण उन्होंने इस्तीफा दे दिया व मालवीयजी अध्यक्ष बनाये गये। परन्तु जब तक लो० तिलक छूटकर नहीं आ जाते तबतक इस मेल के प्रयत्न में सफलता मिलनी कठिन थी। फिर जब १९१४ में लोकमान्य छूटकर आ गये तब श्रीमती बेसेंट ने भी इस मत को जोर की गति दी कि गरम दल से मेल कर लेना चाहिए। इस समय तक मा० गोखले ने भी खुद अपने अनुभव से यह देख लिया था कि मॉर्ले-मिंटो सुधार कितने निराशाजनक हैं और उनके द्वारा प्रारम्भिक शिक्षा के जैसा प्रश्न भी हल नहीं हो सकता था। इधर ब्रिटिश राजनेता भी यह महसूस करने लगे थे कि लार्ड हार्डिंज के प्रान्तिक स्वराज्य-संबंधी सुधारों का विकास करने की आवश्यकता है। फिर योरपीय महायुद्ध शुरू हो गया था, इससे सभी यह मानने लगे थे कि युद्ध में हिन्दुस्तान की सहायता लेने के लिए कुछ महत्त्वपूर्ण सुधार दिये जायँगे व दिये जाने चाहिए। ऐसे समय नरम गरम दोनों दलों के एक हो जाने से देश का बड़ा हित होगा ऐसी राय गोखले, बनर्जी, मालवीय जी की थी। अंत को डा० बेसेंट व तत्कालीन कांग्रेस के मंत्री श्री सुब्बाराव पंतलू की मध्यस्थता से यह तय हुआ कि गरम अर्थात् राष्ट्रीय दल तो प्रागतिकों अर्थात् नरम दल वालों का ध्येय स्वीकार कर ले व राष्ट्रीय दल की जो संस्थाएं इस ध्येय को मान लें उन्हें प्रतिनिधि भेजने का अधिकार दिया जाय, यह शर्त प्रागतिक लोग मंजूर कर लें व दोनों दल के लोग बहुमत के निर्णय पर चलकर एकता से रहें। प्रागतिकों ने यह भी मंजूर किया था कि आगामी मदरास कांग्रेस में यह समझौता पास करा लिया जायगा।

लेकिन इस बीच में तिलक की व गोखले की एक बातचीत से गोखले को यह निश्चय हो गया कि तिलक-पक्ष का मत परिवर्तन नहीं

हुआ है, बल्कि अपने पुराने मत पर उन लोगों की वैसी ही दृढ़ श्रद्धा है, वे एक आपद्धर्म के बतौर प्रागतिकों का ध्येय मंजूर कर रहे हैं। तब उन्होंने (गोखले ने) मद्रास कांग्रेस के मनोनीत सभापति बा० भूपेन्द्र नाथ वसु को एक पत्र लिखा व बताया कि तिलक के भाव-विचार क्या हैं व क्यों उनसे समझौता न करना चाहिए। पत्र में उन्होंने कहा कि तिलक तो कांग्रेस के द्वारा सरकार से स्वराज्य की एक ही मांग करना चाहते हैं व जबतक वह मंजूर न हो तबतक अडंगे की नीति के द्वारा सरकार तंत्र को बेकार बनाकर अँग्रेज राजनेताओं को कांग्रेस की शरण आने पर बाध्य करना चाहते हैं। यदि कांग्रेस के द्वारा यह नीति न चलाई जा सके तो 'राष्ट्रीय संघ' के नाम से अलग संगठन बनाकर उसके द्वारा अपना कार्यक्रम पूरा करेंगे। अर्थात् तिलक वही पुराने तिलक बने हुए हैं यह उन्होंने भूपेन बाबू को बताया। इसके फल-स्वरूप समझौते का प्रश्न फिर एक साल के लिए आगे चला गया। अपने इस रुख-परिवर्तन का स्पष्टीकरण गोखले ने इस प्रकार किया—हम समझ गये थे कि नवीन परिस्थिति के कारण तिलकपक्ष का मत व नीति बदल गयी है किन्तु बाद में हमें अपना यह भ्रम मालूम हुआ अतएव हमने समझौते का विरोध किया। सच पूछा जाय तो १९०८ में भी गरम-नरम दल का विरोध अन्तिम ध्येय-संबंधी उतना नहीं था जितना इस प्रश्न पर था कि अडंगे की नीति अंगीकार की जाय या सहयोग की और अपनी शक्ति स्वराज्य की एक ही मूलग्राही मांग पर केन्द्रित की जाय या फुटकर सुधारों पर बिखेरी जाय।

लो० तिलक को अपनी अडंगा या विरोध-नीति चलाने के लिए कांग्रेस पर कब्जा करना व उसे प्रबल व संगठित बनाना आवश्यक था। उन्हें यह आत्मविश्वास था कि एक बार कांग्रेस में घुस जाने पर वह हमारे अनुकूल ही साबित होगी; क्योंकि वे मानते थे कि सरकारी दमन नीति के कारण लोकमत दबा हुआ है, यों वह उनकी नीति के अनुकूल ही है। अस्तु।

इधर १९१५ में मा० गोखले व सर मेहता दोनों धुरंधर प्रागतिक नेता परलोकवासी हो गये। उस साल कांग्रेस बंबई में हुई थी। उसमें

समझौते का प्रस्ताव पास हो गया व १९१६ की लखनऊ कांग्रेस में राष्ट्रीय दल लोकमान्य के नेतृत्व में उपस्थित हुआ। इसी साल ऐसा अनुभव होने लगा मानों तिलक ने कांग्रेस पर कब्जा कर लिया। इसी साल स्वराज्य की एक सर्वसम्मत मांग पेश की गयी व मुस्लिम लीग का भी समर्थन लोकमान्य ने जिना, महमूदाबाद के राजा व डा० अनसारी आदि मुसलमानों के नेताओं से समझौता करके प्राप्त कर लिया था। उस समय अपने भाषण में उन्होंने कहा था 'जिस बहिष्कार-संबंधी प्रस्ताव पर इतना झगड़ा हुआ था उससे भी यह प्रस्ताव अधिक महात्त्व का है। हिन्दू, मुसलमान, नरम-गरम सब दल वालों ने संयुक्तप्रांत में संयुक्त होकर स्वराज्य की हलचल करने का निश्चय किया है और हमें यह सौभाग्य (Luck) अब (now) लखनऊ (Lucknow) में मिला है। * कुछ लोग यह शिकायत करते हैं कि हिन्दुओं को मुसलमानों के सामने झुकना पड़ा है। पर मैं कहता हूँ कि अगर अकेले मुसलमानों को भी स्वराज्य के अधिकार दिये गये तो हम उसे बुरा न मानेंगे। यह कहते समय मैं हिन्दुस्तान के तमाम हिन्दुओं की भावना व्यक्त कर रहा हूँ। यदि अकेले राजपूत या पिछड़ी जातिवालों को ज्यादा लायक समझ कर उन्हें सब अधिकार दे दिये जायँ तब भी मैं कुछ नहीं कहूँगा। हिन्दुस्तान के किसी भी वर्ग को दिये जायँ तब भी मुझे कोई चिन्ता नहीं है; क्योंकि तब झगड़ा उस वर्ग व शेष समाज के बीच ही रहेगा, आज का तिरंगी सामना तो मिट जायगा।'

लोकमान्य का निश्चित मत था कि स्वराज्य के लिए केवल प्रस्ताव पास करने से काम न बनेगा, सारे देश में जोर का आन्दोलन करना पड़ेगा। लेकिन कांग्रेस के जरिये एकाएक ऐसा होना शक्य नहीं था अतएव उन्होंने 'होमरूल लीग' या 'स्वराज्य संघ' नामक एक स्वतंत्र संस्था खड़ी की। कांग्रेस की मांग के लिए साल भर लगातार आन्दोलन करते रहना इसका काम था। मदरास में डा० बेसेंट ने भी ऐसा ही एक स्वराज्य संघ शुरू किया था, लेकिन दोनों को एक कर देने की उनकी तैयारी न थी। मगर लोकमान्य का यह खयाल था कि कांग्रेस का काम करनेवाले ये दोनों संघ एक हो सकते हैं। उन्होंने अपने लेखों में यह स्पष्ट

* We have that luck now in Lucknow.

किया था कि 'स्वराज्य संघ' का कांग्रेस से विरोध नहीं, उलटा ये वह काम करेंगे जो कांग्रेस अब तक न कर पायी थी। भिन्न भिन्न प्रांतों में 'स्वराज्य संघ' स्थापित हों तो उनमें परस्पर विरोध होने की कोई गुंजायश नहीं है।

लोकमान्य ने यद्यपि 'स्वराज्य' शब्द का भाषान्तर 'होमरूल' कर दिया व सम्राट् के प्रति वफादारी की घोषणा भी कर दी तथापि नौकरशाही यह अच्छी तरह जानती थी कि उनके आन्दोलन से जो लोकशक्ति निर्माण होने वाली है वह उसके लिए मारक ही साबित होगी। इसलिए उसने १९१६ में लोकमान्य पर राजद्रोह का तीसरा मुकदमा चलाया और इधर बंबई-सरकार ने उन्हीं दिनों डा० बेसेंट को बंबई-प्रांत में आने से रोक दिया परन्तु बम्बई हाईकोर्ट ने लोकमान्य को बरी कर दिया जिस से वे लखनऊ जाकर कांग्रेस में स्वराज्य के प्रस्ताव पर एक वाक्यता करा सके। किन्तु लखनऊ के बाद फिर तिलक महाराज व डा० बेसेंट के आन्दोलन को दबाने की शुरूआत नौकरशाही ने कर दी, जिसका पहला कदम था भारत रक्षा कानून के मातहत डा० बेसेंट व श्रीएरुंडेल को मदरास-प्रांत में नजरबंद कर देना। इस दमननीति के साथ ही मदरास के तत्कालीन गवर्नर लार्ड पेंटलैंड ने भेद-नीति से भी काम लेना शुरू किया। उन्होंने कहा कि 'सरकार कांग्रेस के खिलाफ नहीं है, स्वराज्य संघ के विचारों के खिलाफ है।' इसपर लोकमान्य ने जवाब दिया कि '१९०८ में सरकार की नीति थी नरम दल अपनाओ व गरम को दफनाओ। अब कांग्रेस से विरोध न बताना व स्वराज्य संघ को दबाना वही पुरानी भेद-नीति है। वस्तुतः कांग्रेस व स्वराज्यसंघ के लक्ष्य में कोई अन्तर नहीं है। अतः इस समय हमें 'वयं पंचोत्तरं शतम्' वाली कहावत चरितार्थ करना चाहिए। जो ऐसा नहीं करेगा वह भावी इतिहास में देशद्रोही गिना जायगा।'

इस प्रकार लोकमान्य के आवाज उठाने पर डा० बेसेंट की नजरबन्दी के खिलाफ देश में बड़े जोर की लहर उठ खड़ी हुई व फिर से स्वदेशी, बहिष्कार, राष्ट्रीय शिक्षा एवं कौंसिलों से इस्तीफे व सत्याग्रह तक की चर्चा राजनैतिक क्षेत्रों में होने लगी। अबतक जो बड़े बड़े लोग स्वराज्य संघ से दूर रहते थे वे शामिल होने लगे। नरम-गरम का भेद कतई मिट गया। कलकत्ते में तय हुआ कि सारे बंगाल-प्रान्त में स्वराज्य का

आन्दोलन चलाया जाय। लखनऊ में भी मुसलमानों ने पेंटलंड साहब का विरोध करके डा० बेसेंट के प्रति अपनी हमदर्दी जाहिर की। कौंसिलों के सभासद, वकील, बैरिस्टर, सब हर सूबे में होमरूल लीग के सदस्य बनने लगे। हजारों लोग अपना यह दृढ़ संकल्प प्रकट करने लगे कि सरकार नाराज हो तो पर्वा नहीं, स्वराज्य-प्राप्ति के लिए हम बराबर उद्योग करते रहेंगे। भारत-रक्षक सेना के लिए जो भरती करना चाहते थे उन्होंने वह बन्द कर दिया। स्वदेशी, बहिष्कार की शपथ ली जाने लगी। पेंटलैंड सा० को वापस बुलाने के लिए विलायत तार जाने लगे। मि० बोमन जी अकेले ने स्वराज्य-आन्दोलन चलाने के लिए १ लाख रु० देने का अभिवचन दिया। यह चर्चा भी चली कि श्रीमती बेसेंट को छुड़ाने के लिए सत्याग्रह छेड़ा जाय। आ० इ० कांग्रेस कमेटी, मुस्लिमलीग, होमरूल लीग आदि संस्थाएँ इसमें दिलचस्पी लेने लगीं। उन्हीं दिनों प्रयाग में पं० मालवीयजी की अध्यक्षता में लो० तिलक का स्वराज्य पर भाषण हुआ जिसमें उन्होंने सत्याग्रह अथवा निःशस्त्र-प्रतिकार के बारे में कहा—"जो कानून-कायदे न्याय व नीति के विरुद्ध हों उनका हम पालन नहीं कर सकते। निःशस्त्र-प्रतिकार साधन है, साध्य नहीं। किसी खास हुक्म को मानने या न मानने से क्या हानि-लाभ होगा इसका विचार करके काम करना निःशस्त्र-प्रतिकार है। यदि हमारी समतोल बुद्धि ने यह फैसला दिया कि खास हालतों में इस हुक्म को तोड़ना ही लाभदायक है तो इस नियम पर चलना नैतिक दृष्टि से समर्थनीय होगा। लेकिन इस प्रश्न का निर्णय इतनी बड़ी सभा में नहीं किया जा सकता। **वह आप को अपने नेताओं पर ही छोड़ना चाहिए।** हमारी लक्ष्य-सिद्धि के मार्ग में कृत्रिम व अन्यायी कानून या परिस्थिति बाधक हो उसका मुकाबला करना निःशस्त्र-प्रतिकार है। निःशस्त्र-प्रतिकार बिल्कुल वैध है। इतिहास ने यह साबित कर दिया है कि कानून-संगत व विधि-विहित दो अलग अलग शब्द हैं। जबतक कोई भी कायदा न्याय व नीति-संगत न हो व १९वीं—२० वीं सदी की नीति के अनुकूल लोकमतानुसार न हो तब तक वह कानून-संगत भले ही हो, विधि-विहित नहीं हो सकता। यह भेद आप अच्छी तरह समझ लें। मैं कहता हूँ कि आप बिलकुल वैध मार्ग पर

चलिए। परंतु साथ ही मैं यह भी कहता हूँ कि कि प्रत्येक कायदा शास्त्रीय अर्थ में 'वैध' नहीं हो सकता।'

इन्हीं दिनों महात्मा गांधी हिन्दुस्तान में अपना दो साल का प्रारम्भिक निरीक्षण-कार्य पूरा करके चम्पारन में सत्याग्रह का पहला प्रयोग कर रहे थे। इसी समय अप्रैल में उन्होंने उस जिले के मजिस्ट्रेट का हुक्म खुल्लम-खुल्ला तोड़ा था व अन्त को सरकार के हुक्म से वह निषेधाज्ञा वापिस ले लेनी पड़ी थी। इस तरह अब भारतीय राजनीति धीरे धीरे सत्याग्रह के पथ पर अग्रसर हो रही थी। लो० तिलक इस सिद्धान्त का प्रकट रूप से समर्थन करने लगे थे। इतने ही में डा० बेसेंट छोड़ दी गयीं व ब्रिटिश सरकार ने यह घोषणा की कि 'हिन्दुस्तान को स्वराज्य मिलेगा, लेकिन वह किस्तों में दिया जायगा। पहली किस्त महायुद्ध के बाद मिलेगी, बाकी किस्तें कब दी जायँगी इसका फैसला पार्लमेंट समय समय पर करेगी व पहली किस्त की योजना बनाने के लिए व भारत का लोकमत जानने के लिए भारत-मंत्री मांटेगू साहब हिन्दुस्तान आयेंगे'। इससे यह क्षुब्ध वातावरण कुछ देर के लिए शान्त हो गया व जबतक मांटेगू सुधारों का रूप सामने नहीं आ जाता तबतक स्वराज्य के लिए सत्याग्रह का या प्रत्यक्ष प्रतिकार का प्रश्न खड़ा होने का कारण नहीं रहा।

१९१७ के दिसंबर में कांग्रेस का अधिवेशन कलकत्ते में होनेवाला था। राष्ट्रीय दल ने अध्यक्ष के लिए डा० बेसेंट का नाम सुझाया। वह मंजूर भी हो गया। सुरेन्द्रनाथ बनर्जी आदि प्रागतिकों को यह पसंद नहीं हुआ। लेकिन इस समय कांग्रेस में तिलक महाराज का बोलबाला था। इसका फल यह हुआ कि प्रागतिकों ने अपनी अलहदा 'प्रागतिक परिषद्' बनायी। कलकत्ता-कांग्रेस में मुख्य प्रश्न स्वराज्य का ही था। कांग्रेस व मुस्लिम लीग ने अपनी मांगों की एक तजवीज तैयार कर रक्खी थी। उसका समर्थन तो करना ही था, पर साथ ही माण्टेगू सा० की स्वराज्य-घोषणा पर भी उसे अपनी राय देनी थी। लोकमान्य आदि राष्ट्रीय नेताओं ने इस योजना के तीन हिस्से किये थे (१) हिन्दुस्तान को स्वराज्य देना, (२) वह किस्तों में देना और (३) इन किस्तों के स्वरूप व समय का निश्चय पार्लमेंट द्वारा होना। इनमें पहले दो हिस्से नेताओं को मंजूर

हुए, किन्तु तीसरा हिस्सा बिल्कुल नामंजूर किया गया; क्योंकि वह स्वयं निर्णय के सिद्धान्त के बिल्कुल खिलाफ था और इस बात का निश्चय नहीं हो पाता था कि ब्रिटिश पार्लमेंट कब स्वराज्य देगी। इसलिए कांग्रेस ने अपने प्रस्ताव में कहा कि पूर्ण स्वराज्य देने का एक ही कानून पार्लमेंट जल्दी बना दे और उसी में यह बता दिया जाय कि स्वराज्य की किस्तें कब कब दी जायँगी। इससे लाभ यह था कि निश्चित मीयाद खतम होने पर अपने आप स्वराज्य मिल जायगा, ब्रिटिश पार्लमेंट की तरफ देखने की या उसके लिए उससे लड़ने की आवश्यकता न रह जायगी। इस प्रस्ताव के तीन भाग थे। पहले भाग में स्वराज्य की घोषणा के प्रति कृतज्ञता-पूर्वक सन्तोष प्रकट किया गया था, दूसरे भाग में यह कहा गया था कि पार्लमेंट पूर्ण स्वराज्य अमुक समय में देने का कानून तुरंत बना दे और तीसरे भाग में यह चाहा गया था कि कांग्रेस व मुस्लिमलीग द्वारा तैयार की गयी सुधार-योजना स्वराज्य की पहली किस्त के तौर पर मंजूर की जाय। इस प्रस्ताव पर बोलते हुए लो० ने कहा—"स्वराज्य की घोषणा के प्रति हम कृतज्ञता-पूर्वक सन्तोष व्यक्त करते हैं। किस्तों से स्वराज्य मिलने की शर्त भी हमें मंजूर है। मगर किस्तों का समय व रूप ब्रिटिश सरकार तय करेगी यह हमें मंजूर नहीं। यह बात तो हमारे ठहराने की है। सरकार की लहर पर अवलम्बित रहना मुनासिब नहीं। किस्तें अभी तय कर दीजिए। इसके बारे में हम समझौता नहीं कर सकते। कांग्रेस-लीग योजना अभी मंजूर होनी चाहिए। यह हमारी कम से कम मांग है। यह स्वराज्य-स्थापना की दागबेल होगी। हमारा सारा घर हमें अपने कब्जे में लेने का अधिकार है। उसका कुछ भाग आप के हवाले रहने देना हमारी तरफ से एक रिआयत है। वह इस आशा से दी जाती है कि आप जल्दी से जल्दी हमारा घर खाली कर देंगे। हम आप को कुछ दिन और रहने देंगे लेकिन—घर के मालिक हम हो गये—यह बात आज ही आप को मजूर कर लेनी होगी। कांग्रेस की योजना का पहला गुण यह है कि उसमें केन्द्रीय सरकार पर लोक-नियुक्त सभा का नियंत्रण रक्खा गया है। केन्द्रीय सरकार में जबतक समान भागीदारी नहीं मिल जाती तबतक म्युनिसिपलिटी, लोकल-

बोर्ड–जैसी छोटी संस्थाओं में भी स्वराज्य की भावना से काम नहीं हो सकेगा।"

लोकमान्य का यह भाषण भावी राजनीति की दृष्टि से बहुत महत्त्व-पूर्ण है। इसमें चार सिद्धान्त थे–(१) एक ही कानून के द्वारा स्वराज्य मिलना चाहिए, (२) हिन्दुस्तान के लोग मालिक हो गये, इस आधार पर कोई समझौता होना चाहिए, (३) स्वराज्य की पहली किस्त में केन्द्रीय सरकार में समान भागीदारी मिलनी चाहिए व (४) सम्पूर्ण स्वराज्य-प्राप्ति की मीयाद इसी कानून द्वारा निश्चित हो जानी चाहिए। पूर्ण स्वराज्य देने का सवाल तो दरकिनार, इनमें से एक भी सिद्धान्त मांटेगू सुधारों में मंजूर नहीं किया गया था। उस योजना को इन्हीं सिद्धान्तों पर कसकर अमान्य ठहराया गया था। यह माना गया कि न तो यह स्वराज्य है, न स्वराज्य की नींव ही है।

इधर मांटेगू-सुधार-योजना के प्रकाशित होते ही, प्रागतिक दल को कांग्रेस से फूटकर निकल जाने का एक नया कारण मिल गया। बंबई में लोकमान्य व उधर बंगाल में देशबन्धु दास दोनों इन सुधारों के प्रति सहयोग की नहीं विरोधीनीति रखते थे–यह बात सुरेन्द्रबाबू को अच्छी तरह मालूम थी। इनको भी सुधार असन्तोष-जनक मालूम होते थे; किन्तु फिर भी वे सहयोग के लिए तैयार थे। किन्तु इनके एक दूसरे नेता, पं० मालवीय जी का कहना था कि तिलक के राष्ट्रीय दल का बहुमत कांग्रेस में विधिवत् हुआ है और बहुमत को खतरे से सावधान रखते हुए अन्त को मान लेना ही हमारा कर्तव्य है। देश की राजनीति परि-स्थिति के अनुसार बढ़ती व बदलती रहेगी। उसको पुरानी लीकों में ही चलाते रहने का प्रयत्न करना तमोगुणी आग्रह है। इससे राष्ट्र-कार्य की हानि होती है। यह पण्डित जी ने सूरत-काण्ड के बाद अच्छी तरह देख लिया था और इसलिए उन्होंने तमाम प्रागतिक दल से आग्रह किया था कि वह कांग्रेस को न छोड़े। परन्तु उनकी न चली। लोकमान्य ने भी बहुमत को मानने की दुहाई देकर समझाया, फूट से देश की हानि होगी यह बताया, पर प्रागतिक दल अलग होकर ही रहा।

इसके बाद थोड़े ही दिनों में बंबई में कांग्रेस की एक विशेष बैठक

हुई जिसमें डा० बेसेंट, लो० तिलक व कुछ प्रागतिक नेताओं के एक-मत से स्वराज्य की मांग का प्रस्ताव पास हुआ व कांग्रेस का शिष्टमण्डल विलायत गया। लो० तिलक भी उसमें थे। इस शिष्टमण्डल के विलायत में रहते हुए दिल्ली में (दिसंबर १९१८ में) कांग्रेस का वार्षिक अधिवेशन हुआ। उसमें स्वराज्य-संबंधी प्रस्ताव बंगाली नेताओं ने बदल कर पूर्ण प्रान्तिक स्वराज्य व केन्द्रीय सरकार में समान भागीदारी की मांग, स्वराज्य की पहली किस्त के तौर पर, करने का प्रस्ताव मंजूर कर लिया। इस समय विलायत के शिष्टमण्डल में डा० बेसेंट व लो० तिलक में इस बात पर घोर मतभेद हो गया कि ब्रिटिश राजनेताओं के सामने स्वराज्य की कौनसी मांग पेश की जाय। डा० बेसेंट बंबई वाली मांग पर दृढ़ रहीं, व लो० तिलक कांग्रेस की आज्ञा, दिल्ली वाले प्रस्ताव, पर कायम रहे। बहुमत को मानने की उनकी नीति के अनुसार लो० यही कर सकते थे। इसको लेकर आगे लो० व डा० बेसेंट में बड़ा झगड़ा खड़ा हुआ। लो० कांग्रेस के साथ साथ आगे बढ़ते गये, व डा० बेसेंट पीछे फिसलती गयीं। विलायत से लौटने पर लोकमान्य ने लोगों को—

"यथा काष्ठं च काष्ठं च समेयातां महोदधौ।
समेत्य च व्यपेयातां तद्वत् भूतसमागमः ॥"

इस सिद्धान्त की शिक्षा दी कि बहुमत के सामने सिर झुकाना ही चाहिए, जबतक किसी के पीछे राष्ट्र का बहुमत है तभी तक वह राजनीति में काम कर सकेगा, नेता कितना ही बड़ा क्यों न हो किसी खास परिस्थिति में उसने कितना ही बड़ा काम क्यों न किया हो, यदि राष्ट्र के आगे चलकर उसका नेतृत्व करने की उसकी तैयारी न हो तो राष्ट्र को उसे पीछे छोड़ कर आगे बढ़ जाना चाहिए।

शिष्टमण्डल के विलायत से लौट आने पर, दिसंबर १९१९ में अमृतसर में होनेवाली कांग्रेस का विषय ही लोकमान्य के सामने सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण था। उनके विलायत में रहते हुए ही महात्मा गाँधी ने रोलट-कानून के खिलाफ एक प्रचण्ड राष्ट्रव्यापी सत्याग्रह-आन्दोलन, ६ से १३ अप्रैल (१९१९) तक हिन्दुस्तान में चला दिया था। इसी समय जालियाँवाला बाग में अमानुष रक्तकाण्ड करके ब्रिटिश साम्राज्य-

वाद ने अपना शैतानी स्वरूप महात्मा जी को दिखा दिया था। फिर भी महात्मा गांधी का रुख था कि हण्टर कमेटी को, जो कि पंजाब के फौजी कानून की जाँच के लिए नियुक्त की गयी थी, एक मौका और इस बात को जाहिर करने के लिए दिया जाय कि जनरल डायर का यह अमानुष रक्तपात साम्राज्यशाही को पसन्द नहीं है, यह उसका नित्य रूप नहीं है, यह ब्रिटिश साम्राज्य के अंतरंग को नहीं प्रकट करता है बल्कि एक खास फौजी अफसर की अमानुषता का प्रमाण है। तबतक उनका यह कहना था कि कांग्रेस को सहयोग की नीति छोड़कर असहयोग की लड़ाई न छेड़नी चाहिए। उनके मनमें यह बात जरूर थी कि अगर हण्टर कमेटी की रिपोर्ट पर ब्रिटिश सरकार का निर्णय असन्तोषजनक हुआ तो मैं खुल्लमखुल्ला असहयोग की लड़ाई ठान दूँगा। देशबन्धु दास आदि बंगाली नेता कहते थे कि अभी से अडंगा नीति चालू करके इस कानून को खतम कर दिया जाय। इतने ही में सम्राट् की नवीन कानून को प्रचलित करने की घोषणा प्रकाशित हुई जिसमें लोगों से सहयोग के लिए कहा गया था। इसके साथ ही राजबन्दियों को छोड़ने की नीति भी जाहिर की गयी। लो० तिलक व स्वराज्य संघ के बैप्टिस्टा आदि नेता जब अमृतसर जा रहे थे तो रास्ते में उन्होंने यह घोषणा देखी। उन्होंने तुरंत ही सम्राट् को यह तार-सन्देश भेजा कि हम सुधार-कानून के प्रति प्रतियोगी सहकारिता की नीति रखेंगे। लोकमान्य की मृत्यु के बाद उनके शिष्य कहलाने वाले कुछ नेताओं ने 'प्रतियोगी सहकारिता' का अर्थ कर दिया 'बिलाशर्त सहयोग' जिस से वह शब्द आज हास्यास्पद बन गया है। किन्तु खुद लोकमान्य ने उसका अर्थ इसप्रकार किया है—'नौकरशाही यदि सहयोग करने को तैयार हो व करे तो उसको वैसा ही उत्तर देने के लिए लोग भी सहयोग करने को तैयार हैं। यदि वह तैयार न हो तो विरोध करना लाजिम होगा।' अर्थात् प्रतिपक्षी सहयोग करे तो सहयोग, व असहयोग करे तो असहयोग करना—यही प्रतियोगी सहकारिता का सच्चा अर्थ है तथा लोग कब सहयोग करें व कब असहयोग पुकारें—इसके निर्णय का अधिकार लोकमान्य के मतानुसार, कांग्रेस को ही है।

इस तरह अमृतसर में महात्मा गांधी सहयोग-नीति, देशबन्धु दास

अडंगानीति व लोकमान्य तिलक प्रतियोगी सहकारिता की नीति के पक्ष में थे। ये सब लोग इस बात पर सहमत थे कि नवीन कानून के अनुसार जो चुनाव हों उनमें भाग अवश्य लिया जाय। अतएव तीनों के लिए सन्तोषजनक शब्द-रचना उस प्रस्ताव में की गयी थी। वह इस प्रकार थी—

(क) यह कांग्रेस अपनी पिछले वर्ष की घोषणा को दुहराती है कि भारतवर्ष पूर्ण उत्तरदायी शासन के योग्य है और इसके खिलाफ जो बातें समझी या कही जाती हैं उनको यह कांग्रेस अस्वीकार करती है।

(ख) वैध सुधारों के सम्बन्ध में दिल्ली की कांग्रेस द्वारा पास किये गये प्रस्तावों पर ही कांग्रेस दृढ़ है और इसकी राय है कि सुधार कानून अपूर्ण, असन्तोषजनक और निराशापूर्ण है।

(ग) आगे यह कांग्रेस अनुरोध करती है कि आत्म-निर्णय के सिद्धान्त के अनुसार भारतवर्ष में पूर्ण उत्तरदायी सरकार कायम करने के लिए पार्लमेंट को शीघ्र कार्रवाई शुरू करनी चाहिए।

(घ) यह कांग्रेस विश्वास करती है कि जबतक इस प्रकार की कार्रवाई नहीं की जाती तबतक, जहाँ तक सम्भव हो, लोग सुधारों को इस प्रकार कार्य में लावेंगे जिससे भारतवर्ष में शीघ्र पूर्ण उत्तरदायी शासन कायम हो सके। सुधारों के सम्बन्ध में माननीय माण्टेगू साहब ने जो मिहनत की है उसके लिए यह कांग्रेस उन्हें धन्यवाद देती है।

देशबन्धु दास, लो० तिलक व महात्मा गांधी तीनों ने इस प्रस्ताव का समर्थन किया। फिर भी प्रागतिक दल इससे सहमत न हुआ; क्योंकि यद्यपि इसमें सुधारों को कार्यान्वित करने (Work the Reform) की बात कही गयी है तथापि प्रागतिकों की राय थी कि चूँकि इसमें यह कहा गया है कि ऐसी नीति से काम करना चाहिए जिससे जल्दी से जल्दी पूर्ण स्वराज्य स्थापित हो, इसलिए इन सुधारों को भरसक जल्दी भंग करने की तरफ ही इस प्रस्ताव का झुकाव है। प्रागतिकों की स्वतंत्र परिषद् बन चुकी थी। मा० शास्त्री आदि कुछ प्रागतिक कांग्रेस में गये थे व डा० बेसेंट ने इस प्रस्ताव के विरोध में इस आशय का प्रस्ताव पेश भी किया था कि सुधारों से जितना लोक-हित हो सकता है वह किया

जाय व सुधारों की गाड़ी मजे में चलती रहे, किन्तु वह बहुमत से नामंजूर हो गया।

इधर नवीन चुनावों में कांग्रेस का विरोध करने के लिए प्रागतिक व अब्राह्मण-दल एक हो गये। प्रागतिकों का नेतृत्व डा० परांजपे व अब्राह्मणों का श्री बालचंद कोठारी ने किया। अमृतसर के बाद ही सोलापुर में (अप्रैल १९२० में) प्रागतिक दल की बंबई-प्रान्तीय परिषद् हुई जिसमें अब्राह्मण-दल भी शरीक हुआ। इसमें उन्होंने अ० भारतीय नेता के रूप में डा० बेसेंट को भी बुलाया था। इस पर लो० ने अमृतसर-प्रस्ताव का आशय इस तरह समझाया था—

'कांग्रेस कहती है कि जो कुछ पल्ले पड़ा है उससे फायदा उठाओ। परन्तु जो मिला है वह सन्तोषजनक नहीं, निराशाजनक है, अतः जबतक पार्लमेंट पूर्ण स्वराज्य न दे दे तबतक आन्दोलन करते रहना चाहिए। ऐसा करते हुए सारे देश के हित की दृष्टि से नौकरशाही के साथ कभी सहयोग तो कभी असहयोग करना पड़ेगा। आवश्यकतानुसार जो इन दोनों साधनों से काम लेंगे वही सच्चे कांग्रेस-भक्त हैं और उन्हीं को वोट देना चाहिए, दूसरों को नहीं।'

कौंसिलों में चले जाने पर कांग्रेस डेमोक्रेटिक पार्टी की नीति बताते हुए लो० ने कहा था—'इस कानून में से यदि पूर्ण स्वराज्य का विधान उत्पन्न करना हो तो इसकी उम्र जितनी जल्दी खतम हो उतना ही अच्छा। जिसे पतंग बनाना है वह केवल कीड़े की हालत में कब तक रहेगा?' इससे कांग्रेस लोकशाही दल (डेमोक्रेटिक पार्टी) की नीति अच्छी तरह साफ हो जाती है। पार्टी के घोषणा-पत्र में उन्होंने कहा—'कांग्रेस के प्रति अचल निष्ठा व लोकशाही (जनतंत्र) पर दृढ़ विश्वास' यह इस दल के मुख्य आधार हैं। शिक्षा-प्रचार, मत दाताओं की संख्या-वृद्धि, जाति-भेद तथा रूढ़ि-संबंधी अयोग्यताएँ दूर करना, धार्मिक सहिष्णुता, ब्रिटिश साम्राज्य में भारत को समान भागीदारी प्राप्त कराना, इसके लिए 'जैसे के साथ तैसा' इस नीति के अनुसार काम कराना आदि बातों का खुलासा करते हुए इस दल की यह माँग बतायी गयी है—'यहाँ की शासन-प्रणाली कैसी हो व कानून-विधान कैसा बने—यह निर्णय

करने का (आत्म-निर्णय का) अधिकार अकेले भारतवासियों का ही होना चाहिए।' फिर शासन-सुधारों को अपूर्ण, असन्तोषकारक व निराशाजनक बताते हुए उसके संशोधन के रूप में यह मांग की गयी है—'हिन्दुस्तानियों को पूर्ण स्वराज्य दिया जाय, यानी भारतीय सेना पर उनका पूरा अधिकार हो, उन्हें आर्थिक स्वतंत्रता रहे, नागरिकता के सम्पूर्ण अधिकारों का जनता को विधिवत् आश्वासन दिया जाय।' संक्षेप में 'शिक्षण, आन्दोलन व संगठन' यह इस दल का मंत्र-वाक्य बताया गया था; साथ ही 'जहाँ सम्भव होगा वहाँ सहयोग व जहाँ आवश्यक होगा वहाँ वैध रीति से विरोध' करने की दल की नीति जाहिर की गयी थी।

इस तरह लोकमान्य ने नरमनीति का अन्त करके पूर्ण स्वराज्य मिलने तक लड़नेवाली एक सेना खड़ी कर दी। राष्ट्रीय आपत्-धर्म का समय अब खतम हो रहा था। थोड़े ही दिनों में हण्टर कमेटी की रिपोर्ट प्रकाशित हुई जिसे देखकर म० गांधी को लगा कि अब वैध राजनीति का युग समाप्त हुआ व उन्होंने निश्चय किया कि भारत को निःशस्त्र क्रांति की दीक्षा दी जाय। लो० ने म० गांधी से कहा—"यदि लोग आप के शस्त्र को उठा लें तो मैं आप का ही हूँ।" (If the people follow your method I am yours.) हण्टर कमेटी की रिपोर्ट से यह साफ जाहिर होता था कि साम्राज्यशाही सहयोग के लिए तैयार नहीं है। अब प्रतियोगी सहकारिता को असहकारिता का रूप मिलना लाजिमी था; क्योंकि अब निःशस्त्र या सशस्त्र क्रान्ति के सिवा दूसरा रास्ता ही कॉंग्रेस के पास नहीं रह गया था और लोकमान्य तो अब तक यही कहते आ रहे थे कि निःशस्त्र क्रान्ति मार्ग ही हमारी परिस्थिति के अनुकूल है। फिर अब तो म० गांधी जैसा लोकोत्तर नेता मिल गया। ऐसी दशा में यदि लोक० उन्हें पूर्वोक्त आश्वासन दें तो कौन आश्चर्य की बात है। परन्तु दुर्भाग्य से इस असहयोग-संग्राम का महोत्सव देखने के लिए लोकमान्य जीवित न रहे। १अगस्त १९२० को बंबई में उनका शरीरान्त हो गया और क्रान्ति की वह ज्योति जिसे उन्होंने स्वार्थ का हवन कर-करके जगा रखी थी उनके शरीर-बन्धन से मुक्त होकर सारे भारत खण्ड में फैल गयी। लोकमान्य के देहावसान का

दिन भारतीय राष्ट्र के स्वातन्त्र-यज्ञ की असहयोग-दीक्षा का दिन साबित हुआ। लोकमान्य की देह पञ्चत्व में विलीन हुई व उनकी क्रान्तिकारी आत्मा सारे भारतवर्ष में व्याप्त हो रही।

: १० :

भारतीय सत्याग्रह संग्राम

"निःशस्त्र प्रतिकार भारत की कई बीमारियों—बुराइयों का एक रामबाण उपाय है। हमारी संस्कृति के अनुकूल यही एक शस्त्र हमारे पास है। हमारे देश व जाति को आधुनिक सभ्यता से बहुत कम सीखना है, क्योंकि उसका आधार घोर से घोर हिंसा पर है जो कि मानव में दैवी गुणों के अभाव को सूचित करती है और जो खुद ही अपने विनाश की ओर दौड़ी जा रही है।"

महात्मा गांधी (१६०६ में काँग्रेस को संदेश)

"जब कानून की मर्यादा धर्म-मूलक या न्याय-मूलक नहीं होती व रहती व केवल सत्ता के बल पर उसका पालन कराया जाता हो तब विचारशील मनुष्य के सामने यह प्रश्न आता है कि वह न्याय के प्रति अपनी सत्य-निष्ठा पर दृढ़ रहकर उस कानून की सजा को भुगते या उस दण्ड के भय से ईश्वर-निर्मित न्याय्य तत्वों की उपेक्षा करे। ऐसे समय न्यायनिष्ठ व सत्यनिष्ठ मनुष्य कहते हैं कि कानून के कृत्रिम बंधनों को न मानना ही उचित है। परन्तु इसके लिए सत्य व न्याय के प्रति बहुत तीव्र निष्ठा आवश्यक होती है। इतनी कि अपने सुख, स्वार्थ, बाल-बच्चों तक का खयाल तक मन में न आना चाहिए। इसी को मानसिक धैर्य, सच्ची सत्यनिष्ठा अथवा सात्विक शील और दानत कहते हैं। यह गुण विद्वत्ता से नहीं आता, न बुद्धिमत्ता से ही। इसके लिए उपनिषद् का यह वचन याद रखना चाहिए—

'नायमात्मा प्रवचनेन लभ्यो न मेधया न बहुना श्रुतेन'।

"जो देशभक्त वैध रीति से सुधार कराना चाहते हैं उनके रास्तों में कई कठिनाइयाँ आती हैं। मन संतप्त रहता है, सुधार की उत्कट इच्छा होती है, कानून भंग करना अटपटा लगता है, लेकिन कोई उपाय नहीं दीख पड़ता! ऐसी ही कठिनाइयों में गांधी को निःशस्त्र प्रतिकार का, विरोध का, या उनकी भाषा

में सत्याग्रह का मार्ग सूझा है और इस पर चलते हुए उन्होंने बहुत कष्ट सहे हैं इसीलिए अब वह शास्त्र-पूत हो गया है।"

—तिलक (महात्मा गांधी के जीवन चरित की प्रस्तावना में)

पिछले प्रकरण के अन्त में यह कहा ही जा चुका है कि १ अगस्त १९२० ई० को हिन्दुस्तान ने म० गाँधी के नेतृत्व में ब्रिटिश साम्राज्य-वाद के खिलाफ सत्याग्रह शुरू किया। यह लड़ाई आज भी चल रही है और जबतक हिन्दुस्तान को पूर्ण स्वराज्य नहीं मिल जाता तब तक यह नहीं कहा जा सकता कि उसका मकसद पूरा हो गया। इसका अर्थ यह नहीं है कि ब्रिटिश शासन से छुटकारा पा जाने के बाद हिन्दुस्तान को सत्याग्रह की जरूरत नहीं रहेगी। इससे हमारा तात्पर्य सिर्फ इतना ही है कि सन् १९२० में असहयोग के रूप में जो लड़ाई शुरू हुई थी पूर्ण स्वराज्य मिलने पर यह माना जायगा कि उसका उद्देश पूर्ण हो गया है। हिन्दुस्तान को राज्यसत्ता मिल जाने के बाद भी सत्ता का उपयोग किस भाँति करना, किस कार्य के लिए उसका उपयोग करना और किस तरह की समाज-धारणा को यह राज्यसत्ता अपनावे आदि महत्त्व-पूर्ण प्रश्नों पर हिन्दुस्तान को इस सत्याग्रह का उपयोग करना पड़ेगा। आधुनिक भारत के इतिहास का यह एक अत्यन्त महत्त्व-पूर्ण प्रश्न है कि लोकमान्य के स्वर्गवास के बाद तुरन्त ही भारतीय राजनीति और कॉंग्रेस के सूत्र महात्मा गांधी के हाथ में कैसे आये, भारतीय जनता का विश्वास और सहयोग तत्कालीन दूसरे नेताओं की अपेक्षा महात्मा गाँधी को ही इतना अधिक कैसे मिला? इस प्रश्न का समाधानकारक उत्तर जबतक नहीं मिलता तबतक आधुनिक भारत का स्वरूप समझ सकना किसी के लिए भी संभव नहीं है और इसीलिए इन प्रश्नों का थोड़ा विचार कर लेना जरूरी हो जाता है कि सन् १९२० के पहले म० गांधी भारत में क्या करते थे, हिन्दुस्तान की जनता और नेता एवं ब्रिटिश शासक उन्हें किस दृष्टि से देखते थे।

जनवरी सन् १९१५ में महात्मा गांधी भारत आये। उस समय भारतीय राजनीति में मा० गोखले और लो० तिलक के अपने अपने दल थे। इन दो पक्षों के सिवा एक सशस्त्र क्रान्तिवादी दल भी था। गोखले

की विधि-विहित राजनीति, लोकमान्य का विरोधक बहिष्कार-योग और सशस्त्र क्रान्तिवादियों का गुप्तमार्ग ये सभी एक तरह से उस समय असफल हो चुके थे। ऐसे समय महात्मा गांधी अपने सत्याग्रह-शस्त्र के द्वारा दक्षिण अफ्रीका में सफलता प्राप्त करके एक यशस्वी नेता के रूप में आये थे। इस अध्याय के शुरू में दिये गये लो० तिलक के उद्धरण के अनुसार उस समय महात्मा गांधी का सत्याग्रह एक तरह से शासकों की दृष्टि में भी शास्त्रपूत हो गया था और अब महात्मा गांधी भारत आने पर कौन सा मार्ग ग्रहण करेंगे, यह गरम, नरम और सरकार सभी पक्ष के लिए समान रूप से कुतूहल का विषय था। उस समय सन् १४ का महायुद्ध शुरू हुआ ही था और भारत आने के पहले ही इंग्लैण्ड में महात्मा गाँधी ने अपना मत प्रकट किया था कि इस युद्ध में वे सरकार को मदद देंगे, इसलिए सरकार उनकी ओर युद्ध में सहायता पाने की दृष्टि से देख रही थी। उनके भारत आते ही—लॉर्ड विलिंग्डन—बम्बई के उस समय के गवर्नर ने बम्बई में उनसे पहली बार मुलाकात की। उस समय उन्होंने कहा कि मैं मा० गोखले का शिष्य हूँ। इससे सरकार का विश्वास उन पर और भी दृढ़ हो गया। मा० गोखले ने सर फीरोजशाह मेहता और महात्मा गांधी की मुलाकात करवायी। उस समय सर फीरोजशाह ने मजाक में लेकिन बहुत संजीदगी के साथ सलाह दी या इशारा किया कि हिन्दुस्तान दक्षिण अफ्रीका नहीं है। यह समझकर आगे का अपना कार्यक्रम बनाना।

महात्मा गांधी ने १९०९ में एक सन्देश कॉंग्रेस को भेजा था। उसमें उन्होंने लिखा था कि हिन्दुस्तान की सारी मुसीबतों से छुटकारा पाने का रामबाण उपाय सत्याग्रह ही है और यह साधन आधुनिक भौतिक सभ्यता के उद्धार के लिए भी जो कि खुद विनाश की ओर दौड़ती हुई चली जा रही है उपयोगी सिद्ध होगा। उस समय के कॉंग्रेस के प्रागतिक नेताओं को जो कि यह समझ रहे थे कि निःशस्त्र प्रतिकार के हामी गरम दल को, कॉंग्रेस से अलग कर देने से अब हमेशा के लिए सब झगड़ा मिट गया, यह सन्देश कैसा लगा होगा, यह कह सकना मुश्किल है। उन्होंने सिर्फ यही बताने के लिए नाम मात्र को उनका सन्देश कॉंग्रेस में पढ़ा होगा

कि दक्षिण अफ्रिका में सरकार से आत्म-बल के द्वारा लड़ने के कारण जिस कर्मवीर की सर्वत्र कीर्ति फैल रही है उसका भी समर्थन हमारी वैध-मार्गी व नरम-दलिया कॉंग्रेस को प्राप्त है। फिर भी मा० गोखले को यह आशंका हो सकती थी कि म० गांधी हिन्दुस्तान आने पर भारतीय राजनीति में किसी न किसी तरह की सत्याग्रही मनोवृत्ति पैदा करेंगे। आधुनिक योरपीय संस्कृति के प्रति उनका तुच्छ-भाव और प्राचीन भारतीय संस्कृति के प्रति विलक्षण आदर और आत्म-श्रद्धा को देखकर मा० गोखले को यह डर भी था कि इस आत्मश्रद्धा के बल पर, हिन्दुस्तान की वस्तुस्थिति पर ध्यान दिये बिना ही कहीं वे जल्दबाजी में कोई हलचल न कर बैठें और इसीलिए उन्होंने उन्हें सुझाया कि कम से कम एक वर्ष तक हिन्दुस्तान की परिस्थिति का निरीक्षण किये बिना आप अपनी कार्य-नीति निश्चित न करें। गांधी जी ने उन्हें तुरन्त ही ऐसा आश्वासन दे दिया। साल भर तक गांधी जी ने सारे हिन्दुस्तान का दौरा किया और राजनैतिक नेताओं से चर्चा और विचार-विनिमय किया। इन्ही दिनों कुछ दिन मा० गांधी और लो० तिलक एक साथ सिंहगढ़ पर रहे थे; और उन्होंने अपने अपने तत्वज्ञान और राजनीति की चर्चा करके एक दूसरे का अन्तःकरण समझ लिया था। उस समय से महात्माजी और लोकमान्य का परस्पर आकर्षण और प्रेम बढ़ता ही गया।

लोकमान्य ने म० गांधी के सत्याग्रह के बारे में अपनी राय इस अध्याय के शुरू में दिये गये द्वितीय उद्धरण में प्रकट की है। चिरोल केस में प्रश्न पूछे जाने पर उन्होंने जो उत्तर दिये थे उन्हें पढ़ने से यह पता चलता है कि लो० तिलक पहले जिस निःशस्त्र प्रतिकार का उपदेश देते थे उसका समर्थन भी अनन्तोगत्वा धार्मिक भावना के आधार से ही करना पड़ता है। वे प्रश्नोत्तर ये थे—

प्रश्न—सभाओं व आवेदन-निवेदनों को आपने बच्चों का खेल बताया है न?

उत्तर—"हाँ, जब उनका कोई उपयोग नहीं तब वे बच्चों के खेल ही हैं।"

प्र०—"इसके सिवा और क्या करना चाहिए था?"

उ०—"निःशस्त्र प्रतिकार।"

प्र०—"यानी क्या?"

उ०—"खुद कष्ट सहन करके प्रतिकार करना।"

प्र०—"खुद कष्ट सहन करने से प्रतिकार कैसे होता है।"

उ०—"धर्म-ग्रंथों में लिखा है कि धार्मिक भावना से यदि कष्ट सहन किया जाय तो दूसरों पर उसका असर पड़ता है।"

लो० तिलक ने ये उत्तर अदालत में दिये थे फिर भी उनमें निःशस्त्र प्रतिकार का तत्वज्ञान समाया हुआ है। महात्मा गांधी के जीवन चरित की प्रस्तावना में वे लिखते हैं कि प्राचीन उपनिषदों के आत्म-बल के आधार पर इस विश्वविज्ञान की इमारत खड़ी की गयी है और महात्मा गांधी ने उसे अपने आचरण से शास्त्रपूत भी साबित कर दिया है। उसी जगह उस मार्ग के संबंध में वे कहते हैं:—"यह मार्ग हर एक प्रसंग पर, हर समय, अपनाने योग्य होने पर भी यह निश्चयपूर्वक नहीं कहा जा सकता कि हर अवसर पर उसका उपयोग किया जाय या नहीं अथवा वह हर बार उतना ही फलदायी होगा या नहीं। फिर भी यह तो सभी को मानना होगा कि इसमें बहुत सामर्थ्य है।" *लो० तिलक के ये उद्‌गार मार्च १९१८ के हैं। इस पर से यह व्यक्त होता है कि वे सत्याग्रह-मार्ग को कितना श्रेष्ठ समझते हैं। इस तरह म० गांधी और उनके सत्याग्रह को बड़े-बड़े नेता आदर की दृष्टि से देखते थे और गांधी जी ने १९१५ से १९२० तक जो भाषण दिये और जो हलचलें की, उनके कारण सामान्य जनता के चित्त को अपनी ओर आकर्षित कर लिया था। इसी बीच में उन्होंने क्या-क्या हलचलें कीं इसका हम संक्षेप में सिंहावलोकन करेंगे।

म० गांधी के जिस एक भाषण ने भारतीय जनता का ध्यान अद्‌भुत रीति से अपनी ओर आकर्षित कर लिया, वह था फरवरी १९१६ में काशी हिन्दू विश्वविद्यालय के उद्घाटन समारंभ के समय का उनका भाषण। इस समारंभ में पं० मालवीय जी ने हिन्दुस्तान के सभी नेताओं और राजा-महाराजाओं को निमंत्रण दिया था और इस समारंभ की शोभा के योग्य ही वहाँ उपस्थित बड़े बड़े लोगों के भाषणों का एक ज्ञान-सत्र

* लोकमान्यतिलक यांचे चरित्र, खंड ३ रा, भाग ४ पृष्ठ ५२

शुरू किया। लार्ड हार्डिंग आदि बड़े बड़े अधिकारी वहाँ आये थे और हिन्दुस्तान के सैकड़ों उत्साही विद्यार्थी इस ज्ञानसत्र में श्रवण-भक्ति के रूप में अपने अपने कर्तव्य का पाठ पढ़ रहे थे। ४ फरवरी को इस समारंभ में सैकड़ों विद्यार्थियों, अनेक राजा-महाराजाओं और डॉ० बेसेंट आदि राष्ट्रीय नेताओं के समक्ष म० गांधी का यह सुप्रसिद्ध भाषण हुआ। डॉ० बेसेंट ने यह समझ कर कि इस व्याख्यान का कुछ हिस्सा अत्यन्त ओजस्वी है और ऐसे स्पष्ट विचार कहना राजनैतिक दृष्टि से आपत्ति-जनक भी है भाषण के बीच में बाधा डाली, लेकिन फिर भी भाषण वैसा ही जारी रहा। डॉ० बेसेंट सभामण्डप से उठकर चली गयीं। उन्हीं के साथ उपस्थित राजा-महाराजा भी उठ खड़े हुए और उस दिन का यह ज्ञान-त्रस अधूरा ही रहा। उस भाषण का महत्त्वपूर्ण भाग यह है :—

"कॉंग्रेस ने स्वराज्य का प्रस्ताव पास किया है। मुझे इसमें कोई शक नहीं है कि कॉंग्रेस कमेटी और मुस्लिम लीग जनता के सामने शीघ्र ही कोई कार्यक्रम रखेंगी। किन्तु अपने बारे में तो मैं साफ शब्दों में कह सकता हूँ कि मेरा ध्यान इन नेताओं के कार्यों की ओर उतना नहीं जितना इस ओर है कि विद्यार्थी और भारत की सामान्य जनता क्या करेगी।......कल जो महाराज अध्यक्ष थे, उन्होंने भारत की गरीबी के बारे में कहा था। अन्य वक्ताओं ने भी इसी बात पर काफी जोर दिया था, लेकिन जिस भव्य मंडप में वॉइसराय ने उद्घाटन किया था उस में आप को कौनसा दृश्य दिखाई दिया? उसमें कितनी शान, कितनी तड़क-भड़क थी। पैरिस के किसी जौहरी की आँखों को लुभाने-वाला जड़ जवाहरात का वह प्रदर्शन था। कीमती रत्नाभूषणों से सजे इन सरदारों और देश के करोड़ों गरीबों की स्थिति की मैंने तुलना की। मुझे यह अनुभव होने लगा है कि इन सरदारों से कहना पड़ेगा कि जब तक आप इन जवाहरात को त्याग करके अपनी धन-दौलत को राष्ट्र की थाती समझ कर न रखेंगे तब तक हिन्दुस्तान को मुक्ति नहीं मिलेगी। हमारे देश में ७० फीसदी किसान हैं और जैसा कि मि० हिगिन्बोथम ने कल कहा था कि खेत में अन्न की एक बाल की जगह दो बोरी बालें पैदा करने की शक्ति इन्हीं किसानों में है लेकिन उनके

परिश्रम का सारा फल यदि हम उनसे छीन लें या दूसरे को छीन लेने दें तो फिर यह नहीं कहा जा सकेगा कि हम में काफी स्वराज्य-भावना जागृत है। हमारी मुक्ति इन किसानों के ही द्वारा होगी, डॉक्टरों व वकीलों या अमीर-उमरावों के द्वारा नहीं।

"इन दो-तीन दिनों में जिस कारण से मेरे हृदय में उथल-पुथल मच गयी है उसका अन्त में उल्लेख करना मेरा कर्तव्य हो जाता है। अन्त में उल्लेख किया, इससे यह न समझिएगा कि इसका महत्त्व कम है। जब वाइसराय बनारस की सड़कों पर से गुजर रहे थे तब हम सब के दिलों में चिन्ता की लहरें दौड़ती रहती थीं। जगह-जगह खुफिया पुलिस तैनात थी। यह देखकर मुझे चोट पहुँची। मन में कहा यह अविश्वास क्यों? इस तरह जीवित मृत्यु के सन्निकट जिन्दा रहने की अपेक्षा लार्ड हार्डिंग यदि मर गये तो क्या अधिक सुखी न रहेंगे? लेकिन शक्तिशाली सम्राट् के प्रतिनिधि को शायद यह महसूस न हो। उन्हें जीवित मृत्यु के सन्निकट जीना भी शायद आवश्यक मालूम हो, लेकिन यह खुफिया पुलिस हम पर लादने की जरूरत क्यों पड़ी? इनके कारण हमें गुस्सा आयगा, मनमें झुँझलाहट होगी, इनके प्रति तिरस्कार भी मनमें उत्पन्न होगा लेकिन हमें यह न भूल जाना चाहिए कि आज हिन्दुस्तान अधीर व आतुर हो गया है। अतः भारत में अराजकों की एक सेना तैयार हो गयी है। मैं भी एक अराजक हूँ, लेकिन दूसरी तरह का। अगर मैं इन अराजकों से मिल सका तो उनसे जरूर कहूँगा कि तुम्हारे अराजकवाद के लिए भारत में गुंजायश नहीं है। हिन्दुस्तान को अपने विजेता पर अगर विजय पानी है तो उनका तरीका भय का एक चिन्ह है। हमारा यदि परमेश्वर पर पूर्ण विश्वास और भरोसा है तो हम किसी से नहीं डरेंगे। राजा महाराजाओं से नहीं, वाइसराय से नहीं, खुफिया पुलिस से नहीं और खुद पंचम जार्ज से भी नहीं। अराजकवादियों के देश-प्रेम के कारण मैं उनका सम्मान करता हूँ, अपने देश के लिए प्राण देने को तैयार होने के शौर्य के कारण उनका सम्मान करता हूँ, लेकिन मैं उनसे पूछता हूँ कि हत्या करने में कौन-सी बहादुरी है? हत्यारे की खंजर क्या सम्मान-योग्य मृत्यु का सुयोग्य चिन्ह है? मैं इससे इनकार करता हूँ। ऐसे मार्ग के लिए किसी भी धर्म का आधार नहीं है।

हिन्दुस्तान की मुक्ति के लिए यदि मुझे यह जरूरी लगा कि अंग्रेजों का यहाँ से चला जाना चाहिए तो मैं वैसा साफ साफ कहूँगा और मुझे आशा है कि अपने इस विश्वास के लिए मैं अपने प्राण भी देने को तैयार हो जाऊँगा। मेरी राय से ऐसी मृत्यु सम्मानयोग्य मृत्यु है। बम फेंकनेवाले गुप्त षड्यन्त्र रचते हैं, प्रकट होने में डरते हैं, और पकड़े जाने पर अपने गलत रास्ते जानेवाले उत्साह की सजा भुगतते हैं। कुछ लोग मुझसे कहते हैं कि हमने ऐसा न किया होता, कुछ लोगों पर बम न फेंके होते तो बंगभंग की हलचल के कारण हमें जो मिला वह न मिला होता। (डॉ० बेसेंट—कृपा करके यह विषय समाप्त कीजिए।) बंगाल में मि० लिऑन की अध्यक्षता में जो सभा हुई थी उसमें भी मैंने यही कहा था। मैं जो कह रहा हूँ वह मुझे जरूरी मालूम होता है। फिर भी मुझे रुकने को कहा जायगा तो मैं रुक जाऊँगा। (अध्यक्ष की ओर घूमकर) मैं आपकी आज्ञा की राह देख रहा हूँ। यदि आपको यह प्रतीत होता हो कि अपने भाषण के द्वारा मैं राष्ट्र और साम्राज्य की सेवा नहीं कर रहा हूँ तो मैं जरूर चुप हो जाऊँगा। ('कहे-जाइये', 'कहे जाइये', ऐसी आवाजें) (अध्यक्ष—अपना मतलब साफ करके कहिए। मैं अपना आशय ही स्पष्ट कर रहा हूँ। मैं सिर्फ (फिर रुकावट) मित्रो, कृपया इस रुकावट के प्रति निन्दा न व्यक्त कीजिए। डा० बेसेंट को ऐसा लग रहा है कि मुझे रुक जाना चाहिए। वे भारत से बहुत प्रेम रखती हैं और मैं जो विचार प्रकट कर रहा हूँ वे तुम जैसे युवकों के सामने स्पष्टतया कह कर मैं गलती कर रहा हूँ यही उनका ख्याल है और इसीलिए वे रोकना चाहती हैं। लेकिन ऐसा हो तब भी मैं सिर्फ यही कहना चाहता हूँ कि भारत में दोनों पक्षों में जो परस्पर सन्देह का वातावरण है उसे हिन्दुस्तान से निकाल डालने की मेरी इच्छा है। परस्पर प्रेम के आधार पर स्थित साम्राज्य हमें चाहिए...... राज्याधिकारियों से हमें जो भी कहना हो साफ साफ और निडर हो कर कहें और यदि हमारा कहना उन्हें बुरा लगे तो उसका फल भोगने को भी हम तैयार रहें। लेकिन हम अपशब्दों का व्यवहार न करें...हाँ, कई अधिकारी बड़ी मगरूरी से पेश आते हैं, मनमानी करते हैं। वे जुल्म

करते हैं और कई बार अविवेकी भी बन जाते हैं। ऐसे कई विशेषणों का उपयोग उनके लिए किया जा सकता है। और मैं यह भी मानता हूँ कि कई साल भारत में रहने पर उनका कुछ अधःपतन भी होता है। लेकिन इससे क्या पता चलता है? वे भारत आने के पहले सभ्य थे, उनका यह गुण यहाँ आने पर नष्ट हो गया तो जिम्मेदारी हमारी है। कल तक जो मनुष्य अच्छा था वही यदि मेरे सहवास से आज बिगड़ जाय तो उसके लिए वह जिम्मेदार है या मैं? भारत में आने पर उन्हें जो खुशामद का, और कृत्रिम वातावरण मिलता है उससे उनका नैतिक अधःपात् होता है। ऐसी स्थिति में तो हममें से भी कइयोंका पतन हो जायगा। अपने को दोषी मानने का भी कई बार सदुपयोग होता है। हमें यदि कभी स्वराज्य मिलेगा तो तभी कि जब हम उसे लेंगे। हमें दान के रूप में स्वराज्य कभी भी नहीं मिलेगा। ब्रिटिश साम्राज्य और ब्रिटिश राष्ट्र का इतिहास देखिए। वे खुद भले ही स्वतंत्रता का उपयोग कर रहे हों लेकिन जो खुद स्वतंत्रता प्राप्त नहीं करते उन्हें वे कभी स्वतंत्रता न देंगे। बोअर-युद्ध से आप चाहें तो पाठ सीख सकते हैं। कुछ दिनों पूर्व जो इस राष्ट्र के दुश्मन थे वे ही आज उनके मित्र हैं। (इस समय डॉ० बेसेंट और मंच पर बैठे हुए राजा महाराजा उठकर चले गये और सभा समाप्त हो गयी।) *

इस किस्से से अखबारों में वाद-विवाद शुरू हो गया, जिसके कारण पाठकों का ध्यान म० गांधी की तरफ आकर्षित हुआ। उस समय सामान्य शिक्षित लोगों में यह चर्चा शुरू हुई कि हिन्दुस्तान में यह कोई नया राजनैतिक तत्वज्ञान आरहा है। डॉ० बेसेंट ने कहा कि एक संतके नाते म० गांधी भले ही बहुत बड़े हों लेकिन राजनीति की दृष्टि से वे एक दुधमुँहे बच्चे हैं। गरम दल के लोग कहने लगे कि इनका निःशस्त्र प्रतिकार पहले वाला बहिष्कार योग ही है। नरम दल के कहने लगे कि इनकी अहिंसा व राज्यनिष्ठा संशयातीत है इसलिए ये हमीं में से हैं। सुधारक कहने लगे कि गांधीजी भी यही कहते हैं कि हमारी गुलामी के

* Speeches and Writings of M. K. Gandhi by Natesan and Co. Page 252.

कारण हमीं हैं और जबतक हमारा सुधार न होगा हमें स्वराज्य न मिलेगा, इसलिए गांधीजी सुधारक हैं। धर्म-सुधारक कहने लगे कि महात्मा गांधी भागवत-धर्मी सन्त हैं और हमारे धर्म-सुधार का तत्व उन्हें मान्य है। सनातनी कहने लगे कि वे चातुर्वर्ण्य पालने वाले सनातनी हिन्दू हैं और कभी हुई तो इन्हीं के द्वारा भारत में धर्मराज्य की या रामराज्य की स्थापना हो सकेगी। नास्तिक कहने लगे महात्मा गांधी मानते हैं कि सत्य के सिवा कोई धर्म नहीं है और सत्य ही परब्रह्म है। इसलिए एक तरह से वे नास्तिक ही हैं क्योंकि सत्य के सिवा और किसी ईश्वर को वे नहीं मानते। राजनैतिक सुधार पहले चाहनेवाले लोग गांधीजी के जीवन की ओर संकेत करके कहने लगे कि इन्होंने 'राजनैतिक सुधार पहले' यहीं पाठ पढ़ाया है। क्रान्तिकारी कहने लगे कि वे हैं तो एक क्रान्तिकारी ही, लेकिन उस्तादी से, पालिसी से शान्ति और अहिंसा का उपदेश कर रहे हैं। इसके विपरीत कुछ उग्र कहे जानेवाले व नेता समझे जानेवाले लोग यों भी कहते कि गांधी सरकार का ही एक खुफिया है। सरकार महायुद्ध के इस आपत्काल में साम्राज्य की रक्षा के लिए उग्र राजनीति व क्रान्तिकारी दल को नष्ट करने में इनको इस्तेमाल कर रही है। यह हमारी मंडली का नहीं हो सकता। इस तरह जितने मुँह उतनी बात लोग १९१६–१७ में गांधी के बारे में करते थे। इसमें कोई शक नहीं कि गांधी इस समय पढ़े-लिखे लोगों में चर्चा का एक विषय थे और पूर्वोक्त घटना से इस चर्चा को विशेष गति जरूर मिल गयी थी।

१९१६ के अन्त में महात्मा गांधी का ध्यान फिजी के गिरमिटियों की हालत की तरफ गया। गिरमिट प्रथा को अंग्रेजों के लिए हिन्दुस्तानियों को बाकायदा गुलाम बनाकर भेजने की प्रथा ही कहना चाहिए। १९१५ में लार्ड हार्डिंज ने यह सिद्धान्त स्वीकार कर लिया था कि यह प्रथा उठा दी जाय। परन्तु यह अफवाह सब जगह फैल गयी कि और ५ साल तक इस प्रथा को जारी रखने का आश्वासन लार्ड हार्डिंज ने फिजी के गोरों को दे दिया है। इसका रहस्य प्रकट होते ही महात्माजी ने इस प्रश्न को अपने हाथ में लिया और यह घोषणा कर दी कि यदि ३१मई, १९१७ के पहले यह प्रथा बन्द न हुई तो मैं सत्याग्रह शुरू करूँगा। तब तत्कालीन

वाइसराय लार्ड चेल्मसफर्ड ने ऐलान किया कि १२ अप्रैल से यह प्रथा भारत-रक्षा-कानून की रू से युद्ध चलने तक बन्द की गयी है। बाद को महायुद्ध खतम होते ही यह प्रथा बन्द कर दी गयी। इस छोटी-सी विजय से महात्माजी की ओर लोगों का ध्यान और भी खिंच गया।

इसी समय महात्माजी ने चम्पारन के निलहे गोरों के जुल्म से वहाँ के किसानों को छुड़ाने का आन्दोलन किया। लखनऊ-कांग्रेस के समय इस प्रश्न की ओर महात्माजी का ध्यान दिलाया गया। उसके बाद अप्रैल, १९१७, में महात्माजी मोतिहारी (चंपारन) में जाँच के लिए जा पहुँचे। वहाँ के मजिस्ट्रेट ने १४४ दफा के अनुसार उन्हें चम्पारन जिला छोड़कर चले जाने का हुक्म दिया। महात्माजी ने उसे नहीं माना व अपना 'कैसर-ए-हिन्द' नामक सोने का तमगा सरकार को लौटा दिया। अदालत में उन्होंने अपना अपराध मंजूर किया और कहा कि मैं इसकी सजा भोगने को खुशी से तैयार हूँ। परन्तु अन्त में सरकार के आदेश से उनपर से मुकदमा हटा लिया गया व महात्माजी तथा उनके अनुयायियों को उस जिले में किसानों की स्थिति की जाँच व उनकी सेवा करने की छुट्टी मिली। बाद में सरकार ने भी एक जाँच कमीशन बिठाया जिसमें महात्माजी भी एक सदस्य बनाये गये। अन्त को सरकार ने एक कानून बनाया जिसके द्वारा किसानों की वे सब शिकायतें जो १०० साल से किसी भी तरह मिट नहीं रही थीं, महात्माजी की सत्याग्रह-नीति के कारण दूर हो गयीं। तब से बिहार-निवासी व किसान महात्माजी के बड़े भक्त हो गये।

फिर जनवरी १९१८ में उन्होंने खेड़ा जिले के अकाल के प्रश्न में हाथ डाला। अकाल रहते हुए भी वहाँ छूट न देकर किसानों से लगान वसूल किया जा रहा था यह देखकर उन्होंने करबन्दी का आन्दोलन शुरू किया व उसमें सफलता मिली। इससे हिन्दुस्तान के किसानों को यह विश्वास जमने लगा कि ब्रिटिश सरकार को भी, जो कि हम पर हुकूमत चलाती है, झुका देने की शक्ति गाँधीजी के पास है। चंपारन व खेड़ा में सत्याग्रह के सफल प्रयोगों को देखकर पढ़े-लिखे लोगों की भी यह धारणा होने लगी कि यह हमारे उद्धार का एक ऐसा साधन जरूर

है जो भारत-भूमि में उग व फल-फूल सकता है। महात्माजी का भी आत्मविश्वास इससे बढ़ गया।

इसके बाद ही महायुद्ध के सिलसिले में धन-जन की सहायता के लिए दिल्ली में सरकार ने एक दरबार किया। इसमें डॉ० बेसेंट व लो० तिलक को निमंत्रण न मिलने से म० गांधी ने जाने से इनकार कर दिया था। मगर बाद में वाइसराय के आग्रह से फिर गये थे। उन्होंने अपना मत वहाँ साफ तौर पर जाहिर किया जिस पर लोकमान्य तिलक ने 'केसरी' में सन्तोष प्रकट किया था। इस दरबार से लौट कर महात्माजी ने वाइसराय को एक खत लिखा था "......साम्राज्य की हिस्सेदारी में अभी हमारा चंचुपात भी नहीं हुआ है। भावी आशा के भरोसे हम अपना काम चला रहे हैं। इस आशा को सफल करने का सौदा मैं करना नहीं चाहता। परन्तु यह जता देना उचित होगा कि इस आशा का टूटना मानों हमारा भ्रम दूर होना ही है। हमने यदि साम्राज्य-रक्षा के लिए अपनी सेवाएं दीं तो उसके फलस्वरूप हमें यह दिखाई पड़ना चाहिए कि स्वराज्य मिल गया। आपने कहा कि घरेलू झगड़े निपटा लो। पर इसका अर्थ अगर यह हो कि हम हुकूमत के जोरोजुल्म चुपचाप सहन करते रहें तो यह मानने में मैं असमर्थ हूँ। यही नहीं, बल्कि इस संगठित जुल्म का प्रतिकार मैं अपनी सारी शक्ति लगाकर करता रहूँगा। आप अधिकारियों को यह बता दें कि वे किसी शख्स पर जुल्म न करें और लोकमत का अधिक से अधिक आदर करते हुए शासन-कार्य चलावें। चंपारन में बरसों के जुल्मों का प्रतिकार करके मैंने ब्रिटिश न्याय की श्रेष्ठता प्रकट की है। खेड़ा जिले में जो जनता सरकार को शाप दे रही थी उसे अब यह जँचने लगा है कि यदि हम अपने हक—सत्य—के लिए कष्ट उठाने को तैयार हैं तो वास्तविक सत्ताधारी सरकार नहीं बल्कि खुद हमीं हैं। इससे उनकी कटुता आज दूर हो रही है और वे कहते हैं, यह सरकार लोक-हितकारी ही होगी; क्योंकि जहाँ कहीं अन्याय का प्रतिकार सविनय अवज्ञा के द्वारा किया जाता है वहाँ वह उसे मानती है। इस तरह चंपारन व खेड़ा में मैंने अपने ढंग से साम्राज्य की निश्चित व खास सेवा की है। इस तरह के मेरे काम को बन्द करने के लिए

मुझ से कहना मानों मुझे अपना जीवन ही स्थगित करने के लिए कहना है।"

इससे यह जाना जाता है कि वे महायुद्ध की विकट परिस्थिति में भी जनता को अपने हकों के लिए सत्याग्रह का अवलम्बन करने की शिक्षा दे रहे थे। इससे यह बात भी बहुत कुछ स्पष्ट हो जाती है कि वे उन दिनों स्वराज्य के आन्दोलनों में ज्यादा हिस्सा क्यों नहीं ले रहे थे। वे मानते थे कि स्वराज्य का जन्म जिस तरह का आन्दोलन उस समय हो रहा था उससे नहीं बल्कि सत्याग्रह के बल से होगा। इसलिए वे उसमें या विलायत शिष्ट-मंडल ले जाने के फेर में नहीं पड़े। जब कांग्रेस का शिष्ट-मंडल विलायत गया तो वे उसके साथ न जाकर हिन्दुस्तान में सत्याग्रह का पाठ लोगों को पढ़ाते रहे। १९१९ में महात्माजी ने एक राष्ट्रव्यापी सत्याग्रह का प्रयोग शुरू किया। उस साल जनवरी में रौलेट कानून, जो कि काले कानून के नाम से पुकारा गया, भारत सरकार ने बनाया। इसका विरोध धारा-सभाओं में लोक-प्रतिनिधियों ने बड़े जोरों से और असंदिग्ध भाषा में किया। बल्कि भाषणों में ऐसी धमकी भी दी कि लोकमत को ठुकरा कर यदि ऐसा कानून जनता के सर पर थोपा गया तो उसका फल सरकार को भोगना पड़ेगा। मगर सरकार ने समझा कि यह 'गीदड़ भपकी' है और कानून पास कर लिया। तब २ फरवरी को महात्मा गांधी ने हिन्दुस्तान भर में सत्याग्रह का पहला शंख फूँका।

इसका श्रीगणेश ३० मार्च को हड़ताल और उपवास से होनेवाला था, परन्तु बाद को यह दिन बदल कर छः अप्रैल कर दिया गया। लेकिन कुछ भूल से देहली में यह दिन ३० मार्च को ही मनाया गया। इसी दिन वहाँ जुलूस में पहली बार गोली चली और स्वामी श्रद्धानन्द गुरखों की संगीन के सामने छाती खोलकर खड़े हो गये। स्वामी जी का यह सत्याग्रह सफल हुआ और गुरखों के हृदय में सत्यरूपी परमेश्वर जागा। घट-घट में सत्यरूपी परमेश्वर मौजूद है और अनासक्ति की भावना से आत्माहुति की जाय तो वह उससे प्रकट हो जाता है। सत्याग्रह का यह अधिष्ठान आधुनिक भारत के इतिहास में पहले पहल ही लोगों को जँचा। सरकारी फौज के गुरखे सैनिक भी 'ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति' धर्म

शास्त्र या अध्यात्मशास्त्र में इस सिद्धान्त के अपवाद नहीं हैं, यह देखकर विचारशील लोगों का विश्वास इस सिद्धान्त पर अधिक दृढ़ हुआ। दिल्ली में गोली चलने की खबर सुनकर महात्माजी उस तरफ को चल पड़े। उन्हें कोसी स्टेशन पर रोक लिया गया और पंजाब व दिल्ली प्रान्त में जाने की मनाही कर दी गयी। जब गांधीजी ने उसे नहीं माना तो उन्हें गिरफ्तार करके ११ अप्रैल को बम्बई लाकर छोड़ दिया गया। ६ अप्रैल को सारे हिन्दुस्तान के कस्बे कस्बे में, हड़ताल, उपवास, प्रार्थना, जुलूस, सभा आदि हुई। जगह जगह सत्याग्रह-मंण्डल कायम हुए, गैरकानूनी साहित्य प्रकाशित किया गया और बिना डिक्लेरेशन दिये अखबार निकालने का निश्चय महात्माजी ने किया। 'सत्याग्रही' नामक अखबार निकाला गया और गाँधी जी के वे पुराने लेख जो राजद्रोहात्मक करार दिये गये थे फिर से छाप कर बाँटे गये। इधर लोगों में ऐसा जोश बढ़ रहा था कि उधर एकाएक उनकी गिरफ्तारी की खबर सुनकर लोग आपे से बाहर हो गये और जगह-जगह दंगे, अंग्रेजों के खून, लूटमार, आग, रेल की पटरी और तार उखाड़ना, आदि अनेक प्रकार के उपद्रवों की भीषण लहर फैल गयी। महात्माजी जब बम्बई लाये गये तो वहाँ दंगा चालू था। उन्होंने उसे शान्त किया। अन्त को उपद्रव रोकने के लिए उन्होंने ३ दिन का उपवास किया। फिर १८ अप्रैल को आवश्यक शान्तिमय वातावरण के अभाव में यह आन्दोलन अनिश्चित काल के लिए स्थगित करना पड़ा। इन्हीं दिनों पंजाब में भी जगह-जगह दंगे हुए। फौजी कानून जारी कर दिया गया। १३ अप्रैल को अमृतसर के जलियाँवाला बाग में २० हजार लोगों की भीड़ पर मशीनगन से गोलियाँ चलायी गयीं और लोगों पर अजहद जुल्म और बेइज्जती की गयी। सरकारी गिनती के अनुसार ४०० लोग मरे और १००२ घायल हुए। इनमें हिन्दू मुसलमान, स्त्री पुरुष, बालक वृद्ध सभी थे। जख्मियों को वैसे ही मुर्दों के साथ बिना किसी उपचार के रात भर रहना पड़ा। यह आसुरीकाण्ड जब प्रकट हुआ और हंटर कमेटी की रिपोर्ट प्रकाशित हुई तब महात्मा गांधी ने ब्रिटिश साम्राज्य के साथ असहयोग युद्ध ठान दिया। लो० तिलक इन दिनों विलायत थे। वे हिन्दुस्तान लौटे और बम्बई की सभा में

उन्होंने कहा, 'मुझे अफसोस इतना ही है कि रौलेट बिल के खिलाफ जब गांधीजी ने सत्याग्रह शुरू किया तब उसमें सम्मिलित होने के लिए मैं हिन्दुस्तान में मौजूद नहीं था। शिष्ट-मंडल का परिणाम आशाजनक नहीं है इसलिए स्वराज्य का आन्दोलन जोरों से करते रहना चाहिए।' उनके इस भाषण का हमारे ख्याल में यही अर्थ निकलता है कि उनकी राय में स्वराज्य शिष्टमंडलों के द्वारा नहीं बल्कि सत्याग्रह के ही द्वारा मिल सकता था।

इसके बाद अमृतसर में कांग्रेस का अधिवेशन हुआ। इसमें महात्माजी के आग्रह से एक प्रस्ताव पास हुआ जिसमें लोगों की तरफ से हुए उपद्रवों की निन्दा की गयी थी। इसे पेश करते हुए महात्माजी ने कहा—'हमारी भावी सफलता की कुंजी इसी में है कि हम इस प्रस्ताव के मूलभूत सत्य को हृदय से स्वीकार करें व उसपर अमल करें। यदि हम उस शाश्वत सत्य को न समझेंगे तो हम असफल हुए बिना न रहेंगे। सरकार यदि पागल हो गयी तो लोग भी उसके साथ पागल हो गये। पागलपन का जवाब पागलपन से नहीं बल्कि समझदारी से दीजिए जिससे सारी स्थिति आप के काबू में आ जाय।' महात्माजी के इस प्रस्ताव को मंजूर करना मानो उनके सत्याग्रह के धरातल और सिद्धान्त को मान लेना था। यह स्वीकार कर लेना था कि हमारी राजनीति का अब आगे सत्याग्रह के सिवा दूसरा अधिष्ठान मानना सम्भवनीय नहीं है और इस अधिष्ठान को कायम करना है तो 'जैसे के साथ तैसा' की नीति नहीं बल्कि 'पागलपन का जवाब समझदारी से देने' की नीति और सिद्धान्त के अनुसार चलना होगा।

अमृतसर कांग्रेस के पहले, नवम्बर १९१९ में, देहली में अ० भा० खिलाफत कमेटी की मीटिंग हुई थी। उसमें खिलाफत के मामले में न्याय न हुआ तो महात्माजी की सलाह से असहयोग करने का प्रस्ताव पास हो चुका था। अर्थात् महात्माजी पहले से ही असहयोग-संग्राम की तैयारी कर रहे थे। लेकिन जबतक पंजाब व खिलाफत के विषय में सरकार अपनी नीति की घोषणा साफ तौर पर न कर दे तबतक लड़ाई का बिगुल बजाना उन्हें ठीक न जँचता था। अन्त को जब सरकार की

ओर से पूरी निराशा मिली तब उन्होंने स्पष्ट रूप से असहयोग की घोषणा कर दी।

जब पिछले महायुद्ध में तुर्किस्तान के खिलाफ हिन्दुस्तान के मुसलमानों के लड़ने का सवाल पैदा हुआ तब उन्हें यह आश्वासन दिया गया था कि मुसलमानों के धर्म-क्षेत्रों पर से खलीफा की सत्ता नष्ट नहीं की जायगी; लेकिन ये वायदे तोड़ दिये गये। अतः खिलाफत के मसले में म० गांधी, लो० तिलक व लाला लाजपतराय तीनों एक मत के थे। तीनों को यही लगता था कि जब ब्रिटिश सरकार ने मुसलमानों को दिये सब वचन तोड़ दिये, उनके साथ विश्वासघात किया तो प्रत्येक हिन्दू का कर्तव्य है कि इस समय मुसलमानों का साथ दे। प्रश्न यह था कि मुसलमानों का साथ देकर ब्रिटिश साम्राज्य से लड़ा जाय और इस तरह हिन्दुस्तान की आजादी फिर हासिल की जाय, या इस भय से कि हमें आजादी मिलने पर सम्भवतः मुसलमान सिरजोर हो जायँगे और अपनी हुकूमत कायम कर लेंगे, ब्रिटिश साम्राज्य के गुलाम ही बने रहें? ऐसे समय लो० व म० गांधी ने यही उत्तर दिया कि ब्रिटिश साम्राज्य से लड़ना ही प्रत्येक राजनीतिज्ञ व देशभक्त हिन्दू का पवित्र कर्तव्य है। कांग्रेस डेमोक्रेटिक पक्ष के घोषणा-पत्र में लो० तिलक ने कहा—मुसलमानों की इस मांग का कि हमारी धार्मिक भावना व कुरान की शरायत के मुताबिक खिलाफत का मसला हल होना चाहिए, यह दल समर्थन करता है। लालाजी ने कलकत्ते में कांग्रेस के अध्यक्ष-स्थान से दिये अपने भाषण में बहुत खूबी से यह बताया है कि महज राजनैतिक व राष्ट्रीय दृष्टि से भी इस समय मुसलमानों का साथ देना हमारा कर्तव्य है। पश्चिमी एशिया के सब मुस्लिम राज्यों को अपने साम्राज्य में मिलाने की कैसी चाल अंगरेज व फरांसीसी राजनेता चल रहे हैं, और यदि यह सफल हुई तो ईरान, अरब, मेसोपोटेमिया, बल्कि अफगानिस्तान में से भी मुसलमान-फौज लाकर अँगरेज किस तरह हमारी गुलामी को अमिट बना सकेंगे, यह उन्होंने बहुत अच्छी तरह दिखाया। यदि ये तीनों इस नीति को अंगीकार न करते तो राष्ट्रद्रोही व व्यवहार-शून्य राजनैतिक नेता साबित हुए होते। महात्मा गांधी ने साफ-साफ

कह दिया कि मैं मुसलमानों की तरह अंग्रेजों का भी दोस्त हूँ ; लेकिन अगर यह सवाल आया कि मुझे अंग्रेज व मुसलमान दो में से किसी एक की दोस्ती छोड़ना पड़े तो मैं अंग्रेजों की दोस्ती छोड़ दूँगा और अपने राष्ट्र-बन्धुओं के नाते मुसलमानों का साथ दूँगा तथा उनकी तरफ से अंग्रेजों से लड़ूँगा। इस लड़ाई में धर्म के तौर पर नहीं किन्तु नीति के तौर पर अहिंसा को मानना मुसलमानों ने मंजूर किया था। १० मार्च १९२० को असहयोग की जो पहली घोषणा प्रकाशित हुई उसमें गांधीजी कहते हैं—

"अगर हमारी मांगें मंजूर न की गयीं तो हमें क्या करना चाहिए इसके बारे में दो शब्द लिखता हूँ। गुप्त या प्रकट रूप से सशस्त्र युद्ध करना एक जंगली तरीका है। आज वह अव्यावहारिक है, इसलिए उसे छोड़ देना उचित है। यदि मैं सबको यह समझा सकूँ कि यह तरीका हमेशा के लिए अनिष्ट है तो हमारी सब मांगें बहुत जल्दी पूरी हो जायँ। जो व्यक्ति या राष्ट्र हिंसा को छोड़ देता है उसमें इतना बल आ जाता है कि उसे कोई नहीं रोक सकता; परन्तु आज तो मैं अव्यवहार्यता व निष्फलता के आधार पर हिंसा का विरोध कर रहा हूँ। हमारे सामने एक ही रास्ता है, असहयोग। वह सीधा व साफ मार्ग है। हिंसात्मक न होने से वह कारगर भी उतना ही होगा। सहयोग से जब अधःपात व अपमान होने लगता है या हमारी धार्मिक भावनाओं को चोट पहुँचती है, तब असहयोग कर्तव्य हो जाता है। जिन हकों को मुसलमान अपनी जान से भी ज्यादा प्यारा समझते हैं उनके अपहरण को हम चुपचाप सह लेंगे, ऐसा खयाल इंग्लैंड न बना सकेगा और इसलिए, हम पूरा असहयोग अमल में ला सकेंगे। जिन्हें पद-पदवियाँ, तगमे मिले हों वे उन्हें छोड़ दें। छोटी-छोटी सरकारी नौकरियाँ भी छोड़ दी जायँ। हाँ, खानगी नौकरियों का समावेश असहयोग में नहीं होता। जो असहयोग न करें उनका सामाजिक बहिष्कार करना ठीक नहीं। स्वयंप्रेरित असहयोग ही जनता की भावना व असन्तोष की कसौटी है। सैनिकों को फौजी नौकरी छोड़ने के लिए कहना असामयिक है। वह पहली नहीं आखिरी सीढ़ी है। जब वाइसराय, भारत मंत्री, प्रधान मंत्री कोई भी हमें दाद न देंगे

तभी हमें उस सीढ़ी पर पाँव रखने का अधिकार होगा। असहयोग का एक-एक कदम हमें बहुत सोच-विचार कर उठाना होगा। अत्यन्त प्रखर वातावरण में भी हमें आत्मसंयम रखना होगा इसलिए हमें आहिस्ते कदम ही चलना होगा।"

इस घोषणापत्र में असहयोग-संग्राम का सारा कार्यक्रम बीज-रूप में आ जाता है। कोई भी सरकार मुल्की व फौजी व्यवस्था में प्रजा के सहयोग बिना एक कदम नहीं चल सकती और प्रजा द्वारा घोषित असहयोग में यदि मुल्की व फौजी अफसर व नौकर शामिल हो गये तो फिर जनता जिस राज्य को नहीं चाहती वह नहीं टिक सकता और उसकी जगह नवीन राज्य की स्थापना हो जाती है। निःशस्त्र राज्यक्रान्ति की यह तात्विक उपपत्ति है। वह इस उद्धरण में दी गयी है। जबतक देश की जनता में यह आत्म-विश्वास नहीं पैदा होता कि हम अपने संगठन के बल पर अपना राज्य चला लेंगे और देश में अंधाधुन्धी न होने देते हुए शान्ति स्थापित कर सकेंगे तबतक प्रस्थापित राजसत्ता को पुलिस व फौजी महकमे के लोगों को असहयोग के लिए न पुकारना चाहिए; क्योंकि उसके अभाव में यादवी-गृहकलह व अराजकता फैलने की व जनतंत्र की शान्ति के बजाय सैनिकवाद व तानाशाही की मनमानी चल निकलती है, जिससे विदेशी सत्ता को लाभ मिलेगा व शान्तिमय क्रान्ति सफल न होगी। इसीलिए गांधीजी ने इस घोषणा-पत्र में कहा है कि सैनिक असहयोग बिलकुल आखिरी सीढ़ी है।

इसके बाद, खिलाफत, पंजाब, व स्वराज्य के बारे में सरकार की तरफ से पूर्ण निराश हो जाने पर महात्माजी ने १ अगस्त १९२० को असहयोग-युद्ध की दुंदुभी बजा दी और कलकत्ता कांग्रेस के विशेष अधिवेशन में उस पर अपनी मुहर-छाप लगा दी। असहयोग का कार्य-क्रम इस प्रकार बनाया गया—

(१) उपाधियाँ व तमगे-बिल्ले लौटा देना,

(२) सरकारी दरबार, उत्सव आदि समारंभों से असहयोग,

(३) सरकारी व अर्द्धसरकारी पाठशालाओं का बहिष्कार व उनकी जगह राष्ट्रीय शालाओं की स्थापना,

(४) अदालतों का बहिष्कार व पंचायतों की स्थापना,

(५) मेसोपोटेमिया के लिए सैन्य भरती व मुल्की नौकरियों का बहिष्कार,

(६) धारा सभाओं का व मतदान का बहिष्कार,

(७) विदेशी माल का बहिष्कार।

इसमें देशबन्धुदास आदि कुछ नेताओं ने धारासभा के बहिष्कार का तत्वतः विरोध किया था, लेकिन अन्त में म० गांधी का प्रस्ताव बहुत बड़े बहुमत से पास हुआ। तभी से कांग्रेस ने महात्माजी के सत्याग्रह की दीक्षा ली व आजतक वह उनके नेतृत्व में स्वराज्य की लड़ाई लड़ रही है।

१९२० के अन्त में नवीन धारासभाओं का पहला चुनाव हुआ जिसके बहिष्कार में सब नेताओं ने पूरा सहयोग दिया। यह असहयोग-संग्राम की पहली चढ़ाई थी। देशबन्धु व नेहरूजी ने वकालत छोड़ दी व अदालतों का बहिष्कार किया। नागपुर-कांग्रेस ने भी इस कार्यक्रम को मंजूर किया। तब से १९२२ में महात्माजी को राजद्रोह में छः साल की सजा देने के समय तक, महाराष्ट्र के केलकर-पक्ष को छोड़कर, किसी भी राष्ट्रीय नेता ने इस कार्य में बेसुरा राग नहीं अलापा और न कोई विघ्न पैदा किया।

१९२० में कांग्रेस ने अपने पुराने ध्येय—औपनिवेशिक स्वराज्य वैध मार्गों से—को बदलकर 'उचित व शान्तिमय साधन से स्वराज्य-प्राप्ति' कर दिया। बहिष्कार-योग की पहलेवाली टूटी हुई शृंखला फिर असहयोग-योग के रूप में जुड़ गयी। इसी तरह लोकमान्य प्रभृति राष्ट्रीय नेताओं का यह आग्रह कि स्वतन्त्रतावादी दल को कांग्रेस में सम्मानपूर्वक आने की सुविधा रहे, महात्माजी ने पूरा किया व कांग्रेस में स्वातंत्र्यवादी शान्तिमय वीरों की शक्ति का संचय किया। सूरत में लोकमान्य ने जिस उद्देश्य की सिद्धि के लिए नरमदलवालों से झगड़ा किया था वह १९२० में महात्माजी ने पूरा कर दिया।

नवंबर १९२० में सरकार ने इस आन्दोलन के विषय में अपनी नीति घोषित की। कहा कि आन्दोलन के मूल प्रणेताओं ने जो सीमाएँ उसकी बाँध दी हैं उन्हें लांघ कर जो हिंसा को उत्तेजना देंगे या पुलिस

अथवा फौज की राजभक्ति कम करने की कोशिश करेंगे उन्हीं पर कानूनी कारखाई की जाय ऐसी हिदायतें प्रान्तिक सरकारों को दी गयी हैं। उस समय सरकार ने शायद यह सोचा होगा कि लोगों की सहानुभूति के अभाव में असहयोग की यह हलचल अपनी मौत आपही मर जायगी। लेकिन इसका बल जैसे जैसे बढ़ने लगा वैसे वैसे यह दीख पड़ने लगा कि सरकार अपनी इस नीति पर कायम न रह सकेगी व दमन पर उतारू हो जायगी। इस समय लार्ड चेम्सफर्ड चले गये थे व लार्ड रीडिंग का दौर शुरू ही हुआ था।

३१ मार्च व १ अप्रैलको बेजवाड़ा में कांग्रेस की कार्य समिति व महासमिति की बैठकें हुईं जिनमें यह तय हुआ कि तिलक स्वराज्य फण्ड के लिए १ करोड़ रुपया जमा किया जाय, २० लाख चरखे चलाये जायँ, शराबखोरी मिटायी जाय व पंचायतें स्थापित की जायँ। इन्हीं दिनों सरकार ने जाब्ता फौजदारी की १४४ व १०८ धाराओं के अनुसार भाषणबन्दी, सभाबन्दी, जलूस-बन्दी, जमानतें तलब करना आदि नागरिक स्वतंत्रताओं पर कुठाराघात करनेवाली दमननीति शुरू कर दी थी। लेकिन कार्य समिति ने इन हुकमों को तबतक न तोड़ने की मनाही कर दी थी जबतक कानून भंग की नौबत न आ जाय।

मई १९२१ में मालवीयजी की मध्यस्थता से लार्ड रीडिंग व म० गांधी की मुलाकात हुई। उसमें, ऐसा मालूम होता है कि लार्ड रीडिंग ने महात्माजी को यह आश्वासन दिया था कि जबतक आन्दोलन अहिंसा की मर्यादा के अन्दर रहेगा तबतक नागरिकता के मूलभूत अधिकारों पर प्रहार करके दमननीति अंगीकार नहीं की जायगी। इधर महात्माजी ने भी उन्हें यह जताया होगा कि कि मैं अहिंसात्मक नीति के बारे में बहुत सावधान हूँ और यह साबित करने के लिए उन्होंने कहा होगा कि अली भाइयों के भाषणों में ऐसे उद्‌गार होंगे जिनसे हिंसा को प्रोत्साहन मिलता होगा तो उसके लिए उनसे खेद प्रदर्शित करावेंगे, क्योंकि उस मुलाकात के बाद ही अली-बन्धुओं की तरफ से एक विज्ञप्ति प्रकाशित हुई थी जिसमें अपने भाषणों के कुछ अंशों पर खेद प्रदर्शित किया गया था व अहिंसा-नीति पर उन्होंने फिर अपना विश्वास प्रकट किया था। कहना

नहीं होगा कि यह सब महात्माजी की सलाह से ही हुआ होगा। इसके बाद सितंबर तक सरकार ने दमननीति का खास तौर पर अवलम्बन नहीं किया; मगर बाद में अली-भाइयों पर राजद्रोह का मुकदमा चलाया गया। यह दमन नीति का श्रीगणेश था। इस समय तक तिलक स्वराज्य फण्ड पूरा हो चुका था। २० लाख चरखे चलाने का संकल्प पूरा होकर खादी का काम जोरों से शुरू हो गया था। जुलाई सन् १९२१ के अन्त में महासमिति की जो बैठक बंबई में हुई उसमें यह प्रस्ताव हुआ कि जिस सरकार ने बहु-संख्यक भारतीय प्रजा का पृष्ठ-पोषण व विश्वास खो दिया है उसकी मुल्की व फौजी नौकरी छोड़ देने का अर्थात् असहयोग की सलाह देने का प्रत्येक नागरिक का मूलभूत अधिकार है। 'अंगारो' की तुर्की सरकार से ब्रिटिश सरकार के लड़ाई छेड़ देने की आशंका थी, इसलिए एक यह भी प्रस्ताव किया गया कि इसमें हिन्दुस्तानी सैनिक ब्रिटिश सरकार से सहयोग न करें। इसके बाद फौरन ही चारों ओर दमन नीति का दौर दौरा हो गया जिसके पहले शिकार अली-भाई हुए।

कराची की खिलाफत परिषद् में ८ जुलाई को मौ० महम्मद अली ने पूर्वोक्त प्रस्ताव की नीति के अनुसार भाषण दिया व उसमें बताया कि हिन्दुस्तान में कानून-भंग का आन्दोलन शुरू करके अहमदाबाद कांग्रेस के समय हम स्वतंत्रता का झण्डा खड़ा करेंगे। शौकतअली ने भी इसी आशय का भाषण दिया था। इन्हीं के लिए मुकदमा चलाया गया था। इस तरह सितंबर से सरकार व कांग्रेस की खुल्लमखुल्ला लड़ाई शुरू हो गई। १७ नवंबर को इंग्लैण्ड के युवराज बंबई उतरे। तब से जहाँ जहाँ गये वहाँ हड़ताल, विरोध-प्रदर्शक सभा व जलूस तथा विलायती कपड़ों की होलियाँ—यह प्रदर्शन होने लगे। जिस दिन वे बंबई उतरे उस दिन सारे हिन्दुस्तान में हड़ताल रक्खी गयी थी। किन्तु बंबई में उस समय दंगे व खून-खराबी हो गयी। तब महात्माजी ने ५ दिन का उपवास करके १-२ दिन में ही शान्ति स्थापित की थी।

युवराज-स्वागत के इस बहिष्कार में कांग्रेस व खिलाफत कमेटी मिलकर काम कर रही थी। इन्होंने जगह बजगह स्वयंसेवक दल बनाये थे। २५ दिसंबर को युवराज कलकत्ता पहुँचने वाले थे। वाइसराय भी

वहीं रहते थे। इससे उस दिन की हड़ताल को बड़ा महत्त्व मिला था। लार्ड रीडिंग की यह प्रबल उत्कण्ठा थी कि हर तरह ऐसा प्रयत्न किया जाय जिससे हड़ताल न होने पावे व स्वागत-सत्कार ठाट बाट से हो जाय। इसके लिए उन्होंने कठोर दमन-नीति का सहारा लिया व स्वयं-सेवक दलों को गैर-कानूनी करार दे दिया। इसके जवाब में कांग्रेस ने इन हुक्मों को न मानकर स्वयंसेवक दलों में भर्ती होने की हलचल तेजी से शुरू की। इस सत्याग्रह में देशबन्धु दास, पं० मोतीलाल नेहरू, लाला लाजपतराय आदि बहुतेरे राष्ट्रीय नेता जेलों में चले गये थे व सत्याग्रही कैदियों की संख्या २०-२५ हजार तक पहुँच गयी थी। तब भी इस लहर को रोक सकने का कोई लक्षण लार्ड रीडिंग को नहीं दिखाई दिया तब उन्होंने कहा था—मेरी समझ में नहीं आता कि हिन्दुस्तान में कैसे व क्यों हजारों लोग एक एक करके जेल चले जा रहे हैं। इस आन्दोलन को कैसे रोका जाय? मैं बड़ी उलझन व असमंजस में पड़ गया हूँ। यह दृश्य देखकर बंबई के तत्कालीन गवर्नर जार्ज लायड ने खानगी तौर पर कहा था कि यदि गांधीजी ने खुद बखुद इस आन्दोलन को १९२१ में बन्द न कर दिया होता तो वह सफलता के बिलकुल नजदीक ही पहुँच गया था। इससे इस बात का अन्दाज हो सकता है कि उस समय आन्दोलन कितना प्रखर व दुर्धर्ष हो गया था। जब लार्ड रीडिंग ने यह देखा कि हमारे दमन-चक्र से आन्दोलन बन्द नहीं हुआ तो उन्होंने २५ दिसंबर के युवराज के आगमन-दिवस के पहले महात्मा गांधी से हो सके तो समझौता करने की कोशिश शुरू की।

१९२१ के अन्त में अहमदाबाद में कांग्रेस का अधिवेशन हुआ। उन्हीं दिनों यहाँ समझौते की बातचीत होने लगी। उसकी शर्तें इस प्रकार थीं—सत्याग्रह बन्द किया जाय, सत्याग्रही कैदी छोड़ दिये जायँ और सर्वपक्षीय नेताओं की एक परिषद् बुलाकर स्वराज्य के प्रश्न पर विचार किया जाय। परन्तु लार्ड रीडिंग इस बात पर अड़ गये कि कराची परिषद् के बाद खिलाफत आन्दोलन में जिन नेताओं को जेल भेजा गया है, उन्हें न छोड़ा जाय। अन्त को इसके विषय में भी उन्होंने कुछ समझौता कर लिया था, लेकिन कहते हैं कि इस बारे में महात्माजी का

तार-द्वारा उत्तर उन्हें देर से मिला जिससे यह प्रकरण वहीं समाप्त हो गया। मगर ऐसा मालूम होता है जैसे इस समझौते की गरज सिर्फ इतनी ही थी कि किसी तरह युवराज के स्वागत के बहिष्कार को टलवा दिया जाय, इसीलिए वह मौका निकल जाने पर लार्ड रीडिंग ने उन्हीं शर्तों पर समझौता करने से साफ इन्कार कर दिया। तब महात्माजी ने १ फरवरी १९२२ को वाइसराय को आखिरी चेतावनी का एक पत्र भेज कर लिखा कि दमन-नीति को बन्द करके अब भी नागरिक स्वतंत्रता का सदैव के लिए आश्वासन दे दीजिए नहीं तो मैं बारडोली ताल्लुके से करबन्दी का आन्दोलन शुरू करूँगा। वाइसराय का तुरन्त इनकार आ गया। इसके पहले ही अहमदाबाद कांग्रेस ने महात्माजी को डिक्टेटर—सर्वाधिकारी—बना दिया था और सारे हिन्दुस्तान की आँखें बारडोली के अपूर्व शान्ति-संग्राम की ओर लग रही थीं। इतने ही में महात्माजी को तार द्वारा खबर मिली कि ५ फरवरी को चौरी चौरा (युक्तप्रान्त) में कांग्रेसी जलूस के लोगों ने पुलिस के २१ सिपाहियों व १ थानेदार का पीछा करके उन्हें थाना चौकी में शरण लेने पर मजबूर किया व आखिर में उस चौकी में आग लगा दी जिससे वे जलकर खाक हो गये। इसके पहले भी बम्बई, मालेगाँव, आदि में छोटे-बड़े दंगे हो चुके थे व मलाबार में तो मोपलों का खासा उत्पात ही हो गया था। परन्तु महात्मा गांधी इन दंगों की निन्दा करके ही रह गये थे या उपवास के द्वारा उनका प्रायश्चित्त करके आन्दोलन को चलने दिया था परन्तु चौरी चौरा के हत्याकाण्ड की खबर सुनकर उनकी धारणा हुई कि अभी अहिंसा का मर्म कांग्रेसवाले समझे नहीं हैं, ऐसी दशा में यदि करबन्दी का आन्दोलन शुरू किया जायगा तो जगह जगह हिंसा-काण्ड व सैनिक शासन शुरू हो जायगा और यह प्रयोग असफल ही रहेगा; यह सोचकर उन्होंने बारडोली की लड़ाई अनिश्चित समय के लिए स्थगित कर दी। १२ फरवरी को कार्यसमिति की बैठक बारडोली में हुई जिसमें कानून-भंग व आज्ञा-भंग स्थगित किया गया व कांग्रेस के मेंबर बढ़ाना, चरखों का प्रचार करना, राष्ट्रीय शिक्षण-संस्थाएँ व पंचायतें स्थापित करना, शराबखोरी मिटाना, अस्पृश्यता-निवारण व हिन्दु-मुसलमान एकता के लिए प्रयत्न करने का

विधायक कार्यक्रम मंजूर हुआ। इसके बाद २४-२६ फरवरी को दिल्ली में महासमिति की बैठक हुई व महात्माजी की इस नीति को उसका समर्थन प्राप्त हुआ। लेकिन इसमें स्थान विशेष व प्रश्न-विशेष के लिए व्यक्तिगत सत्याग्रह करने की इजाजत प्रान्तिक समितियों को दे दी गयी थी। इस तरह निःशस्त्र क्रान्ति का पहला सत्याग्रही धावा १ वर्ष ५ महीने के बाद अनिश्चित काल के लिए स्थगित हुआ। परन्तु इससे कांग्रेस की असहयोग नीति पर असर नहीं पड़ा बल्कि इसके द्वारा शान्तिमय असहयोग व सत्याग्रह उर्फ निःशस्त्र क्रान्ति ही हमारी नीति का वास्तविक बल है, यह विश्वास और यही उसकी नीति अधिक दृढ़ हुई।

असहयोग का आक्रामक कार्यक्रम बन्द करके सिर्फ विधायक व संगठनात्मक जन-सेवा का कार्यक्रम कांग्रेस के सामने रखने से देश में अनेक मतभेद होने लगे व महात्माजी पर कांग्रेस के अनेक नेता तरह तरह से हमले करने लगे। ऐसा मालूम पड़ने लगा मानों सरकार के प्रति बगावत करने की भावना कुछ समय के लिए ठण्ढी पड़ गयी व वह आपस के रगड़ों-झगड़ों के रूप में प्रकट होने लगी। इतने ही में महात्मा गांधी की गिरफ्तारी की अफवाहें उड़ने लगीं। तब ९ मार्च के 'यंगइण्डिया' में महात्माजी ने एक लेख लिखा 'अगर मैं पकड़ा गया'। उसमें उन्होंने कांग्रेस कार्यकर्त्ताओं को यही उपदेश दिया कि वे खादी, राष्ट्रीय शिक्षा, हिन्दू-मुसलमान-एकता, अस्पृश्यता-निवारण आदि विधायक कार्य करते रहें और अहिंसा व्रत का पूरा पूरा पालन करें। १३ मार्च को महात्माजी राजद्रोह के अभियोग में गिरफ्तार हुए और अहमदाबाद के दौरा जज मि० ब्रूमफील्ड के इजलास में उनका मुकदमा चला। १८ मार्च को महात्मा जी ने अदालत में अपना लिखा बयान पेश किया। इसमें उन्होंने विस्तार के साथ यह बताया है कि दक्षिण अफ्रिका में उनका सार्वजनिक जीवन कैसे शुरू हुआ, सत्याग्रह करते हुए भी वहाँ कैसे साम्राज्य-निष्ठ रहे, फिर रौलट कानून, जालियांवाला बाग, खिलाफत आदि काण्डों से उनकी साम्राज्य-भक्ति को कैसे ठेस लगी, हिन्दुस्तान में कानून-स्थापित सरकार किस तरह जनता को चूसने की नीति पर चल रही है, यहाँ देशभक्ति ही किस प्रकार अपराध बना दिया गया है, लोग

कैसे भयभीत व पौरुषहीन हो गये हैं और १२४ अ किस तरह दमनकारी धाराओं की तुर्रा बन गयी है। फिर कहते हैं 'मुझे खुशी है कि नागरिक स्वातन्त्र्य का गला घोंटनेवाले कानूनों के सिरताज १२४ अ धारा के अनुसार मुझ पर अभियोग लगाया गया है। प्रेम कानून के द्वारा न तो पैदा किया जा सकता है न कानून से उसका नियमन ही हो सकता है। किसी भी व्यक्ति या संस्था के प्रति असन्तोष प्रकट करने की छुट्टी तबतक होनी चाहिए जबतक हिंसा को प्रोत्साहन न दिया जाय या ऐसा इरादा न हो। परन्तु भाई शंकरलाल पर व मुझ पर जो दफा लगायी गयी है उसके अनुसार तो असन्तोष का प्रचार करना भी अपराध है। इस दफा की रू से जो मुकदमे चलाये गये हैं उनमें से कइयों पर मैंने गौर किया है और मैं जानता हूँ कि इसके अनुसार भारत के कई अत्यन्त लोकप्रिय देश-भक्तों को सजाएँ हुई हैं। इसलिए इस धारा के मुताबिक मुकदमा चलाया जाना मैं अपने लिए गौरव की ही बात समझता हूँ। मैंने बहुत थोड़े में बता दिया है कि मेरे असन्तोष का कारण क्या है? किसी भी अधिकारी या खुद राजा के प्रति मेरे मन में किसी तरह की व्यक्तिगत घृणा या द्वेष नहीं है, लेकिन जिस शासन-पद्धति के द्वारा अबतक लोगों का अभूतपूर्व अहित हुआ है उसके प्रति असन्तोष रखना मैं एक सद्गुण मानता हूँ। इसलिए इस प्रणाली के प्रति प्रीति रखना मैं पाप समझता हूँ।......मेरी नाकिस राय है कि 'सत्' से सहयोग करना जितना कर्तव्य है उतना ही 'असत्' से असहयोग करना भी है। मगर अबतक न्यायकर्त्ताओं का जो प्रतिकार किया जाता था वह हिंसायुक्त होता था। लेकिन मैं अपने देशबन्धुओं को यह बता रहा हूँ हिंसात्मक प्रतिकार से अनिष्ट ही अधिक होता है और पूर्ण अहिंसा के द्वारा ही 'असत्' से सफल असहयोग किया जा सकता है। इसलिए भले ही कानून की दृष्टि से मेरा यह कार्य जान बूझकर किया हुआ अपराध दिखाई देता हो, लेकिन मुझे वह नागरिक का श्रेष्ठ कर्तव्य भासित होता है और इसके लिए मैं बड़ी खुशी से भारी से भारी सजा भोगने को तैयार हूँ। आपको यदि ऐसा प्रतीत होता हो कि जिस कानून के अनुसार कारवाई करने की जिम्मेदारी आप पर है वह अन्याय-युक्त है, तो आपके सामने अपने पद

से इस्तीफा दे देने व 'असत्' से असहयोग करने का, अथवा आपका यह खयाल हो कि जिस शासन-पद्धति को चलाने में आप सहायता कर रहे हैं वह या यह कानून न्यायोचित व जनहितकारी हैं और इसलिए मेरा यह कार्य जनहित के प्रतिकूल है तो मुझे अधिक से अधिक सजा देने का—दो में से कोई एक ही मार्ग—न्यायाधीश व असेसर साहबान, खुला है।' कहना नहीं होगा कि न्यायाधीश ने दूसरे ही मार्ग का अवलम्बन करके महात्माजी को छः साल की सजा ठोंकी व लोकमान्य की परंपरा चालू रखने का प्रमाण-पत्र उन्हें दिया। अपने फैसले में उन्होंने गांधीजी की प्रशंसा की व कहा कि आप को सजा सुनाते हुए मुझे बड़ा दुःख हो रहा है। उन्होंने लोकमान्य के मुकदमे का भी उल्लेख किया। भारतवासियों के हृदय ने इस बात को फौरन् ही ग्रहण कर लिया व लोकमान्य के दिवंगत हो जाने से खाली हुए अपने हृदय-सिंहासन पर जिस विभूति की उन्होंने स्थापना की थी, उसकी महत्ता के प्रति उनकी श्रद्धा अधिक ही दृढ़ हुई।

सितबर १९२० में जब महात्माजी ने कांग्रेस के सामने असहयोग-संग्राम की योजना रक्खी तब उन्होंने कहा था कि यदि यह कार्यक्रम पूरा हो जाय तो एक साल में हमें स्वराज्य मिल जायगा। उसके बाद कोई डेढ़ साल तक उस कार्यक्रम को पूरा करने में अपना व जितना और उत्पन्न हो सका वह सारा बौद्धिक व आत्मिक बल खर्च करके उन्होंने कोई कसर नहीं उठा रक्खी परन्तु वह बल स्वराज्य-प्राप्ति के लिए काफी नहीं साबित हुआ। यह सच हो, तो भी, कांग्रेस का इस मार्ग में दृढ़ विश्वास होना, व पहले जो वह महज प्रस्ताव पास करने वाली दुर्बल संस्था थी उसकी जगह तब्दील होकर उसका साल भर तक अखण्ड कार्य करनेवाली व प्रस्थापित राजसत्ता से संगठित लड़ाई लड़नेवाली क्रान्तिकारी संस्था बनाना यह चमत्कार कोई मामूली बात नहीं है। देशबन्धु दास, पं० मोतीलालजी नेहरू, डा० राजेन्द्र प्रसाद जैसे प्रख्यात वकील-बैरिस्टरों का अपनी सारी बुद्धि व शक्ति देश-सेवा में झोंक कर फकीर बन जाना व सैकड़ों मामूली वकीलों व उत्साही युवक विद्यार्थियों का आजन्म देश-सेवा का व्रत ले लेना कोई ऐसी-वैसी बात नहीं थी। हजारों लोगों द्वारा खुले

आम कानून-भंग करने से देश में जो प्रतिकार की एक जबरदस्त लहर उठी, दमन चक्र के द्वारा उसे रोक सकने में राजप्रतिनिधि को असमर्थता का एहसास होना व कांग्रेस के साथ सुलह करने की आवश्यकता प्रतीत होना, एवं अन्त को उस महान् व प्रबल आन्दोलन का कांग्रेस व उसके सर्वाधिकारी के हुक्म से रुक जाना व उसी हुक्म से देश के हजारों नवयुवकों व सैकड़ों नेताओं का जन-संगठन व जनसेवा के रचनात्मक कार्यों में लग जाना ये बातें उस दीक्षा को अमिट बनाने के लिए काफी थीं जो महात्माजी ने राष्ट्र को अबतक दी थी। १९०६ में बरीसाल में 'वन्देमातरम्' का उच्चार न करने-संबंधी हुक्म के निःशस्त्र प्रतिकार करने का जो आन्दोलन भारतीय राजनीति में पहले पहल आया व जो बहिष्कार-योग अपनी बुद्धि से तैयार करके चलाने का प्रयोग किया था उसे बहुत बड़े पैमाने पर व अधिक वैज्ञानिक आधार पर महात्मा गांधी ने प्रत्यक्ष कर दिखाया था। इस प्रयोग में एक नवीनता थी और वही इसकी सफलता का वास्तविक कारण थी। महात्माजी ने उस बहिष्कार-योग को अहिंसा-निष्ठा का आध्यात्मिक अधिष्ठान दे दिया था। लो० तिलक ने पहले ही लिखा था कि निःशस्त्र क्रान्ति या सत्याग्रह की बुनियाद उपनिषद् के आत्मबल पर डाली गयी है। निःशस्त्र क्रान्ति का शास्त्र यदि तैयार करना है तो उसका अधिष्ठान अहिंसा ही हो सकती थी। अहिंसा-शास्त्र-विज्ञान की भूमिका न स्वीकार करने के कारण ही आयर्लैंड के निःशस्त्र क्रान्तिवाद को आगे चलकर सशस्त्र क्रान्ति का रूप प्राप्त हो गया। हिन्दुस्तान में प्रथमतः लो० तिलक या अरविन्द बाबू ने जो प्रयोग किया उसे सरकार ने दबा दिया व फिर उसका पुनरुज्जीवन उनसे न हो सका; लेकिन जिन दिनों भारत में वंगभंग का आन्दोलन चल रहा था उन्हीं दिनों दक्षिण अफ्रिका में अहिंसा के अधिष्ठान पर निःशस्त्र क्रान्ति का एक प्रयोग महात्माजी ने सफल कर लिया था। हिन्दुस्तान आने पर एक दो छोटे मामलों में उन्होंने वही प्रयोग सफल करके दिखा भी दिया था। फिर १९२०के सितंबर से १९२२ की फरवरी तक बहुत बड़े पैमाने पर यह प्रयोग किया जिसमें पूरी नहीं तो इतनी सफलता जरूर पायी जिससे लोगों में यह विश्वास उत्पन्न हुआ कि उसकी फिर आजमायश करके

देखी जाय। इसे क्या अन्धश्रद्धा कहेंगे? आँख वाले तो ऐसा नहीं कह सकते।

जो हो; लेकिन महज इसीलिए कि इस प्रयोग को स्थगित करना पड़ा, यदि कई लोगों का विश्वास उस पर से उठ जाय तो ताज्जुब नहीं। ऐसे समय जिन नवयुवकों के हृदय में क्रान्ति की ज्वाला तो धधक रही थी, परन्तु अहिंसावाद मान्य नहीं था, वे रूस के कम्युनिस्ट क्रान्ति-शास्त्र की ओर झुकने लगे; क्योंकि ऐसे समय युवक-हृदय को निःशस्त्र या सशस्त्र कोई भी एक क्रान्तिवाद ही पसन्द आ सकता था। नरमदलियों का वैध मार्ग व देशबन्धुदास प्रभृति की धारा सभा में अडंगानीति में उनका विश्वास बिल्कुल नहीं रह गया था। ऐसे ही कुछ युवकों ने भाई डांगे के नेतृत्व में, अक्तूबर १९२२ में, 'सोशलिस्ट' नामक एक अँगरेजी साप्ताहिक पत्र शुरू किया। इन्हीं दिनों भाई मानवेन्द्रराय आदि यूरोपस्थित भारतीय कम्युनिस्टों ने बर्लिन में 'वानगार्ड' नामक पत्र निकाला। १९१९ में रूसमें कम्युनिस्टों की विश्वक्रान्तिकारक संस्था थर्ड इन्टरनेशनल स्थापित हुई। उसने १९२० में यूरोप की साम्राज्यशाही से मुक्ति पाने के उत्सुक एशिया के हिन्दुस्तान, चीन, ईरान, तुर्किस्तान, अफगानिस्तान इत्यादि सब देशों को उनके क्रान्तिकार्य में सहायता पहुँचाने की नीति स्वीकार की, जिसके धागे-डोरे हिन्दुस्तान तक पहुँचने लगे। १९२०-२२ में उत्तरी भारत के कम्युनिस्ट विचार रखने वाले कुछ लोगों ने किसान आन्दोलन में भाग लेना शुरू किया। १९२३ में पेशावर में कम्युनिस्टों पर मुकदमा चला। १९२४ में कानपुर में एक षड्यंत्र का मुक़दमा चला जिसमें भाई राय, मुजफ्फर अहमद, शौकत उसमानी, गुप्ता, शर्मा, शृंगारवेलु, गुलामहुसेन आदि आठ अभियुक्त बनाये गये। इनमें से राय जर्मनी में थे, शर्मा फरार हो गये, शृंगारवेलु बीमार हो गये और हुसेन ने माफी मांग ली। शेष ४ मुलजिमों को मई १९२४ में ४-४ साल की सजा हुई। इसके बाद पहले के गुप्त षडयंत्र वाले सशस्त्र क्रान्तिकारियों का ध्यान मार्क्स के वैज्ञानिक क्रान्तिवाद की तरफ अधिकाधिक जाने लगा। १९२५ में कानपुर में खुल्लम-खुल्ला कम्युनिस्ट कान्फरेन्स हुई और भारत में कम्युनिज्म के वैज्ञानिक क्रान्तिवाद के विधिपूर्वक

स्थापित होने की घोषणा की गयी। इसी समय कम्युनिस्ट पार्टी ने कांग्रेस के नेताओं से एक ठहराव करने का प्रयत्न किया-वैसाही जैसा कि चीन के राष्ट्रीय नेता डॉ० सनयातसेन से किया था, लेकिन भाई डाँगे का कहना है कि काँग्रेस के नेताओं ने उसे मंजूर नहीं किया। १९२२ से काँग्रेस में दो दल हो गये। धारासभा प्रवेश-वादी और धारासभा बहिष्कार-वादी। बहिष्कार-वादी पक्ष वह था जो असहयोग के कार्यक्रम पर डटा हुआ था और जिसे प्रवेशवादी अपरिवर्तन वादी कहने लगे, अपने लिए उन्होंने परिवर्तन-वादी नाम पसन्द किया। असल में तो इस वाद का बीज १९२० की काँग्रेस के विशेष अधिवेशन में बोया गया था। बीच में १॥ साल तक सत्याग्रह रूपी उग्र कार्यक्रम के कारण उसमें अंकुर नहीं फूटा था। देशबन्धु दास ने महात्माजी के धारासभा बहिष्कार का जोरों से विरोध किया था तथापि उनका यह मत नहीं था कि माण्टेगू सुधारों को कार्यान्वित करने में सहयोग दिया जाय। वे धारासभा में अड़ंगा नीति के पक्षपाती थे और अन्त तक उस पर डटे रहे। १९२३ में जो स्वराज्य पार्टी कायम की गयी उसकी नीति-घोषणा में कहा गया था कि जबतक माण्टेगू सुधार रद्द करके पूर्ण स्वराज्य देने का अभिवचन सरकार नहीं देगी और प्रान्तिक स्वराज्य की स्थापना नहीं करेगी तबतक अधिकार स्वीकार करके सरकार से सहयोग न किया जाय और सतत विरोध किया जाय। पं० मोतीलाल नेहरू और देशबन्धु दास दोनों मानते थे कि यह नीति अहिंसात्मक असहयोग के सिद्धान्त के विपरीत नहीं थी और इसलिए वे अपने को असहयोगवादी ही कहते थे। १९२३ के दिल्ली वाले काँग्रेस के विशेष अधिवेशन में स्वराज पार्टी को धारासभा में जाने की इजाजत मिल गयी और १९२३ के अन्त में जो चुनाव हुआ उसमें सब जगह इसकी जीत हुई और धारा-सभाओं में बहुमत रहा।

जनवरी १९२४ में महात्मा गांधी यरवदा जेल में अपेंडिसाडीज़ से एकाएक बीमार हुए। कर्नल मेडॉक उन्हें तुरन्त पूना के ससून हास्पिटल में ले गये और आपरेशन किया। इसके बाद सरकार ने उन्हें बिना शर्त छोड़ दिया। कुछ दिन वे जुहू (बंबई) में रहे। वहाँ पं० मोतीलाल नेहरू व देशबन्धु दास से धारा-सभा प्रवेश के संबंध में उनकी बहुतेरी चर्चा

हुई। मतभेद तो नहीं मिटा, लेकिन महात्माजी ने यह आश्वासन दिया कि जब कांग्रेस ने धारा-सभा में जाने की मंजूरी दे दी है तो अब किसी को उसमें आपत्ति नहीं करनी चाहिए बल्कि भरसक सहायता करनी चाहिए। इधर दास-नेहरू ने यह मंजूर किया कि हम सब महात्माजी के विधायक कार्यक्रम में सहायक होंगे। बल्कि उन्होंने यहाँ तक लिखित अभिवचन दिया कि जब हमें यह प्रतीत होगा कि धारा-सभाओं से कुछ काम नहीं बनता तो हम उन्हें छोड़कर चले आवेंगे और महात्माजी के नेतृत्व में कांग्रेस के नियमानुसार सविनय-भंग अथवा सत्याग्रह आन्दोलन में अग्रसर हो जावेंगे। १९२४ में बेलगांव के अधिवेशन में कांग्रेस ने इस समझौते को मंजूर कर लिया। इससे महात्माजी की गैरहाजिरी में कांग्रेस में जो दो दल बन गये थे उनका फिर गठ-बंधन हो गया। बेलगांव में महात्माजी ही कांग्रेस के सभापति थे। उसके बाद थोड़े ही दिनों में उन्होंने बंगाल में जाकर देशबन्धु की सहायता से सत्याग्रह के दूसरे मोर्चे की तैयारी की थी। मगर दुर्भाग्य से १९२५ में देशबन्धु का देहावसान हो गया और लोगों को लगा कि बंगाल में दूसरे सत्याग्रह की जो तैयारी की जा रही थी वह विफल हुई।

देशबंधु की मृत्यु के बाद पं० मोतीलाल नेहरू स्वराज्य-पार्टी के नेता हुए। स्वराज्य-पार्टी की नीति माण्टेगू सुधारों के संबंध में यह थी कि जबतक सरकार कांग्रेस से इसके विषय में समझौता नहीं कर लेगी तबतक मंत्रि-मंडल न बनाया जाय। १९२६ की गौहटी कांग्रेस के अध्यक्ष श्रीनिवास अयंगर ने अपने भाषण में कहा था कि मंत्री पद अस्वीकार करने की नीति सार्वकालिक या विला-शर्त नहीं है। देशबन्धु दास ने फरीदपुर में जो शर्तें रखी थीं वे जबतक मंजूर नहीं हो जाँय तबतक इस नीति में परिवर्तन करना न शक्य है और न इष्ट ही। धारा-सभा में अड़ंगा-नीति, बाहर रचनात्मक संगठन और अंत में सत्याग्रह ऐसा तिहरा बल इस मांग के पीछे था। प्रत्येक मांग के पीछे कुछ शक्ति होनी चाहिए। उसकी परिणति प्रत्यक्ष प्रतिकार तक होनी चाहिए। इसके लिए कांग्रेस का अनुशासन मानना और सत्याग्रह के समय महात्मा गांधी का नेतृत्व मंजूर करना आवश्यक था। इन मुद्दों को स्वराज्य-पार्टी ने कभी

नहीं छोड़ा। यही कारण है कि महात्मा गांधी और स्वराज्य-पार्टी का वह सहयोग दिन-दिन दृढ़ होता गया और अंत को, १९२९ में, जब यह साबित हो गया कि ब्रिटिश सरकार धारासभा के विरोध के फल-स्वरूप स्वराज्य की मांग पूरी करने को तैयार नहीं होती तब लाहौर-कांग्रेस में पं० मोतीलाल नेहरू ने देशबन्धु सहित महात्माजी के आश्वासन को पूरा किया और धारा-सभा के बहिष्कार का तथा महात्मा गांधीजी के नेतृत्व में सत्याग्रह करने का प्रस्ताव कांग्रेस ने पेश किया।

महात्मा गांधी और स्वराज्य-पार्टी में जो यह सद्भाव बढ़ रहा था वह महाराष्ट्र के केलकर-पक्ष को १९२५ से ही अप्रिय होने लगा। १९२६–२७ की धारा-सभाओं के चुनाव के पहले ही उन्होंने स्वराज्य-पार्टी से अलग होकर मांटेगू सुधारों का विरोध करने की नीति छोड़ दी थी और उन्हें कार्यान्वित करके लोक-हित साधन की नयी नीति अख्तियार कर ली थी। यह नीति कांग्रेस और स्वराज्य-पार्टी की नीति के खिलाफ चली मगर १९२० में लोकमान्य तिलक द्वारा निर्धारित कांग्रेस डेमोक्रेटिक पार्टी की नीति से भी गयी बीती थी। लो० ने 'वैधानिक विरोध (Constitutional opposition)' पर जोर दिया था जोकि केलकर-पक्ष ने अपनी नीति से हटा दिया। इसी तरह 'लोकमतानुसार विरोध या सहयोग की नीति ठहराने' की बात भी निकाल डाली। प्रतिसहयोग की व्याख्या ही ऐसी कर डाली कि सुधार कैसे ही हों उन्हें कार्यान्वित किया जाय और इसी तरह लोगों का बल बढ़ाया जाय।

लोकमान्य के समय में ही उनके दल में दो भाग हो गये थे। एक था क्रान्तिकारियों की तरफ व दूसरा था वैधमार्गियों की तरफ झुकता हुआ। पहले उपपक्ष में थे—खाडिलकर, परांजपे व देशपांडे (गंगाधर राव) दूसरे में केलकर, करंदीकर का समावेश होता था। लोकमान्य की राय में केलकर राजनीति में 'सावधानता' की व खाडिलकर 'उत्साह' की प्रतिमूर्ति थे। उनके स्वर्गवास के बाद उनकी राजनीति का 'उत्साह' महात्मा गांधी के साथ मिल गया व 'सावधानता' सिर्फ केलकर पक्ष के पास रह गयी। लोकमान्य के समय में जिनके हृदय क्रान्तिवाद की ओर आकर्षित हो गये थे वे म० गांधी के निःशस्त्र क्रान्तिवाद में शामिल हो गये और जो

'सावधानता' का मंत्र जपते रहे वे उनसे अलग रहकर कहने लगे—गांधी का अहिंसावाद हमें नहीं जँचता। इनमें से कुछ लोग लोगों को ऐसा भी भासित करने की चेष्टा करते हैं मानों वे हिंसात्मक क्रान्तिकारी हैं। हम ऊपर बता ही चुके हैं कि पहले का सशस्त्र क्रान्तिकारी दल धीरे-धीरे मार्क्स के क्रान्तिवाद में शरीक होने लगा। इस वैज्ञानिक क्रान्तिवाद से केलकर-पक्ष का कितना विरोध है, यह बताने की आवश्यकता नहीं।

१९२२ से लेकर १९२८ तक स्वराज्य पार्टी व असहयोग-दल अपने अपने ढंग से स्वराज्य की लड़ाई लड़ते रहे, मगर प्रत्यक्ष आक्रमण की नौबत अब तक न लायी जा सकी। १९२७ में लार्ड बर्कनहेड ने सायमन कमीशन की नियुक्ति करके यह चर्चा शुरू की कि मांटेगू सुधारों में कुछ परिवर्तन किया जाय या नहीं। इसमें एक भी भारतीय नहीं लिया गया था। भारतीयों के आत्मनिर्णय के अधिकार पर यह जबरदस्त कुठाराघात था। यह देखकर नरम दल-सहित सब दलों ने उसके बहिष्कार की आवाज बुलन्द की व मद्रास-कांग्रेस में पं० जवाहरलाल नेहरू का स्वतंत्रता को ध्येय मानने का प्रस्ताव पास हो गया। इसके साथ दो और महत्त्वपूर्ण प्रस्ताव पास हुए —(१) सायमन कमीशन के बहिष्कार का आन्दोलन करना व (२) ऐसी स्वराज्य-योजना बनाना जो सब दल के लोगों को पसंद हो। एक और भी प्रस्ताव पास हुआ—आगामी महायुद्ध में ब्रिटिश साम्राज्य के साथ सहयोग न किया जाय। इससे पहले जवाहरलाल जी योरप-यात्रा कर चुके थे और उनके विचार समाजवादी हो गये थे। इसी समय से उन्होंने समाजवादी नीति के अनुसार कांग्रेस की राजनीति को सार्वत्रिक क्रान्तिकारी बनाने का सिलसिला शुरू कर दिया था। १९२८-२९ में जगह-जगह घूमकर उन्होंने 'युवक संघ' व 'स्वाधीनता संघ' स्थापित किये व नवयुवकों में समाजवादी सर्वांगीण क्रान्ति की भावना पैदा की। फिर १९३० में महात्माजी के नेतृत्व में जो पूर्ण स्वराज्य का सत्याग्रह शुरू हुआ और उसमें जो युवक सम्मिलित हुए उन्हीं में से आगे चलकर कांग्रेस सोशलिस्ट पार्टी का जन्म हुआ। इसके अलावा, १९२४ में कानपुर षड्यंत्र-केस में सजा पाये हुए लोग जब छूट आये तो कम्युनिस्ट पार्टी को फिर जोर मिलने लगा। १९२७ से २९ तक मजदूरों

की हड़तालों का व कम्युनिस्ट पार्टी के संगठन का बड़ा जोर रहा। परन्तु १९३० के प्रचण्ड संग्राम से यह पार्टी प्रायः अलग रही। इसके पहले ही इस पक्ष के नेताओं को १९२९ में मेरठ षडयंत्र केस में सरकार ने जेल में धांध दिया था।

पं० जवाहरलालजी जहाँ एक ओर भारतीय नवयुवकों में समाजवादी क्रान्ति के विचार फैला रहे थे तहाँ दूसरी ओर पं० मोतीलाल नेहरू एक सर्वपक्षीय परिषद् बुलाकर उसमें औपनिवेशिक स्वराज्य के विधान का मसविदा तैयार कर रहे थे तो तीसरी ओर सरदार वल्लभभाई पटेल बारडोली में किसानों का संगठन करके उन्हें सत्याग्रह के लिए तैयार कर रहे थे—मानों वे दिखाना चाहते थे कि महात्माजी के रचनात्मक कार्यक्रम के द्वारा सत्याग्रह की प्रचण्ड शक्ति किसानों में कैसे आ सकती है। पं० मोतीलालजी ने महात्माजी को तार दिया कि स्वराज्य-योजना बनाने के लिए आप इलाहाबाद आजाइए। महात्माजी ने उन्हें जवाब दिया—आप योजना तैयार कीजिए, उसे अमल में लाने के लिए जिस शान्ति की जरूरत पड़ेगी उसे पैदा करने का काम मैं कर रहा हूँ। इससे यह जाना जाता है कि महात्माजी राजनीति की ओर किस दृष्टि से देखते हैं। १९२८ में सरदार वल्लभभाई ने बारडोली में कर-बन्दी सत्याग्रह का जो आन्दोलन उठाया था वह सोलहों आना सफल हुआ। इससे देश के लोगों का ध्यान फिर से सत्याग्रह व प्रत्यक्ष प्रतिकार की ओर गया। १९२८ के अन्त में कलकत्ता में पं० मोतीलालजी की अध्यक्षता में कांग्रेस का अधिवेशन हुआ उसमें 'नेहरू रिपोर्ट', जो सर्वपक्षीय परिषद् के द्वारा बनायी गयी थी, मंजूर हुई व महात्मा गांधी ने यह प्रस्ताव पेश किया कि यदि नेहरू रिपोर्ट वाली औपनिवेशिक स्वराज्य की योजना सरकार ने १ साल में मंजूर नहीं की तो फिर कर-बन्दी व कानून-भंग-सहित असहयोग-युद्ध शुरू कर दिया जायगा। साथ ही कांग्रेस ने यह भी घोषित किया कि असहयोग औपनिवेशिक स्वराज्य के लिए नहीं, बल्कि पूर्ण स्वराज्य या स्वतंत्रता के लिए किया जायगा।

पं० मोतीलालजी ने केन्द्रीय धारासभा में इसी आशय का प्रस्ताव पेश किया व सरकार को चेताया कि अगले साल हम सत्याग्रह की जबर-

दस्त लड़ाई छेड़ेंगे। लार्ड अरविन विलायत गये व इसके उत्तर के बारे में ब्रिटिश मन्त्रिमंडल से सलाह-मशविरा कर आये। इधर देश में क्रान्तिकारी आन्दोलन की लहर बढ़ रही थी व कहीं कहीं हिंसा-काण्ड भी होने लगे थे। सायमन-बहिष्कार के लिए निकले जलूस में लाला लाजपतराय पर भी लाठी-प्रहार हुए थे और उससे उनकी ऐसी तबीयत खराब हुई कि उसी में उसका अन्त हो गया (१९२८)। उनकी यह वीरोचित मृत्यु उनकी आजन्म देश-सेवा के अनुरूप ही हुई। बाद को लाहौर में साण्डर्स की जो हत्या हुई उसका कारण लालाजी की मृत्यु का बदला लेना ही था। इस तरह इन दिनों हिन्दुस्तान में चारों ओर ही खलबली मच रही थी। **क्रांतिकारी भावना** जित राष्ट्रों की राजनीति का **नित्य अधिष्ठान होता है।** इसकी लहरें उठती-गिरती रहती हैं इससे जिनमें क्रान्तिकारी भावना नहीं रहती है उन्हें बहिष्कार, असहयोग, सत्याग्रह, निःशस्त्र क्रान्ति या सशस्त्र क्रान्ति ये क्षणिक लहरें मालूम होती हैं व उन्हें यह **अपनी राजनीति का नैमित्तिक** स्वरूप प्रतीत होता है परन्तु जिन लोगों का अन्तःकरण पराधीनता में जकड़ी हुई जनता की आकांक्षाओं से समरस हो गया है उन्हें ये रह रहकर उठनेवाली लहरें मानों पराधीन जनता के हृदय में उठनेवाली स्वतंत्रता की पवित्र आत्मप्रेरणा ही जान पड़ती है। मानवी मन में परतंत्रता से स्वतंत्रता की ओर जाने की जो नित्य आत्मप्रेरणा होती है उसी में से क्रान्तिकारी भावनाओं की लहरें उठती हैं। अतएव सच्चे लोकनायक अथवा राजनीतिज्ञ, जो चाहते हैं कि लोगों पर उनकी सत्ता चले, उनकी तरफ आँखें नहीं मूँद सकते। परन्तु जिनके हृदय में स्वतंत्रता की प्रेरणा कम होती है उनके लिए यह एक रहस्य ही बना रहता है कि लोगों की इस आत्मप्रेरणा को जाग्रत करने वाले नेता आम लोगों में क्रान्तिकारी आन्दोलन जी जबरदस्त लहर कैसे पैदा कर देते हैं। उनकी बुद्धि इसमें असमर्थ सिद्ध होती है, इसलिए वे यह मान बैठते हैं कि यह एक जोश की, पागलपन की लहर उठी है, थोड़े दिनों में ठण्डी हो जायगी। तब लोग हमारी समझदारी की व बुद्धि की बातों को सुनने लगेंगे।

लार्ड अरविन के हिन्दुस्तान लौट आने पर १ नवंबर १९२९ को

उन्होंने एक विज्ञप्ति प्रकाशित की। उसमें कहा गया कि १९१९ वाले सुधार कानून का अन्तिम पर्यवसान औपनिवेशिक स्वराज्य ही है, सायमन कमीशन की रिपोर्ट आने पर व दूसरी सुधार-योजनाओं पर विचार करने के लिए, ब्रिटिश मंत्रिमण्डल का इरादा है कि ब्रिटिश राजनीतिज्ञों, ब्रिटिश भारत के भारतीय नेताओं व देशी-राज्यों के प्रतिनिधियों की मिलकर एक 'गोलमेज परिषद्' की जाय। नरम दल वालों को इससे सन्तोष हो गया व वे फिर सहयोग-वादी हो गये। किन्तु महात्मा गांधी व कांग्रेस उस समय सहयोग के लिए तैयार न हुए। म० गांधी, सर सप्रू, पं० मोतीलाल नेहरू, जिना साहब इत्यादि नेताओं की इस समय लार्ड अर्विन से मुलाकातें हुई। महात्मा गांधी वहाँ यह आजमा लेना चाहते थे कि ब्रिटिश राजनेता औपनिवेशिक स्वराज्य एक ही किस्त में दे देने को तैयार हैं या उसे अन्तिम ध्येय कहकर मांटेगू-सुधार जैसी कोई और बेकार योजना हमारे गले बाँध देना चाहते हैं। लेकिन जब यह मालूम हुआ कि ब्रिटिश राजनेता ऐसा कोई आश्वासन देने के लिए तैयार नहीं है तब गोलमेज-परिषद् से असहयोग करने की व कलकत्ता कांग्रेस के निश्चयानुसार स्वतंत्रता का प्रस्ताव पास करके सत्याग्रह-युद्ध ठानने की नीति मन में निश्चित करके महात्माजी लाहौर-कांग्रेस में उपस्थित हुए थे।

१९२९ के दिसंबर में हुआ लाहौर-कांग्रेस का अधिवेशन भारतीय राजनीति के इतिहास में बड़ा महत्त्वपूर्ण है। उसके सभापति पं० जवाहर लाल नेहरू थे। उन्होंने अपने भाषण में यह बताया था कि 'समाजसत्ताक जनतंत्र' (Socialist Republic) मेरा अन्तिम ध्येय है। कांग्रेस के प्रथम समाजवादी अध्यक्ष की दृष्टि से उनका यह भाषण आधुनिक भारत के इतिहास में कायम रहेगा। उन्होंने साफ तौर पर इसमें कहा है कि यदि हिन्दुस्तान को अपने देश से दरिद्रता व विषमता मिटानी है तो समाजवाद के ही रास्ते उसे जाना पड़ेगा। अलबत्ते उसका ढाँचा हमारे देश की मूल प्रकृति के अनुरूप बनाना पड़ेगा व उसके साधन भी अपनी परिस्थिति व परम्परा के अनुसार स्वतंत्र रूप से खोजने होंगे। साथ ही उन्होंने यह भी स्पष्ट कर दिया था कि कांग्रेस की वर्तमान मनोवृत्ति, भारतीय-स्वतंत्रता-संग्राम की आज की अवस्था व इस युद्ध के वर्तमान नेता

इन सबका विचार करते हुए कांग्रेस का समाजवादी बनना और समाजवाद के पूरे कार्यक्रम को अपनाना संभवनीय नहीं है। उन्होंने यह विचार भी बेधड़क पेश किया कि मेरे आदर्श भारत में मध्य-युगीन राजे-रजवाड़ों के लिए व पूँजी युग के आधुनिक औद्योगिक राजाओं के लिए कोई स्थान नहीं है।

हिन्दुस्तान में प्रजातन्त्र के ध्येय का प्रचार करके राष्ट्रीय मनोवृत्ति को बढ़ाने का काम लो० तिलक व म० गाँधी ने भारत की मूल प्रकृति का, खास राजनैतिक परिस्थिति को, ध्यान में रखकर ही तदनुकूल मार्ग से किया है। इन प्रयत्नों का फल ही यहाँ का वर्तमान राष्ट्रवाद है।

इस राष्ट्रवाद को योरपीय राष्ट्रवाद की तरह पूँजीवादी व सेनावादी राष्ट्रवाद से उत्पन्न साम्राज्यवाद की अवस्था में से न गुजरना होगा, बल्कि उसका स्वाभाविक विकास समाजवाद में ही होना चाहिए। और सो भी कांग्रेस के द्वारा ही, इस बात को समझने व उसके अनुसार अपनी नीति निश्चित करनेवाले पहले समाजवादी नेता पं० जवाहरलाल ही हैं। यों तो हिन्दुस्तान में १९२२ से ही कम्युनिज्म के रूप में समाजवाद आ गया था, परन्तु वह राष्ट्रीय संग्राम के वास्तविक महत्त्व व खासियत को ठीक-ठीक नहीं समझ पाया था और उसमें रूसी क्रान्ति के अनुकरण की प्रवृत्ति थी। किन्तु पं० जवाहरलाल का समाजवाद पहले से प्रचलित राष्ट्रीय-संग्राम-रूपी परिणत वृक्ष का परिपक्व फल है। अतएव हमारा यह खयाल है कि इसी नीति का अवलम्बन करने से हिन्दुस्तान में समाजवाद को प्रस्थापित करने का मार्ग जनता के हाथ लग सकेगा। समाजवादी युवक कार्यकर्त्ता भी इस बात को धीरे-धीरे समझने लग गये हैं व जो लोग उन्हें कुछ समय तक क्रान्ति-विरोधी समझते थे वे भी यह मानने लगे हैं कि वे क्रान्ति-वादी हैं। उनका क्रान्तिवाद लोक० तिलक के पहले के क्रान्तिवाद की तरह ही वर्धिष्णु हैं, राष्ट्रशक्ति के साथ-साथ बढ़ता जानेवाला है।

लाहौर कांग्रेस में कांग्रेस का ध्येय स्वतंत्रता—पूर्ण स्वराज्य-घोषित किया गया व धारा-सभाओं का बहिष्कार करके फिर से सत्याग्रह व असहयोग संग्राम छेड़ने में सारा देश सम्मिलित हो, इस आशय का प्रस्ताव पास

हुआ। इस प्रस्ताव के 'इक्के-दुक्के विरोधको में श्री केलकर व पं० मालवीयजी प्रमुख थे। किन्तु लाहौर कांग्रेस के बाद जो प्रचण्ड सत्याग्रह शुरू हुआ, वं बीच में थोड़ा-सा विश्राम लेकर फिर जो १९३४ तक चला उसमें वृद्ध मालवीयजी तो अन्त तक टिके रहे, मगर केलकर साहब ने शुरू में तो उसकी जबरदस्त लहर को देखकर सहयोग करने का थोड़ा-सा दिखावा किया, लेकिन बाद में शीघ्र ही उससे अपने को बचा लिया व लोगों से कहने लगे, अब यह आन्दोलन बन्द होना चाहिए, एवं कांग्रेस पर तथा उसके नेताओं पर टीका-टिप्पणी करने का अपना नित्यधर्म पालने लगे। परन्तु उनके इस नित्य या नैमित्तिक धर्म-कर्म का खुद महाराष्ट्र पर भी कोई प्रभाव नहीं हुआ। इस महान् युद्ध में पुराना ब्राह्मण-अब्राह्मणवाद खतम हो गया व सारा महाराष्ट्र एक मुख से कांग्रेस के झण्डे के नीचे आकर ब्रिटिश साम्राज्य का मुकाबला करने लगा। लोकमान्य के निधन के बाद महाराष्ट्र में जो अंधकार युग शुरू हुआ था वह नष्ट हो गया और महाराष्ट्र की बुद्धि पर जो राख चढ़ गयी थी वह उड़ गयी व उससे उसके अन्तःकरण में जो ज्योति देदीप्यमान हुई उसके प्रकाश में उसे अपना राष्ट्रीय कर्तव्य साफ तौर पर दिखाई देने लगा। सारे देश में, तमाम प्रान्तों में, कम-बढ़ यही हालत हुई व लार्ड अरविन साम्राज्य की सारी शक्ति व दमन-नीति को आजमा कर भी महात्माजी ने 'डांडीकूच' से आरम्भ करके नमक-कानून-भंग का जो सत्याग्रह युद्ध पुकारा उससे कांग्रेस को पीछे न हटा सके। बारिश के दिन नजदीक आजाने से नमक सत्याग्रह के बन्द होने की नौबत आनेवाली थी कि जङ्गल-सत्याग्रह शुरू होने लगा। सत्याग्रह की इस आग को बुझाने के लिए म० गांधी आदि नेताओं को दमन-कानूनों के मातहत राजबन्दी बनाया गया, किन्तु इससे आग उल्टी अधिक ही भड़क उठी। दमन का प्रत्येक नया हुक्म सत्याग्रह के लिए एक नवीन अवसर देता था, व इसी उमंग में देश के हजारों युवक शान्ति के साथ जेलों में जाने लगे। किसान करबन्दी की हलचल मचाने लगे, व्यापारी ब्रिटिश माल के बहिष्कार का संगठन करने लगे, स्वयंसेविकाएं विदेशी माल की दुकानों पर धरना देकर लाठी-मार सहन करने लगीं, राष्ट्रीय झंडे के जलूस व

सलामी के लिए हजारों लोग देहात से एकत्र होने लगे मानो अपने आचरण से यह दिखाने लगे कि हम ब्रिटिश सत्ता का नहीं बल्कि कांग्रेस का हुक्म मानेंगे। हिन्दुस्तान का सारा नकशा ४-५ मास में बदल गया और इस युद्ध से निर्मित आत्म-तेज का प्रकाश सारी दुनिया में फैल गया। संसार के सब विचारशील लोग हिन्दुस्तान की इस अपूर्व राष्ट्रीय क्रान्ति की ओर भौंचक होकर देखने लगे। सरकारी सिपाहियों के लाठी प्रहार या गोलीवार को भी लोग नगण्य मानने लगे व जैसा कि महात्माजी ने गोलमेज परिषद् में कहा था, लड़के साम्राज्यशाही की गोलियों के सामने सीना तानकर खड़े रहने लगे। ऐसा दृश्य दिखाई देने लगा मानो कांग्रेस ब्रिटिश राज्य की प्रतिस्पर्द्धी राज्यसंस्था हो और भारतीय जनता पर ब्रिटिश हुकूमत नहीं बल्कि कांग्रेस की अबाध सत्ता चालू है। पेशावर में गढ़वाली पलटन को हुक्म हुआ था कि निहत्थी भीड़ पर गोली चलाओ, लेकिन उसने साफ इनकार कर दिया। ऐसा भासित होने लगा मानो निःशस्त्र क्रान्ति की यह जबरदस्त लहर ब्रिटिश हुकूमत को गड़प किये डालती है। इन्हीं दिनों अर्थात् प्रथम स्वाधीनता दिवस (२६ जनवरी १९३१) के १ साल बाद महात्मा गांधी प्रभृति कांग्रेस मन्त्रिमण्डल—कार्य समिति के सदस्यों—को जेल से रिहा करके लार्ड अरविन ने उनसे समझौते की बातचीत शुरू की और कांग्रेस से अस्थायी सुलह—गांधी अर्विन समझौता—की।

१९३० के जाड़ों में इंग्लैंड में पहली गोलमेज परिषद् हुई थी उससे महात्मा गांधी व कांग्रेस ने असहयोग किया था। फलतः इंग्लैण्ड के जहाज में बैठने के बजाय कांग्रेस नेता जेलों में जाकर बैठे थे। इस बार सर सप्रू व बै० जयकर ने लार्ड अर्विन व महात्मा गांधी में समझौता कराने का प्रयत्न किया इस उद्देश से कि वे सत्याग्रह बन्द करके गोलमेज परिषद् में जा सकें। इसके लिए पं० जवाहरलाल व मोतीलाल नेहरू को इलाहाबाद से यरवदा महात्मा गांधी से मिलने भेजा गया था। फिर भी कांग्रेस के नेता जैसा आश्वासन चाहते थे उसके लिए सरकार तैयार नहीं थी, इससे समझौता न हो सका व सर सप्रू तथा जयकर साहब दूसरे नरम दली तथा साम्प्रदायिक नेताओं के सहित विलायत गये। इस समय महाराष्ट्र

के प्रति-सहयोगी सहयोग के चार नेता चार दिशाओं में अपना अपना रास्ता खोजने लगे। जयकर साहब 'हिन्दू लिबरल' के रूप में, व डा० मुंजे 'हिन्दू' की हैसियत से विलायत गये, किन्तु केलकर सा० परिषद् का निमंत्रण अस्वीकार करके हिन्दुस्तान में ही रहे व 'केसरी' में कांग्रेस पर टीका करते रहे कि महात्माजी ने जवाहरलाल जी के चक्कर में आकर समझौता नहीं किया, व लोकनायक अणे महात्माजी के झण्डे के नीचे सत्याग्रह में शरीक होकर जेल चले गये। इस तरह प्रति-सहयोगी सहयोग-दल नाममात्र का रह गया। बाद को 'लोकशाही स्वराज्य पक्ष' के नाम से श्री केलकर व बै० जमना दास मेहता के नेतृत्व में फिर से उसे जन्म मिला। किन्तु आज इस दल में जयकर सा० व लोकनायक अणे नहीं हैं।

गोलमेज परिषद् की चर्चा के फलस्वरूप तत्कालीन प्रधान मंत्री रेम्से मैकडोनल्ड साहब ने भारत को औपनिवेशिक स्वराज्य देने का अभिवचन दिया। मन्त्रिमंडल की ओर से जो घोषणा उन्होंने की उसमें ब्रिटिश सरकार की यह राय जाहिर की गयी कि भारत के शासन की जिम्मेवारी केन्द्रीय व प्रान्तीय धारासभा को सौंपी जाय व बीच के संक्रमण-काल में आवश्यकता पड़ने पर अल्प संख्यकों के हकों की रक्षा के लिए कुछ संरक्षण रक्खे जावें। जो संरक्षण रक्खे जायँ वे भी ऐसे होंगे और इस तरह उनपर अमल किया जायगा जिससे पूर्ण उत्तरदायी शासन-व्यवस्था प्राप्त होने में किसी प्रकार बाधा न पड़े। केन्द्रीय सरकार संयुक्त हो, उसमें ब्रिटिश हिन्दुस्तान व देशी राज्य दोनों का समावेश किया जाय, इसे क्या क्या अधिकार दिये जायँ इस पर आगे और विचार कर लिया जाय, क्योंकि देशी राजाओं पर इस सरकार का उतना ही अंकुश रहेगा जितना स्वेच्छा से मंजूर कर लेंगे। इस प्रकार केन्द्रीय धारासभामण्डल बन जाने के बाद केन्द्रीय सरकार के मन्त्रिमण्डल को अधिक उत्तरदायी बनाने का सिद्धान्त ब्रिटिश सरकार स्वीकार करेगी। हाँ, वर्तमान परिस्थिति में संरक्षण व पर-राष्ट्रीय राजनीति के विषय गवर्नर जनरल के अधीन रहेंगे। इसके अलावा शान्ति-रक्षा के लिए भी विशेषाधिकार रक्खे जायँगे। हिन्दुस्तान की साख और आर्थिक स्थिरता-संबंधी कुछ संरक्षण रख कर केन्द्रीय सरकार का अर्थ-विभाग मंत्रिमंडल के अधिकार में दे दिया जायगा।

इस योजना में तीन तत्व मुख्य हैं—१—संयुक्त घटना, २—केन्द्रीय सरकार में उत्तरदायी शासनपद्धति और ३—संक्रमणकाल के लिए कुछ संरक्षक बंधन। बाद में महात्मा गाँधी व लार्ड अरविन में जो स्थायी संधि हुई, उसमें महात्माजी ने मंजूर करा लिया था कि ये संरक्षण हिन्दुस्तान के हित की दृष्टि से ही तय किये जायँगे। गाँधी-अरविन समझौते पर एक यह ऐतराज़ किया जाता था कि लाहौर में स्वतंत्रता का प्रस्ताव पास करने के बाद महात्मा गाँधी गोलमेज परिषद् में जायँगे कैसे? इसका जवाब महात्माजी यह देते थे कि अर्थ-व्यवस्था, संरक्षण और परराष्ट्रीय राजनीति यह स्वतंत्रता का सार-भाग है। यदि इनकी सत्ता हमें मिल जाय और हमें जब चाहें तब ब्रिटिशों की साझेदारी से हट जाने का हक हासिल हो जाय तो फिर राष्ट्र के साथ बराबरी के दर्जे की साझेदारी करने में स्वतंत्रता के प्रस्ताव या ध्येय के विपरीत कुछ नहीं है। उन्होंने खुद लॉर्ड अरविन को जता कर कहा था और लोगों पर भी प्रकट कर दिया था कि मैं अपनी स्वतंत्रता की माँग गोलमेज में ब्रिटिश राजनेताओं के सामने रक्खूँगा और उसकी बुनियाद पर ही अँग्रेजों से समझौता करूँगा। ६ मार्च १९२१ को गांधी-अरविन-संधि के होने के बाद विदेशी पत्र-प्रतिनिधियों से गांधी जी की महत्त्वपूर्ण बातचीत हुई। उसका कुछ अंश इस प्रकार है:—

प्रश्नः—समझौते की दूसरी धारा * को देखते हुए मद्रास, कलकत्ता और लाहौर कांग्रेस में स्वीकृत स्वतंत्रता का प्रस्ताव फिर से कांग्रेस में पास होना सुसंगत होगा?

---

* "As regards constitutional question, the scope of future discussion is stated, with the assent of His Majesty's Government, to be with the object of considering further the scheme for the constitutional Government of India discussed at the Round Table Conference. Of the scheme there outlined, Federation is an essential part. So also are Indian Responsibility and reservations or safeguards in the interest of India, for such matters as, for instance, Defence, External affairs, the position of Minorities, the financial credit of India, and the discharge of obligations."

उत्तरः—जरूर होगा। क्योंकि यह धारा करॉंची कांग्रेस में ऐसा प्रस्ताव करने में बाधक नहीं हो सकती। यही नहीं, बल्कि मैंने इस बात को तय करा लिया है कि आगामी गोलमेज परिषद् में स्वतंत्रता की माँग पेश करने में कोई बाधा न होगी। समझौता मंजूर करने से पहले इस विषय में मैंने इस स्थिति को अच्छी तरह खोल दिया था और अपनी स्थिति भी साफ कर दी थी।

प्र०ः—क्या आप प्रस्तुत संरक्षणों व प्रतिबंधों को मान लेंगे ?

उ०ः—इस सम्बन्ध में कांग्रेस की स्थिति सारे संसार पर प्रकट है और समझता हूँ कि जो लोग आज कांग्रेस को परिषद् में निमंत्रण दे रहे हैं, उन्हें मालूम ही होना चाहिए कि कांग्रेस क्या चाहती है। कांग्रेस की स्थिति को भरसक स्पष्ट करने का मैंने अपनी ओर से प्रयत्न किया है और अब भी ब्रिटिश सरकार के लिए मार्ग खुला हुआ है कि वह कांग्रेस को निमंत्रण न दे। इस समझौते में यह शर्त नहीं है कि कॉंग्रेस को गोलमेज परिषद् में जाना ही चाहिए।

प्र०—नये विधान में कुछ बंधन लगाना आप मंजूर करेंगे ?

उ०—हाँ, जो बंधन वाजिब व वांछनीय होंगे, मैं जरूर मंजूर करूँगा। अल्पसंख्यकों का ही सवाल लीजिये। यदि हम इस बात को नहीं मानेंगे कि अल्प संख्यकों का हित हमारे हाथ में एक पवित्र धरोहर है तो हम इस महान् राष्ट्र के ध्येय को सार्थक न कर सकेंगे। मैं इसे एक न्यायपूर्ण संरक्षण मानूँगा।

प्र० :—फौज और आर्थिक प्रतिबंधों के संबंध में आपकी क्या राय है ?

उ० :—आर्थिक व्यवस्था के बारे में कहना हो तो कर्ज को लीजिए। सरकार पर अगर कर्ज हो तो उसकी कुछ जिम्मेदारी लेनी ही पड़ेगी। इस अंश तक देश की साख पर व उसकी वृद्धि पर कुछ बंधन स्वीकार करना मेरा कर्तव्य है। फौज के संबंध में मुझे यही बंधन सूझता है कि हिन्दुस्तान की रक्षा के लिए जो ब्रिटिश सैनिक हमें दरकार होंगे उनके वेतन की जिम्मेदारी लेना और ऐसी ही किसी तरह की दूसरी बात का जिम्मा लेना मेरी समझ में आ सकता है।

प्र० :—पूर्ण स्वराज्य की आपकी क्या तसवीर है ?

उ० :—मैं तो आकाश में उड़ने वाला आदमी हूँ। इसलिए मैं तो ऐसे कई 'मनोराज्य' किया करता हूँ। 'पूर्ण-स्वराज्य' पूर्ण-समानता का विरोधी नहीं बल्कि आधार है। सर्व-साधारण का दिमाग इस समानता को सहसा नहीं समझ सकता। समानता से मेरा तात्पर्य है कि सरकारी-कार्य का केन्द्र डाउनिंग-स्ट्रीट होने के बजाय दिल्ली हो। मित्रों का कहना है कि संभव है इंग्लैंड इस स्थिति के लिए राजी न हो।

ब्रिटिश लोग व्यावहारिक आदमी हैं; जिस प्रकार वे अपनी स्वतंत्रता से प्रेम करते हैं उसी प्रकार दूसरों को स्वतंत्रता देना उसी स्वातंत्र्य-प्रेम का अगला कदम है। मैं जानता हूँ कि भारत के लिए मैं जो समानता चाहता हूँ उसके दे देने का जब समय आवेगा, तो वे यही कहेंगे कि यह तो हम हमेशा से चाहते थे। ब्रिटिश लोगों में अपने आपको भ्रम में रखने की जैसी खूबी है वैसी और किसी राष्ट्र में नहीं। मेरे विचार से निश्चय ही समानता का तात्पर्य है संबंध—विच्छेद के अधिकार काफी होना।

इस तरह अर्थ-व्यवस्था, संरक्षण और परराष्ट्रीय राजनीति या वैदेशिक मामले और जब चाहें तब साझेदारी छोड़ देने का अधिकार यह स्वतंत्रता का या पूर्ण स्वराज्य का सार है, यह महात्मा गांधी का और आज की कांग्रेस का मत है। स्वतंत्रता का यह सार प्राप्त करने के लिए ही कांग्रेस की लड़ाई जारी है और इसका अन्त भी इनके प्राप्त हो जाने पर ही हो सकेगा। इस मुलाकात के थोड़े ही दिन बाद करांँची में कांग्रेस का अधिवेशन हुआ। इस अधिवेशन में उपर्युक्त अर्थवाला प्रस्ताव हुआ और यह तय हुआ कि म० गांधी राष्ट्र के प्रतिनिधि के रूप में द्वितीय गोलमेज परिषद् में जाँय, जिसके अनुसार वे १९३१ के अंत में इंग्लैण्ड गये। जाने के पहले गांधी-अरविन-समझौते के मुताबिक लड़ाई स्थगित हो गयी थी और सारे राजनैतिक कैदी छोड़ दिये गये थे। सत्याग्रह की लड़ाई का मुकाबला करने के लिए निकाले आर्डिनेन्स रद किये गये, मुकदमे उठा लिये गये व जो जुर्माना भरा नहीं गया था वह माफ हो गया, जब्त हुआ माल असबाब जो सरकार के पास था वापस कर दिया गया, जब्त जमीनें वापस कर दी गयीं। जिस जगह नमक बनता हो वहाँ के आसपास के लोगों को घरू खर्च के लिए बिना कर दिये नमक

ले सकने का अधिकार दिया गया। यह तय किया गया कि स्वदेशी को उत्तेजन देने के लिए धरना देना तो जारी रक्खा जाय, सिर्फ इंग्लैण्ड में बनी चीजों का बहिष्कार करना बन्द कर दिया जाय। इसके व शराब-बन्दी के लिए धरना दिया जाय लेकिन वह पूर्ण शान्तिमय हो। गाँधी अरविन-समझौते की इन सारी शर्तों पर अमल किये जाने के बाद ही गाँधी जी द्वितीय गोलमेज परिषद् के लिए विलायत गये।

गाँधी-अरविन समझौते का काँग्रेस के और काँग्रेस द्वारा की गयी निःशस्त्र क्रान्ति के इतिहास में बड़ा महत्त्वपूर्ण स्थान है। आधुनिक भारत के इतिहास में यह एक अपूर्व बात थी कि काँग्रेस का आन्दोलन बन्द करने के लिए साम्राज्यशाही को काँग्रेस के नेताओं से बराबरी का व्यवहार करना पड़ा। इसी एक बातपर से ब्रिटिश राजनेताओं ने इस ठहराव के द्वारा अप्रत्यक्ष रूप से यह भी मान लिया कि काँग्रेस ही हिन्दुस्तान की एक मात्र प्रतिनिधि-संस्था है और अन्त में स्वराज्य के प्रश्न का भी उसी से समझौता करना पड़ेगा। दूसरी गोलमेज परिषद् में महात्मा गांधी कांग्रेस के एकमात्र प्रतिनिधि बनकर गये थे और महात्माजी ने परिषद् के अपने पहले भाषण में ही यह कह दिया था कि मैं उस महान् संस्था का एकमात्र प्रतिनिधि हूँ जिसने अपने पराक्रम से यह साबित कर दिया है कि उसे सारे भारत की जनता की तरफ से विदेशी शासकों के साथ सुलह-समझौते का अधिकार प्राप्त है। अतः यदि भारतवर्ष से सन्धि करना हो तो वह मेरे मार्फत ही करनी चाहिए। उसके बाद उन्होंने अपनी सारी शक्ति संरक्षण व वैदेशिक विषयों पर ही केन्द्रित की। इस लिए उन्होंने बताया कि जबतक यह स्वतंत्रता का सार देना आप मंजूर न करेंगे तबतक मैं किसी तरह समझौता मंजूर नहीं कर सकता।

पहले मांटेगू-सुधारों के अवसर पर समझौते की जो नीति लोकमान्य ने अंगीकार की थी उसका परिणत रूप महात्माजी की यह वर्तमान नीति है ऐसा कहना अनुचित न होगा। संक्षेप में महात्माजी का यह कहना था कि पहले तुम यह मान लो कि आज से हम अपने घर के मालिक हो चुके, फिर यह सुझाओ कि अब इस घर में तुमको कितने दिनों तक किस तरह रहना है तो इसके बारे में समझौता किया जाय। इसकी तजवीजें व

सुझाव रक्खो। तब हम यह देख लेंगे कि हमारे हित की दृष्टि से वे हमें मंजूर हो सकते हैं या नहीं। लेकिन आज से ही दूसरे देशों के बराबर स्वतंत्र राष्ट्र के तौर पर हिन्दुस्तान को मानने व ब्रिटेन के साथ साझेदारी के उसके दरजे को स्वीकार करने की भूमिका पर समझौता करने के लिए ब्रिटिश राजनेता तैयार नहीं थे और इधर महात्माजी इस धरातल को छोड़कर अपने देश की स्वतंत्रता का सस्ता सौदा करने के लिए तैयार न थे। इसीसे दूसरी गोलमेज परिषद् विफल हुई और उन्हें वहीं पता लग गया था कि हिन्दुस्तान जाने पर फिर कोई सत्याग्रह किये बिना गति नहीं है। हाँ, उनके यहाँ लौटते ही अगर उन्हें यह न दिखाई दिया होता कि नौकरशाही ने बाद में गांधी-अरविन समझौता तोड़ दिया है और उस टूट को फिर से साधने की बातचीत भी करने के लिए हम तैयार नहीं हैं, ऐसा रूखा जवाब लार्ड विलिंग्डन ने महात्माजी को न दिया होता तो महात्माजी विलायत से आते ही सत्याग्रह शुरू न करते, संगठनात्मक व विधायक कामों में कुछ समय लगाते। लेकिन जनवरी १९३२ में दूसरी गो०मे० परिषद् से लौटकर महात्माजी जो यहाँ आते हैं तो क्या देखते हैं कि बंगाल, युक्तप्रान्त और सीमाप्रान्त में दमन-चक्र चल गया है, सुभाष बाबू, जवाहरलालजी व खान अब्दुल गफ्फार खान आदि कांग्रेस-नेताओं को सरकार ने गिरफ्तार कर लिया है। ऐसी स्थिति में भी महात्माजी ने लार्ड विलिंग्डन से समझौते के लिए तार द्वारा मिलने की इच्छा प्रदर्शित की, परन्तु वह ठुकरा दी गयी। इसका कारण यह था कि यहाँ की नौकरशाही चाहती थी कि गांधी-अरविन-समझौते के कारण कांग्रेस की जो एक तरह की प्रतिस्पर्धी राज्य-संस्था की-सी स्थिति बन गयी थी उसे बदल कर कांग्रेस व उसके नेताओं पर हाथ सफा किया जाय व इंग्लैंड का नवीन ब्रिटिश मंत्रिमंडल व भारतमंत्री सर सेम्युअल होर उनकी पीठ ठोंकने के लिए तैयार थे। यहाँ के अधिकारी उन्हें सब्ज बाग दिखा रहे थे कि कांग्रेस को एक-दो महीने में ही खतम कर देंगे व महात्माजी के आत्म-बल की कलई थोड़े ही दिनों में खोलकर दिखा देंगे। तदनुसार जनवरी १९३२ में ही लार्ड विलिंग्डन की सरकार ने कांग्रेस पर धावा बोल दिया। लेकिन आशा के अनुसार दो महीने

में कांग्रेस खतम नहीं हुई। आर्डिनेंस की छः महीने की मीयाद भी खतम हो गयी तब भी कांग्रेस नहीं हारी। उसकी सब संस्थाएं गैर कानूनी कर दी गयीं, तो भी उसका काम बन्द नहीं हुआ और खुद दिल्ली में उसका बेकायदा अधिवेशन सफलता के साथ हुआ। तब जो काम ब्रिटिश सरकार की अतुल दमन-शक्ति से न हो सका उसे भेदनीति से सफल करने की शुरूआत धीरे धीरे हुई।

गांधी-अरविन समझौते के बाद से करीब-करीब ऐसी ही स्थिति बन गयी थी कि भारतीय जनता की तरफ से किसी भी शासन-विधान को मंजूर करना हो तो वह कांग्रेस ही करे। मगर जिस तरह ब्रिटिश राजनेता इस स्थिति को मानने के लिए तैयार नहीं थे उसी तरह हमारे देश के कांग्रेस-बाह्य दूसरे दल भी तैयार नहीं थे। वे कहने लगे—कांग्रेस की तरह हमारा भी एक दल है, तब हम क्यों न सरकार से सुलह-समझौता करें यदि कांग्रेस इसके लिए तैयार नहीं है। गांधीजी की तरह हम भी विलायत जा सकते हैं, हम भी विधान-शास्त्र के पण्डित हैं और शायद उनसे तो अधिक ही हैं, उनकी तरह हम भी व्याख्यान दे सकते हैं। तब हम अपने मनोनुकूल विधान इंग्लैंड से लाकर हिन्दुस्तान के मत्थे क्यों नहीं मार दें? लेकिन इस विचार सरणि में दो दोष हैं—एक तो यह कि जो शासन-विधान हिन्दुस्तान में लागू होगा उसके लिए इतने ही से काम नहीं चलेगा कि वह थोड़े लोगों के मनोनुकूल हो। वह तो समूचे राष्ट्र के मनोनुकूल होना चाहिए और राष्ट्र की मनोदेवता को समझाने की जितनी शक्ति महात्मा गांधी के पास थी उतनी तीसरी गो० मे० परिषद् में गये किसी भी नेता के पास नहीं थी, बल्कि सारे नेता-मण्डल के पास भी नहीं थी। एक वक्ता ने तो उस समय आम सभा में कह दिया था कि कांग्रेस व महात्मा गांधी को जेल में ठूँसकर जो नेता विलायत गये हैं उनकी कीमत राष्ट्रीय प्रतिनिधि के तौर पर शून्य से अधिक नहीं है। अगर महात्मा गांधी रूपी अंक पर ये बिन्दियाँ लगायीं होती तो अलबत्ते इनकी कीमत हुई होती; परन्तु उस अंक के अभाव में इन सब की मिलकर कीमत एक सिफर के बराबर ही थी। फिर महात्मा गांधी की कीमत भी उन अकेले के व्यक्ति-माहात्म्य पर नहीं बल्कि उनके पीछे

सारे राष्ट्र का जो संगठित आत्मबल अर्थात् सत्याग्रही राष्ट्र सभा कांग्रेस थी, उस पर अवलम्बित था। जब तक हम राष्ट्रीय राजनीति का यह पाठ न पढ़ लेंगे तब तक ब्रिटिश साम्राज्य से पूर्ण स्वराज्य के अधिकार माँग या छीन नहीं सकेंगे। फिर भी कांग्रेस को वैसे ही जेल में पड़ी रहने देकर हिन्दुस्तान के वे ५–२५ राजनीतिज्ञ, जो अपने को व्यवहार-दक्ष कहलाते थे, १९३२ के अन्त में तीसरी गोलमेज परिषद् में गये थे। उनमें से हरएक ने यह जाहिर किया था कि हम किसी के प्रतिनिधि की हैसियत से नहीं बल्कि निजी तौर पर जा रहे हैं; मानों बाल्डविन या मैक्डोनल्ड सा० के घर से उन्हें किसी शादी में आने का निमंत्रण मिला हो! और जिस तरह निमंत्रित भिक्षुकों को जजमान भोजन कराके विदा कर देता है उसी तरह सर सेम्युअल वगैरः ब्रिटिश राजनेताओं ने स्वराज्य की दक्षिणा मिलने की आशा से निजी तौर पर गये हुए इन भिक्षुकों को हाथ हिलाते हुए सूखा घर लौटा दिया! अलबत्ते इससे सर सेम्युअल प्रभृति ब्रिटिश राजनीतिज्ञों को यह भ्रम पैदा हो गया कि जब कि कांग्रेस को छोड़कर हमारे बुलाने से इतने राजनीतिज्ञ इंग्लैंड आ सकते हैं तो किसी भी शासन-विधान को चलाने के लिए चाहे जितने दल व नेता हमें मिल जायँगे या बनाये जा सकेंगे। इससे यह भी साफ मालूम हो गया कि जब तक उनका यह भ्रम दूर न होगा तब तक कांग्रेस व हिन्दुस्तान को पूर्ण स्वराज्य भी न मिल सकेगा। ब्रिटिश लोग विदेशी हैं और उनसे संधि-विग्रह करने का अधिकार जब तक एक ही संस्था को न मिलेगा तब तक हमें स्वराज्य नहीं मिल सकता यह पाठ हमारे नरम दल के नेता और लोकमान्य के नाम पर चलने वाला लोकशाही पक्ष अब भी नहीं सीख रहा है।

तीसरी गोलमेज परिषद के बाद पार्लमेंट की सिलेक्ट कमेटी बनी और उसका बनाया विधान १९३५ में 'गवर्नमेंट ऑफ इण्डिया एक्ट' के नाम से क़ानून बन गया। इस दर्म्यान महात्माजी ने पहले तो सामुदायिक सत्याग्रह बन्द किया और कुछ महीने बाद व्यक्तिगत सत्याग्रह भी बन्द कर दिया। सत्याग्रह बन्द कर देने के बाद १९३४ में धारा सभा पर से बहिष्कार उठा लिया गया और कांग्रेस ने अपने नियंत्रण में

धारासभा के काम के लिए एक महकमा खोला। १९२४ में जब से महात्माजी और देशबन्धु दास में समझौता होकर कांग्रेस को यह अनुभव हुआ कि धारा-सभा के अन्दर का कार्य व बाहर का विधायक कार्य करने वाले दोनों दल भावी लड़ाई की पेशबन्दी में बहुत सहायक होते हैं तभी से महात्मा गांधी ने दोनों दल वालों को ऐसे ढर पर चला दिया था कि आपस में विरोध न करते हुए परस्पर सहयोग से रहें और भावी लड़ाई की तैयारी करें। फिर भी १९३० का सत्याग्रह शुरू होने तक दोनों दलों का दिल मिला नहीं था मगर १९३० व ३२ के सत्याग्रह-संग्रामों में दोनों का दिल एक हो गया और वे महसूस करने लगे कि हम दोनों कांग्रेस के दो हाथ हैं अतएव आज दोनों मिलकर महात्मा गांधी के नेतृत्व में अनुशासन के साथ कार्य करें। इधर पं० जवाहरलाल जी ने १९३० में जिस समाजवादी मनोवृत्ति का बीज कांग्रेस में बोया था वह अंकुरित हुआ और 'कांग्रेस सोशलिस्ट पार्टी' के नाम से एक तीसरा दल भी बन गया था परन्तु उसे भी सब दलों के साथ मेल से व कांग्रेस के अनुशासन में रहकर काम करने की नीति मंजूर थी। फिर वह यह समझता है कि कांग्रेस के सामने आज निकटवर्ती प्रश्न समाजवाद की स्थापना का नहीं, पूर्ण स्वराज्य की प्राप्ति का ही है। इससे कांग्रेस के अन्दर रह कर वह अपनी वृद्धि कर रहा है और हम समझते हैं कि इस दल की बढ़ती से कांग्रेस के भावी विकास में सहायता ही मिलेगी।

१९३४–३५ में केन्द्रीय असेम्बली के नये चुनाव होनेवाले थे। उस समय कॉंग्रेस के सामने मुख्य कार्यक्रम यही था कि उन चुनाओं में भाग लेकर यह दिखा दिया जाय कि होर साहब के संकल्पित सुधार राष्ट्र को मंजूर नहीं हैं। वे प्रागतिकों को भी पसंद नहीं थे। परन्तु उन्हें नामंजूर करने की नीति को खुल्लमखुल्ला स्वीकार करने के लिए वे तैयार न थे। लोकशाही दल भी इसके मुआफिक नहीं था। इन दल वालों का यह खयाल था कि १९३२ के सत्याग्रह में कॉंग्रेस की शिकस्त हो गयी इससे अब देश असेम्बली के चुनाव में उसका साथ नहीं देगा। इधर कांग्रेस ने यह घोषणा की कि सुधारों को ठुकरा कर जबतक पूर्ण स्वराज्य न मिले तबतक लड़ाई जारी रक्खी जायगी व बंबई के अधिवेशन में यह राष्ट्रीय

मांग तय की गयी कि पूर्ण स्वराज्य की योजना ऐसी विधान-परिषद् के द्वारा बनायी जाय, जो बालिग मताधिकार द्वारा चुनी गयी हो। अर्थात् असेम्बली का चुनाव कॉंग्रेस ने इन मुद्दों पर लड़ा—(१) नया विधान ठुकरा दिया जाय, व (२) आत्मनिर्णय के सिद्धान्त के अनुसार विधान-सभा के द्वारा पूर्ण स्वराज्य प्राप्त किया जाय। खुद सिलेक्ट कमेटी की रिपोर्ट में ही यह साफ-साफ कहा गया है कि होर-सुधार प्रागतिकों की मांग से भी बहुत कम हैं। फिर भी उसके लेखकों ने यह आशा प्रकट की कि हिन्दुस्तान के लोग इन सुधारों को मान लेंगे और इसकी नींव पर स्थायी शासन-व्यवस्था कायम की जा सकेगी। उनकी दलील यह थी कि हिन्दुस्तान में एक ऐसा मध्यस्थ लोकमत निर्माण हो गया है कि उसके बल पर यह विधान स्थापित किया जा सकेगा, भले ही कुछ दुराराध्य लोग न मानें। कहना नहीं होगा कि ये मध्यस्थ लोग और कोई नहीं, राजा-महाराजा, बड़े पूँजीपति व जमींदार तथा हिन्दू-मुसलमानों के साम्प्रदायिक या जातिनिष्ठ नेता थे। गोलमेज परिषद् में एकत्र इन लोगों के आश्वासनों के भरोसे ब्रिटिश राजनेताओं ने १९३५ में शासन-विधान का कानून हिन्दुस्तान पर लादने का निश्चय कर लिया। अब कांग्रेस के सामने मुख्य प्रश्न ही यह था कि इस विधान को ठुकरा कर स्वयं निर्णीत स्वराज्य-विधान प्राप्त किया जाय। इस कानून के पास होने के पहले असेम्बली के नये कांग्रेसी सदस्यों ने व जिना साहब के मुसलमान-दल ने मिलकर इन सुधारों को ठुकरा देने का प्रस्ताव पास कर दिया। तब सर सेम्युअल होर ने पार्लमेंट में कहा कि असेम्बली में ऐसा प्रस्ताव पास हो गया तो क्या हुआ, प्रान्तों के नेता उसे चलाने के लिए तैयार हैं और इन सुधारों का असली दारोमदार तो प्रान्तीय कौन्सिलों पर ही है। इस समय प्रान्तिक कौन्सिलों में कांग्रेस-विरोधी अ-राष्ट्रीय लोग भरे हुए थे और सर होर जैसों को यह उम्मीद थी कि नवीन कौन्सिलों में कांग्रेस-दल के लोगों का बहुमत न होगा, या नौकरशाही अपनी तरकीबें लड़ाकर कांग्रेस का बहुमत न होने देगी। पर बात यह है कि ये कांग्रेस-विरोधी दल दो तरह से ब्रिटिश राजनेताओं को भुलावे में डालते रहते हैं। पहले तो वे उन्हें यह बताते हैं कि कांग्रेस की लड़ाकू नीति लोगों

को जँचेगी नहीं व लोग उसका साथ नहीं देंगे। कई बार उनका यह अन्दाज गलत साबित हुआ; फिर भी वे बार बार यह कहते नहीं चूकते। फिर दूसरा भुलावा यह देते हैं कि कांग्रेस जो लड़ाई की भाषा बोलती रहती है उसमें कुछ दम नहीं है, कोरी धमकियाँ हैं। कांग्रेस के नेता लोगों को झांसा देने के लिए झूठमूठ ऐसी भाषा बोलते रहते हैं। मगर इन कांग्रेस-विरोधियों को यह बात याद रखनी चाहिए कि स्वराजपार्टी के आह्वान को भी वे 'कोरी धमकियाँ' कहा करते थे; पर आखिर को कांग्रेस ने इतने जोर का आन्दोलन चलाया था कि १९३० के अन्त में सरकार को उससे समझौता करने पर मजबूर होना पड़ा था।

अब नवीन विधान के प्रान्तिक स्वराज्य का भाग स्थापित हो चुका है व ११ में से ७ प्रान्तों में कांग्रेस मन्त्रिमण्डल जनता के बहुमत के बल पर प्रत्यक्ष शासन कर रहे हैं व कांग्रेस विधान को नामंजूर करने व आत्मनिर्णय के सिद्धान्तानुसार विधान-सभा के द्वारा पूर्ण स्वराज्य का नवीन विधान बनाने की भाषा उतने ही बल व निश्चय के साथ बोल रही है। यदि इसमें वह सफल न हुई तो उसने अब तक जो निःशस्त्र क्रान्ति-वादी तंत्र, शास्त्र, व तत्वज्ञान देश के सामने रक्खा है, वह सफल हुआ नहीं माना जायगा और फिर, सम्भव है, राष्ट्र को अपनी आजादी के लिए किसी दूसरे ही तंत्र, शास्त्र व तत्वज्ञान का अवलम्बन करना पड़े। इस समय देश के सामने एक दूसरा तंत्र, शास्त्र व तत्वज्ञान (कम्यूनिज्म) वैज्ञानिक क्रान्ति के शास्त्र के रूप में आने लगा है और जिन लोगों का विश्वास अहिंसात्मक क्रान्ति-शास्त्र पर नहीं है वे धीरे-धीरे बहुत-कुछ उसी का अवलम्बन करने लगे हैं। आज तो देश जिस लड़ाई में लगा हुआ है उसका स्वरूप राष्ट्रीय है। १९१९ के सुधार-कानून के बाद यह लड़ाई शुरू हुई है और एक खास तत्वज्ञान व क्रान्तिशास्त्र के अनुसार एक अलौकिक, असामान्य विभूति के नेतृत्व में चलती आ रही है। अबतक जिन नेताओं ने इस लड़ाई का सञ्चालन किया, जिस कांग्रेस के द्वारा और जिस जनता के बल पर वह लड़ी गयी उसका निःशस्त्र क्रान्ति-वादी तत्वज्ञान पर विश्वास कायम है, यही नहीं बल्कि बढ़ता जा रहा है और उसे यह आत्मविश्वास हो रहा है कि इसी के द्वारा हम पूर्ण स्वराज्य

क शिखर तक पहुँच जावेंगे व १८ साल के इस स्वराज्य-संग्राम में विजयी होकर संसार की संस्कृति और भारत की कीर्ति में अपूर्व वृद्धि करेंगे।

इस आत्मविश्वास के बीज आधुनिक भारतीय इतिहास के अंकुरित होने के पहले ही भारतवासियों के हृदय में बोये गये दिखायी देते हैं। यह इतिहास १८१८ से, अर्थात् जिस समय मराठों की राजधानी पूना को अंग्रेजों ने सर किया व भारत माता का तिलक पोंछ डाला, उसी समय बंगाल का सर्वांगीण सुधार राजा राममोहन राय के आन्दोलन के रूप में शुरू हुआ। राम मोहन राय ने यह जान लिया था कि भारत जैसा विशाल देश जहाँ एक बार जाग्रत व प्रबुद्ध होकर यह समझने लगा कि आधुनिक दुनिया में मैं पिछड़ा हुआ हूँ और उसने अपनी संस्कृति को समझ लिया तो उसे गुलाम बनाये रखने की शक्ति अंग्रेजों के पास नहीं है। उनका यह भी खयाल था कि हम लगभग १०० साल में इतना सुधार कर लेंगे और तब हमारी एकीकृत शक्ति इतनी बढ़ जायगी कि समानता का दर्जा प्राप्त करने-संबंधी हमारी कोई भी मांग ब्रिटिश नामंजूर न कर सकेंगे। इसी तरह जिन अँग्रेज सेनापतियों व राजनेताओं ने हिन्दुस्तान को जीता वे भी जानते थे कि हम नहीं बल्कि खुद हिन्दुस्तान ही हिन्दुस्तान को सर कर रहा है अर्थात् हम विजेता व हिन्दुस्तान विजित ऐसी स्थिति नहीं है बल्कि अज्ञान व मोह से आज हिन्दुस्तान हमारा गुलाम बन रहा है एवं इस सत्य का ज्ञान होते ही वह एक क्षण के लिए भी हमारी गुलामी बर्दाश्त न करेगा। हम लाख डेढ़ लाख लोग ४० करोड़ लोगों के खण्ड तुल्य विशाल राष्ट्र को सदा के लिए दासता की बेड़ियों में जकड़ कर नहीं रख सकते। हिन्दुस्तानी चाहे उस समय इस बात को न जानते हों, परन्तु जिन अंग्रेजों ने हिन्दुस्तान को कब्जे में किया वे अच्छी तरह जानते थे।

१८ वीं सदी के अन्त में भारत में जो हिन्दू-मुसल्मान राज्य मौजूद थे उनमें मराठों का, निजाम का, व हैदर—टीपू का मैसोरे ये तीन स्वदेशी राज्य प्रबल थे व तीनों के स्वीकृत सामर्थ्य को पराभूत करने का बल अंग्रेजों में नहीं था। इतना ही नहीं इन तीनों में से एक को भी, दूसरे के सहयोग के बिना, जीतना आसान नहीं था। लेकिन ये राज्य एक दूसरे

के खिलाफ अँग्रेजों की मदद कर रहे थे। बल्कि राज्य का प्रत्येक विभाग दूसरे को जीतने के लिए विदेशियों की सहायता करने को उत्सुक था। मराठों का राज्य नाम को था। सिंधिया, होलकर, पेशवा, भोंसले, पटवर्धन, गायकवाड़, ये उसके पाँच-छः टुकड़े हो गये थे। इन्हें एक करने की भी क्षमता उस समय हिन्दुस्तान में नहीं थी। एक शब्द में कहें तो हिन्दुस्तान में एक राष्ट्रीयता नहीं थी और उसके हिन्दू-मुसल्मान राज्य सामन्तशाही से तितर-बितर हो रहे थे। यदि राष्ट्रीयता व जनतंत्र का उदय हुआ होता तो हिन्दुस्तान उसी समय स्वतंत्र हो गया होता। अथवा स्वतंत्र रह गया होता। पिछले सौ सालों में गुलामी के घोर नरक का जो अनुभव भारत को हुआ है और उसी गुलामी की बदौलत प्राप्त दरिद्रता के महा नरक की अनंत यातनाओं का जो अनुभव आज हो रहा है, उसके कारण दादाभाई नौरोजी, लो० तिलक व म० गांधी ने हिन्दुस्तान को राष्ट्रीयता व लोकशाही–जनतंत्र–का शिक्षण देने के लिए जिस कांग्रेस की स्थापना की उसके झण्डे को नीचे भारत एक हो रहा है तथा निःशस्त्र होने पर भी ब्रिटिश साम्राज्यशाही के खिलाफ क्रान्ति का बिगुल बजाकर स्वतंत्रता-स्थापन के लिए तैयार हो रहा है। संसार की राजनीति में आज ब्रिटिश साम्राज्य गिर रहा है और भारतीय राष्ट्र की रात्रि बढ़ रही है। १९ वीं सदी के प्रारम्भ की यह स्थिति कि ब्रिटिश राष्ट्र की संस्कृति मानव-संस्कृति को आगे ले जाने वाली शक्ति है, अब नहीं रही है व यह साबित हो रहा है कि ब्रिटिश व योरपीय संस्कृति संसार की प्रतिगामी शक्ति है। अंग्रेज जो यह समझ रहे थे कि प्रजातंत्र व राष्ट्रीयता का पाठ पढ़ाने के लिए हिन्दुस्तान में हमारा अवतार हुआ है और जिसे हम भी सत्य मान रहे थे उसी पर अब हिन्दुस्तान से यह सीखने की नौबत आरही है कि प्रजातंत्र की राष्ट्रीयता को कैसे कायम रक्खा जाय।

हिन्दुस्तान की बढ़ती हुई राष्ट्रीय भावना के प्रान्तीय स्वराज्य की देन के रूप में अनेक टुकड़े करके एवं संघ-राज्य की स्थापना से पैदा होने वाले प्रजातंत्र को सामन्तशाही व पूँजीवाद के सहयोग या सहायता से नष्टभ्रष्ट करने को कुटिल षड्यन्त्र ब्रिटिश राजनीतिज्ञों ने गोलमेज परिषद् में रचा था। परन्तु कांग्रेस ने इन सब प्रान्तिक राज्यों को अपनी राष्ट्रीय

भावना के सूत्र में बाँधकर उसे विफल करने का प्रयत्न चालू रक्खा है। प्रान्तिक स्वराज्य में भी प्रजातन्त्र के नाम पर धनिक-सत्ता स्थापित करने की ब्रिटिश राजनीतिज्ञों की चाल को मान करके कांग्रेस ने वास्तविक प्रजातन्त्र कायम रखने के लिए आवश्यक अहिंसा का वातावरण पैदा किया व इस अहिंसावाद के क्रान्तिकारी होने के कारण कांग्रेस के प्रान्तिक स्वराज्य में निःशस्त्र क्रान्ति की शक्ति बढ़ रही है। इस तरह राष्ट्रीयता, प्रजासत्ता एवं इन दोनों के परिपोप व परिणति के लिए आवश्यक अहिंसात्मक क्रान्तिवाद आज सारे हिन्दुस्तान में फैल रहा है। इस क्रान्तिवाद की शक्ति ब्रिटिश भारत की सीमा को लाँघ कर अब देशी-रियासतों में भी संचार कर रही है। भारतीय संघ-राज्य का जन्म विलायत में ब्रिटिश राजनेताओं के कुटिल षड्यन्त्र के द्वारा नहीं हुआ, बल्कि उन षड्यन्त्रों को विफल बनाने के लिए हिन्दुस्तान में जो सत्याग्रही क्रान्तिशक्ति निर्माण हुई है उसके प्रभाव से होनेवाला है। यही आधुनिक भारत है। इस आधुनिक भारत ने १९२० से अंग्रेजी साम्राज्यवाद के मुकाबले में जो सत्याग्रह-संग्राम छेड़ रक्खा है उसका वर्णन थोड़े में इस प्रकरण में किया है। इस संग्राम में विजय मिलने का समय अब नजदीक आ रहा है। संसार की रंगभूमि पर एक स्वतंत्र राष्ट्र के रूप में जो यह आधुनिक भारत प्रवेश करने वाला है उसका सांस्कृतिक रूप कैसा होगा व मानव-संस्कृति में कौन सी बहुमूल्य वृद्धि करने का महत्कार्य उसे करना है इसका वर्णन अगले दो प्रकरणों में करके इस ग्रन्थ को हम समाप्त करेंगे।

: ११ :

सत्याग्रही राष्ट्रीय क्रान्तिशास्त्र

सत्याग्रह एक राष्ट्रीय क्रान्तिशास्त्र है। उसी तरह वह सर्वांगीण क्रान्तिशास्त्र व समाज-संगठन-शास्त्र अथवा समाज-धारणा-शास्त्र भी है। भारतीय संस्कृति का वह एक परिपक्व फल है। हिन्दुस्तान आज एक राष्ट्रीय क्रान्ति के कार्य में मग्न है। इस क्रान्ति का तात्कालिक ध्येय राष्ट्रीय स्वातन्त्र्य और लोकशाही-प्रजातंत्र की स्थापना है। हिन्दुस्तान में राष्ट्रीय

स्वतंत्रता की लड़ाई महात्मा गांधी के नेतृत्व से पहले ही शुरू हो चुकी थी। हिन्दुस्तान एक गुलाम देश है और जबतक वह आजाद नहीं हो जाता तबतक उसके जीवन का व संस्कृति का प्रश्न हल नहीं हो सकता। यह आजादी उसे प्रागतिकों के कानूनी साधनों से नहीं मिल सकती, अतः उसके लिए क्रान्ति के साधनों का अवलम्बन करना जरूरी है। यह सिद्धान्त हिन्दुस्तान के दिमाग में म० गांधी के हिन्दुस्तान में आने से व कांग्रेस के सूत्र उनके हाथों में जाने से पहले ही बैठ चुका था। बल्कि यह बात भी हिन्दुस्तान जान गया था कि यदि हम चाहें तो हमारे प्रयत्न से ही, और हमारे निःशस्त्र रहते हुए भी हम क्रान्ति कर सकते हैं। १९२०के पहले ही ऐसी स्थिति बन चुकी थी कि जबतक स्वयं निर्णय के सिद्धान्तानुसार पूर्ण स्वराज्य की स्थापना नहीं हो जाती तबतक यह झगड़ा किसी न किसी रूप में निरंतर चलता रहेगा। एंग्लो-जर्मन महायुद्ध में हिन्दुस्तान ने ब्रिटिश साम्राज्य को सहयोग दिया। यह सहयोग कांग्रेस की तबतक की प्रचलित नीति का ही फल था। उस सहयोग का फल महायुद्ध के बाद पूर्ण स्वराज्य के रूप में हिन्दुस्तान को मिलना चाहिए था, ऐसा लो० तिलक आदि राष्ट्रीय नेताओं का कहना था। १९१७ में भारतमंत्री मांटेगू साहब ने हिन्दुस्तान को किस्तों में स्वराज्य देने की जो घोषणा की उसके साथ ही काँग्रेस ने अपनी यह माँग पेश की थी कि हिन्दुस्तान को स्वराज्य चाहे किस्तों में मिले लेकिन पार्लमेंट ऐसा एक कानून ही बना दे जिसके द्वारा सेना व अर्थ की सारी सत्ता केन्द्रीय सरकार को मिल सके और उसी में यह खुलासा कर दिया जाय कि कब व किस तरह हिन्दुस्तान को स्वयं-निश्चित पूर्ण स्वराज्य मिल जायगा। इस बात को आज २० साल हो गये मगर अब भी यह माँग पूरी नहीं हुई है। महायुद्ध के बाद जब माण्टेगू साहब ने इस माँग को ठुकरा दिया तभी से काँग्रेस ने अपनी सहयोग नीति को छोड़ दिया।

इस तरह १९२० में काँग्रेस के इतिहास का सहयोग-खण्ड समाप्त हुआ। १९१७ तक उसकी बागडोर प्रागतिक नेताओं के हाथ में थी। तबतक उसकी नीति शुद्ध अथवा बिलाशर्त सहयोग की थी। उसी साल उसकी बागडोर लो० तिलक के हाथ में आयी व तब से उसकी नीति

प्रतियोगी सहकारिता या सशर्त सहकारिता की होगयी। जब १९२० में यह साबित हो गया कि ब्रिटिश साम्राज्य भारतीय राष्ट्रीयता के साथ सहयोग करने को तैयार नहीं है व १९१९ के जालियाँवाला बाग के हत्या-काण्ड पर लीपापोती करके 'भूल जाओ व क्षमा करो' की मायावी भाषा ब्रिटिश राजनेताओं ने शुरू की उसी समय प्रतियोगी सहकारिता की परिणति असहकारिता में होना लाजिमी होगया। इसी समय हिन्दुस्तान के मुसलमानों को भी, खिलाफत-प्रकरण में ब्रिटिश राजनेताओं द्वारा किये गये विश्वासघात के कारण, ब्रिटिश साम्राज्यवाद का कृष्ण अंतरंग साफ दिखाई दे दिया। इस समय हिन्दू व मुसलमानों की क्रान्तिकारी राष्ट्रीय भावना जाग्रत हुई व हिन्दू-मुसलमान जनता एक होकर विदेशी ब्रिटिश साम्राज्य-शाही से पूर्ण स्वराज्य की प्राप्ति के लिए सत्याग्रही क्रान्ति शास्त्र का अवलम्बन करके लड़ने लगी। १९२० से १९२२ तक ऐसा ही दृश्य दिखाई दिया।

इसके बाद इस क्रान्ति की प्रतिक्रिया के फलस्वरूप हिन्दू-मुसलमानों की एकता मिट गयी फिर भी, इसके बाद कॉंग्रेस ने आजादी की लड़ाई के जो दो सत्याग्रही मोर्चे किये उनमें मुसलमान जनता बहुत बड़ी तादाद में शामिल हुई थी; हालाँकि मुसलमानों के नेता कहे जानेवाले लोग ज्यादा शरीक नहीं हुए थे। खासकर सीमाप्रान्त का मुस्लिम प्रदेश व उसके मुसलमान नेता खान-बन्धु कॉंग्रेस का कार्य एक निष्ठा से कर रहे हैं। अस्तु, आज तक सत्याग्रही क्रान्ति के तीन प्रचण्ड प्रयोग इस देश में हुए व चौथा अपरिहार्य दीख रहा है। * ऐसी दशा में इस क्रान्ति-शास्त्र के तत्वज्ञान व अंतरंग की आवश्यक जानकारी कर लेना प्रत्येक स्वातन्त्र्यांकाक्षी भारतीय का कर्तव्य है।

लगभग २० साल से प्रचलित सत्याग्रह-संग्राम के फलस्वरूप अभिनव भारतीय संस्कृति उदय हो रही है। बल्कि उस मानव संस्कृति की प्राप्ति का एक अभिनव क्रान्ति-विज्ञान भी निर्माण हो रहा है। आज एक खास किस्म की लड़ाई के द्वारा सत्याग्रह-क्रान्तिविज्ञान या शास्त्र का जन्म हो रहा है। लेकिन इस विशिष्टता को उसका अन्तिम या नित्य स्वरूप

* इसके बाद अब प्रकारान्तर से चालू हो गया है। —अनुवादक

समझ लेना ठीक न होगा। उसी तरह यह मान लेना भी ठीक न होगा कि इस लड़ाई में फतह मिल जाने से राष्ट्रीय आजादी मिल जाने व प्रजातंत्र की स्थापना हो जाने से इसका काम पूरा हो गया। बल्कि विचारशील मनुष्य को तो यही कहना होगा कि हिन्दुस्तान में राष्ट्रीय स्वतंत्रता व प्रजातंत्र की स्थापना होने के बाद ही उसके मुख्य कार्य की–अर्थात् मानवी संस्कृति में एक अभिनव क्रान्ति करके उसको मंगल-रूप दिलाने के कार्य की–शुरूआत होगी। राष्ट्रीय भावना व प्रजातंत्र को सत्याग्रह की दीक्षा देने से उसका जो रूप बनेगा वह वर्तमान योरप में दिखाई देने वाली राष्ट्रीय भावना व प्रजातंत्र से बिलकुल भिन्न होगा। यदि उसका पूरा चित्र हमने समझ नहीं लिया है तो इस संसार में सफलता कठिन है। यही नहीं, बल्कि हमारा यह अभिमान भी गलत साबित होगा कि संसार के इतिहास में हमारा एक स्वतंत्र स्थान है और हमारे इतिहास से संसार कुछ सबक सीखेगा।

वर्तमान सत्याग्रह-संग्राम आधुनिक भारत के पिछले १०० साल के इतिहास का परिपक्व फल है। या यों कहें कि इस समय में भारतीय संस्कृति का जो तत्व-मन्थन हुआ उसमें से निकला अमृत है। यह इतना प्रभावकारी है कि इसके प्राशन से मानव-संस्कृति सचमुच अमर हो जायगी व उसके द्वारा इस भूलोक को 'अमरभूमि' नाम दिलाने व मानव-संस्कृति की प्रगति सत्ययुग की दिशा में करने का सामर्थ्य प्राप्त होगा। हाँ, यह जिम्मेदारी अलबत्ता आज के युवक भारत पर है कि वह अपने प्रत्यक्ष आचरण से यह साबित कर दे कि इस तत्वज्ञान या दर्शन को अंगीकार करने की पात्रता या अधिकार हमें हैं। इस जिम्मेदारी को वह अच्छी तरह निभा सके इसी उद्देश से आज की भारतीय क्रान्ति का व सत्याग्रही क्रान्तिशास्त्र का स्वरूप इस प्रकरण में समझाया जायगा।

सत्याग्रही-दर्शन को स्वीकार करने के पहले हिन्दुस्तान में दो राष्ट्र निर्माणकारी प्रमुख सम्प्रदाय मौजूद थे। उन्हें 'प्रागतिक' और 'राष्ट्रीय' नाम मिला हुआ था। इसके अलावा एक सशस्त्र क्रान्तिकारक संप्रदाय भी था। महात्मा गांधी का सत्याग्रही संप्रदाय तात्विक दृष्टि से इन तीनों सम्प्रदायों से भिन्न था। फिर भी इन तीनों के श्रेष्ठ तत्व उसमें आ गये

हैं, और हमारी राय में वह लोकमान्य तिलक जैसे राष्ट्रीय नेताओं के बहिष्कार-योग का अथवा निःशस्त्र क्रान्ति का वैज्ञानिक और परिणत स्वरूप है। अबतक इस अंतिम दृष्टिकोण का बहुत कुछ विवेचन हो चुका है। अब हम यह दिखावेंगे कि इस प्रागतिक तत्वज्ञान और सत्याग्रही तत्वज्ञान में कितना साधर्म्य है। साथ ही यह भेद भी दिखाना जरूरी है कि पहले वाले राष्ट्रीय नेताओं ने सशस्त्र क्रान्तिकारी मार्ग का अवलंबन क्यों नहीं किया व महात्मा गांधी क्यों नहीं कर रहे हैं? गांधी-पूर्व राष्ट्रीय नेता यह कहकर निःशस्त्र क्रान्ति का उपदेश करते थे कि सशस्त्र क्रान्ति वर्तमान समय में अशक्य है। इसके विपरीत महात्मा गांधी यह प्रतिपादन करते हैं कि वह मार्ग शक्य हो तो भी इष्ट-फल-प्राप्ति की दृष्टि से अबोधनीय है। इसी तरह पहले के बहिष्कार योग का असहकार योग में रूपान्तर करते हुए उन्होंने उसे अहिंसा-तत्व का आध्यात्मिक अधिष्ठान देकर एक अभिनव क्रान्तिशास्त्र का परिणामकारी रूप दे दिया है।

इस दृष्टि से अब हम पहले प्रागतिक संप्रदाय का अथवा उसके सिद्धान्त का विचार करें। जैसा कि पहले कहा गया है, इस सिद्धान्त का उद्गम बंगाल में राजा राम मोहन राय के सर्वांगीण सुधारवाद से हुआ है। जबतक हमारी संस्कृति की प्रगति योरपियन संस्कृति के बराबर नहीं हो जाती तबतक हमारा राष्ट्र दूसरे राष्ट्र के बराबर आजादी भोगने के लायक नहीं बन सकता। यह वे खुल्लमखुल्ला मानते थे और ब्रिटिश राज की छत्रच्छाया में हमारी संस्कृति के विकास का काम उन्होंने शुरू किया। वे हमारे धार्मिक और सामाजिक सुधारों पर ज्यादा जोर देते थे, राजनीति और औद्योगिक उन्नति पर कम। उनका खयाल यह था कि अंग्रेजों के आने के बाद से हमारी संस्कृति का आधुनिक युग शुरू हुआ है और आधुनिक यूरोप के व्यक्तिवादी धार्मिक, सामाजिक और राजनैतिक तत्वों का समर्थन करके उन्होंने भारतीय संस्कृति को पुनर्जीवित करने का प्रयत्न शुरू किया। लेकिन जब यह महसूस होने लगा कि ब्रिटिश साम्राज्य हमारी औद्योगिक उन्नति में बाधक हो रहा है, बल्कि उसका हमारे राष्ट्र का आर्थिक शोषण करने के लिए ही निर्माण हुआ है, इसलिए उसकी

छत्रच्छाया में हमारी संस्कृति का विकास कदापि नहीं हो सकता, जबतक हम पहले अपने देश की राज्य-सत्ता अपने हाथ में न लेंगे तबतक उसका विकास तो दूर उसकी रक्षा भी नहीं की जा सकती, बल्कि लोगों के जीवन की रक्षा असंभव है, तब सर्वांगीण सुधार के तत्वज्ञान में से ही प्रागतिक राजनीति का जन्म १८७५ ई० के आसपास दादाभाई नौरोजी व न्या० रानडे जैसे नेताओं के प्रयत्न से हुआ है। न्या० रानडे ने यह प्रतिपादन करना शुरू किया कि भारतीय अर्थशास्त्र के लिए इंग्लैंड के व्यक्तिवादी अर्थशास्त्र का आधार उपयोगी नहीं, बल्कि जर्मन व अमेरिका जैसे औद्योगिक प्रगति में पिछड़े हुए देशों के राष्ट्रीय अर्थशास्त्र का आधार होना चाहिए। इस प्रकार आधुनिक भारत के निर्माताओं की दृष्टि व्यक्तिवाद से हटकर राष्ट्रवाद की ओर जाने लगी।

न्या० रानडे ने यद्यपि आर्थिक राष्ट्रवाद की पुष्टि की तथापि सांस्कृतिक और राजनैतिक दृष्टि से वे इंग्लैण्ड के व्यक्तिवादी, नरम, प्रागतिक पक्ष के या उस विचारधारा के ही अनुयायी थे। जिस मात्रा में ब्रिटिश राज्यकाल में भारतीय जनता की बढ़ती हुई बेकारी और दरिद्रता का भीषण स्वरूप लोगों को अधिकाधिक दिखाई देने लगा उसी हिसाब से रानडे की नरम, प्रागतिक राजनीति लोगों को अधिकाधिक अपूर्ण और असमाधानकारक मालूम होने लगी। इसके सिवाय जर्मनी, अमेरिका या जापान जैसे औद्योगिक प्रगति में पिछड़े हुए परन्तु राजनैतिक दृष्टि से स्वतंत्र राष्ट्रों का राष्ट्रीय अर्थशास्त्र अथवा उनकी राजनीति हमारे काम की नहीं, ऐसा हिन्दुस्तान के राष्ट्र-निर्माताओं को जँचने लगा तब उनकी दृष्टि आयलैंण्ड या इटली जैसे गुलामी से आज़ाद हो जानेवाले राष्ट्रों की विचारधाराओं की तरफ गयी। इस विचारधारा में से ही आधुनिक भारत में अन्त को उग्रराष्ट्रीय राजनीति और सशस्त्र-क्रान्तिकारी राजनीति का उदय हुआ। उग्रराष्ट्रीय राजनीति में से, १९०५ के आस पास, बहिष्कारयोगी निःशस्त्र क्रान्तिवाद का जन्म हुआ और उसके एक-दो साल बाद क्रान्तिकारक राष्ट्रीय राजनीति इटैलियन देशभक्त मैजिनी के प्रयत्नों के अनुकरण में और गुप्त षड्यंत्रों के रूप में परिणत हुई। इधर लोकमान्य आदि राष्ट्रीय नेताओं की निःशस्त्र क्रान्ति अथवा बहिष्कारयोग

की राजनीति आयर्लैण्ड के सिनफिन दल की प्रारंभिक राजनीति की तरह थी। क्रान्तिकारक राष्ट्रीय राजनीति के सशस्त्र और निःशस्त्र दोनों रूप पहले-पहल १८९५ और उसके बाद १९०५ में महाराष्ट्र में दिखाई दिये। निःशस्त्र क्रान्ति की राजनीति आयर्लैण्ड के पार्नेल व ग्रिफिथ की राजनीति की तरह विकसित हो रही थी। सशस्त्र क्रान्ति के उपासक मैज़िनी, गेरिबाल्डी अथवा काव्हूर जैसे इटैलियन देशभक्तों के कार्यों का व नीति का अनुकरण करते थे। परन्तु यह लो० तिलक प्रभृति राष्ट्रीय नेताओं को अपनी परिस्थिति के अनुकूल नहीं लगता था इसलिए वे कांग्रेस को निःशस्त्र क्रान्ति की तरफ ले जाने का प्रयत्न करते थे। उनका यह प्रयत्न महज आयरिश नेताओं का अंधानुकरण नहीं था बल्कि उन्होंने यह समझ लिया था कि यह हमारे देश की परिस्थिति के अनुरूप है और उसमें फलप्रद हो सकता है। फिर उन्हें निःशस्त्र क्रान्ति की कल्पना महज आयरिश नेताओं से ही नहीं मिली, ब्रिटिश साम्राज्य-संस्थापक एलफिन्स्टन, मनरो, मेटकाफ जैसे ब्रिटिश राजनेताओं के विचारों और नीतियों का भी सहारा मिला। सर जॉन सीली जैसे राजनैतिक और ऐतिहासिक दार्शनिकों के द्वारा भारत में ब्रिटिश साम्राज्य सत्ता की, की गयी मीमांसा का भी आधार उन्हें मिला था। भारत में ब्रिटिश-राज्य की उत्पत्ति, स्थिति और विनाश के संबंध में गहरा विचार करके पूर्वोक्त राजनेताओं ने तथा इंग्लैण्ड के वर्तमान राजनैतिक दार्शनिकों में अग्रणी जी० डी० एच० कोल जैसों ने एक स्वर से कहा है कि यदि भारत में चारों ओर एक राष्ट्रीयता की भावना फैल जाय और ब्रिटिश सरकार की हिन्दुस्तानी सेना में वह घुस जाय तो उसी दिन ब्रिटिश साम्राज्य का अन्त हो जायगा। इन विचारों से भी लो० तिलक, बाबू विपिनचन्द्रपाल अथवा योगी अरविन्द घोष जैसे भारतीय राष्ट्र-निर्माताओं को निःशस्त्र क्रान्ति अथवा बहिष्कार-योग की राजनीति सूझी। बल्कि यों कहना चाहिए कि मनरो, एलफिन्स्टन जैसे तत्कालीन राजनीतिज्ञों ने सौ साल पहले ही यह भाँप लिया था कि यहाँ उग्र राजनीति पैदा होगी और उससे हमारे साम्राज्य का खातमा होगा।

१८१९ ईस्वी में एलफिन्स्टन साहब मैकिनटोश के नाम अपने एक

पत्र में कहते हैं *--"विचार-पूर्वक मुझे यह आशंका है कि हमारा भारतीय साम्राज्य बहुत समय तक नहीं टिकेगा। मुझे लगता है कि उसके विनाश के बीज हिन्दुस्तानी सेना में होंगे। हिन्दुस्तानी फौज एक बहुत ही नाजुक किन्तु भयंकर यंत्र है, उसकी व्यवस्था में जरा भी लापरवाही हुई तो बहुत आसानी से वह हम पर उलट सकता है"। इसके तीन साल बाद (१८२२ में) हिन्दुस्तानियों को मुद्रण-स्वातन्त्र्य दिया जाय या नहीं इसका फैसला देते हुए सर टॉमस मनरो कहता है:—"हिन्दुस्तानी सेना में स्वातंत्र्य की भावना फैलने से हिन्दुस्तानी जनता में उसका सर्वत्र प्रचार हो चुकेगा।" इसके बाद १८५७ में हिन्दू मुसलमान फौज ने एक होकर जो गदर किया उसके बारे में सर जॉन सीली कहता है:—"बहुतांश में एक जाति को दूसरी जाति से लड़ाकर यह गदर खतम किया गया है। जब तक यह संभवनीय है और जब तक किसी भी सरकार का शासन हो उसकी टीका और उसके प्रति विद्रोह करने की आदत हिन्दुस्तानियों को हुई नहीं है तभी तक इंग्लैंड में बैठकर हिन्दुस्तान पर शासन किया जा सकता है। परन्तु ज्योंही यह स्थिति बदली और किसी भी उपाय से हिन्दुस्तानियों में एक राष्ट्रीयता पैदा हो गयी तो फिर मैं कहता हूँ कि हमें अपने प्रभुत्व की आशा छोड़ देनी चाहिए।" † १८५७-५८ का हिन्दू-मुसलमान सैनिकों का गदर गुरखे और सिक्ख पल्टनों की सहायता से शान्त किया गया। खुद अंग्रेज इस बात को मानते हैं कि अगर सिंधिया, होल्कर या निजाम जैसे किसी बड़े राजा ने गदर वालों को मदद दी होती और उस समय के जमींदार, जागीरदार अंग्रेजों के प्रति वफादार न रहे होते तो ब्रिटिश साम्राज्य उसी समय खतम हो गया होता। और यह बात तो अब सर्वमान्य हो गयी है कि राजे-रजवाड़ों की कोशिश से हिन्दुस्तान की आजादी की आशा व्यर्थ है। १८९५ से १९०५ तक की क्रान्तिकारी राजनीति के काल में कुछ लोगों का खयाल था कि अफगानिस्तान या नैपाल जैसे किसी राज्य की सहायता से हम ब्रिटिश सम्राज्य

* Mount Start Elphinston By J. S. Cotton, Rulers of India Series P. 185-186.

† The Expansion of England, P. 133 By J. R. Seelly.

के जबड़े से छूट निकलेंगे परन्तु वह व्यर्थ साबित हुई। लो० तिलक जैसे राष्ट्रीय नेताओं का यह विश्वास था कि हिन्दुस्तान में जो राज्यक्रान्ति होगी वह प्रजातंत्रात्मक होगी। वह मध्यमवर्ग के बुद्धिशाली और त्यागी नेता और निर्धन किसानों की संयुक्त सामर्थ्य से होगी। इसीलिए उनका इस बात पर ज़ोर रहा कि कांग्रेस में किसानों का प्रवेश बड़ी तादाद में हो और उसका काम प्रजातंत्र के सिद्धान्त पर चले। ऊँची श्रेणी के जमीदार और राजे-रजवाड़े अपनी रियासतों व जमींदारी के मोह से पहले ही साम्राज्य निष्ठ बने हुए थे, ऐसी अवस्था में क्रान्तिकारी राजनीति का अधिष्ठान यदि कोई हो सकता था तो वह शिक्षित मध्यम व दरिद्र कृषक वर्ग। यह देखकर ही इन दोनों वर्गों को सःशास्त्र क्रान्ति से दूर रखने के लिए ह्यूम, वेडरबर्न या कॉटन जैसे ब्रिटिश राजनेता कांग्रेस की हलचल में पड़े थे। और इन्हीं को निःशस्त्र क्रान्ति की नीति पर कांग्रेस में संगठित करके लो० तिलक आदि राष्ट्रीय नेता ब्रिटिश राजनेताओं से स्वराज्य प्राप्त करने का प्रयत्न करते थे। ह्यूम व वेडरबर्न को भी यह लगता था कि बहिष्कारयोग-मूलक निःशस्त्र क्रान्ति का यह प्रयोग सफल होगा और भारतीय जनता की सहायता से चलनेवाला यह ब्रिटिश राज्यतंत्र टूट पड़ेगा। इसीलिए वे अपने देश बन्धुओं से कांग्रेस की माँगें पूरी करने के लिए हमेशा कहते रहे। परन्तु सत्ताधारी ब्रिटिश राजनेताओं ने उनकी न सुनी, जिसका फल यह हुआ कि कांग्रेस में निःशस्त्र क्रान्ति की भावना दिन-दिन बढ़ने लगी व महायुद्ध के बाद भारतीयों की जो वंचना ब्रिटिश राजनेताओं ने की उसे देखकर महात्मा गांधी ने निःशस्त्र क्रान्ति का प्रभावकारी संगठन शुरू किया। इस तरह महायुद्ध के पश्चात् प्रागतिक राजनीति कांग्रेस से विदा हुई। अब कांग्रेस खुल्लमखुल्ला निःशस्त्र क्रान्तिवादी संस्था बन गयी।

आयर्लैण्ड में आर्थर ग्रिफिथ ने सिनफिन दल की स्थापना के रूप में जो निःशस्त्र क्रान्तिवादी राजनीति शुरू की थी वह महायुद्ध के बाद सशस्त्र क्रान्ति में बदल गयी। फिर भी उस समय तक आयर्लैंड में अक्रामक राष्ट्र संगठन करने में इस दल की निःशस्त्र राजनीति का बहुत उपयोग हुआ। हिन्दुस्तान यदि आयर्लैण्ड की तरह एक छोटा देश होता तो

कदाचित् उस इतिहास की पुनरावृत्ति यहाँ भी हो जाती। परन्तु आयर्लैण्ड या इटली से हिन्दुस्तान कई गुना बड़ा देश है। उसमें हिन्दू, मुसलमान, सिख आदि कितने ही धर्म-भेद, पंथ-भेद और जाति-भेद हैं। एक राष्ट्रीयता व प्रजातंत्र के भावों की दृष्टि से वह बहुत पिछड़ा हुआ है। प्रबल योरपीय राष्ट्र-समूह से भौगोलिक दृष्टि से बहुत दूर है। फिर ब्रिटिश संस्कृति और ब्रिटिशों के काल्पनिक सामर्थ्य के भय से अभिभूत था। ऐसी दशा में यहाँ के विचारशील बुद्धिमान व त्यागी राष्ट्रीय नेताओं ने, म० गांधी के यहाँ आने से पहले ही, यह निश्चित कर रक्खा था हिन्दुस्तान के लिए निःशस्त्र क्रान्तिवाद ही स्वतंत्रता पाने का व्यवहार्य व फलदायी साधन है। भारतीय मानस पर ये नेता ऐसे संस्कार डाल भी रहे थे। यही कारण है कि म० गांधी ने १९२० में जब असहयोग के रूप में देश के सामने निःशस्त्र क्रान्ति का अपना कार्यक्रम पेश किया तब देश के बुद्धिमान नेताओं ने व क्रान्तिकारी युवक हृदयों ने बहुत बड़े पैमाने पर उनका साथ दिया।

पहले हम बता चुके हैं कि लो० तिलक के अनुयायियों में जो क्रान्तिकारी भाव रखते थे वे सब म० गांधी के अहिंसात्मक असहयोग में शामिल हो गये। उसका अर्थ यह नहीं है कि वे सब अहिंसा-धर्मी बन गये। वे किस दृष्टि से और किस भाव से शरीक हुए उसकी मीमांसा आचार्य कृपलानी के नीचे लिखे उद्गारों से भलीभाँति हो सकती है। अपनी पुस्तक में आचार्य जी लिखते हैं :—"रसायन शास्त्र और हवाई जहाजों के इस युग में संहार-साधनों से सुसज्जित सरकार के खिलाफ सशस्त्र युद्ध करना सशस्त्र लोगों को भी अशक्य-प्राय मालूम होता है तब फिर हिन्दुस्तान जैसे निःशस्त्र देश की क्या बिसात? फिर सैनिक ढंग का क्रान्तिकारी संगठन खुल्लमखुल्ला करना संभव नहीं। इसलिए अपना संगठन हमें अहिंसात्मक साधनों से ही करना होगा। इसके सिवाय त्याग, शौर्य, ऐक्य, अनुशासन और संगठन इन नैतिक गुणों की अत्यन्त आवश्यकता सशस्त्र क्रान्ति में भी होती है। इन गुणों की वृद्धि सत्याग्रह के द्वारा बहुत अच्छी तरह हो सकती है। अब रहा आखिरी वार करने का काम वह चाहे हिंसात्मक हो चाहें अहिंसात्मक। दोनों के लिए महात्मा गांधी के नेतृत्व में जो सद्गुण-

संपत्ति हिन्दुस्तान में अधिकाधिक बढ़ रही है उसे प्राप्त कर लेना अत्यंत आवश्यक है। यह संपत्ति शान्ति-साधनों से ही बड़े पैमाने पर बढ़ सकती है। हाँ, यह संभव है कि इन गुणों से मंडित एक छोटी-सी गुप्त क्रान्तिकारी टोली आप बनावें। परन्तु संभव नहीं कि आप सारे देशभर में या उसके बहुत बड़े हिस्से में गुप्तमार्गों से इन गुणों की वृद्धि करलें। इसलिए अंतिम सशस्त्र लड़ाई की दृष्टि से भी, हिन्दुस्तान में सत्याग्रह के द्वारा जो गुण-संपत्ति बढ़ रही है वह बड़े काम की है; क्योंकि लड़ाई का स्वरूप कैसा ही हो उसका आधार तो यह सद्‌गुण-संपत्ति ही है। ऐसी हालत में हमेशा के लिए नहीं तो कम से कम आगे बहुत साल तक सत्याग्रह अथवा हड़ताल यही एक साधन हमारे लिए खुला है।"*

इस तरह हिन्दुस्तान में जो लोग क्रान्तिकारी थे अथवा लो० तिलक के क्रान्तिवादी अनुयायी थे वे सब म० गांधी के नेतृत्व में धर्म मानकर नहीं, किन्तु व्यवहार नीति के तौर पर सत्याग्रह-संग्राम में शामिल हुए। शुरू में नीति के तौर पर जिन्होंने सत्याग्रह की दीक्षा ली उन्हीं में से कई लोग आज सत्याग्रह का वास्तविक स्वरूप और प्रभाव समझ में आजाने से धर्म के तौर पर उसे स्वीकार कर रहे हैं। म० गांधी ने भी कांग्रेस अथवा खिलाफत कमेटी से यह अपेक्षा नहीं रखी थी कि सत्याग्रह-संग्राम में शामिल होने के लिए धर्म के तौर पर उसे मानें। कम से कम हिन्दु-स्तान में तो कोई भी विचारशील मनुष्य इस बात में ऐतराज नहीं करता कि धर्म-दृष्टि से अहिंसा-तत्त्व मानव का नित्य-धर्म है। फिर भी यह प्रतिपादन किया जाता है कि सत्य व अहिंसा-धर्मों के नित्य व्यवहार में, मानव समाज की अपूर्णता के कारण कुछ अपवाद करने पड़ते हैं। परन्तु जब व्यवहार दृष्टि से भी सब इस बात के कायल हो जाते हैं कि राष्ट्र-निर्माण जैसे कार्य में अहिंसा का पालन आवश्यक है तब जो लोग क्रान्ति के मतवाले हैं उन्हें धर्म-शास्त्र के अन्तिम सिद्धान्तों के मतभेदों के जंजाल में पड़कर लोगों का बुद्धिभेद करना प्रखर बुद्धिमत्ता का लक्षण नहीं मालूम पड़ता। अन्तिम तत्त्व-ज्ञान-संबंधी मतभेदों को थोड़ी देर के लिए भुलाकर विशिष्ट कार्यक्रम में मतैक्य रखनेवाले दल राजनीति के

* Gandhian Way—By Achary Kripalani, Page 172.

रणांगण में कन्धे से कन्धा भिड़ा कर एक साथ लड़ते हुए हमेशा दिखाई देते हैं। यह व्यवहार-बुद्धि म० गांधी में है; और यही कारण है जो अली-बन्धु जैसे कट्टर मुसलमानों से भी क्रान्ति-कार्य में उनकी व्यावहारिक एकता हो सकी। इसी दृष्टि से वे सब क्रान्तिकारी भी जो मानते हैं कि आज ही शस्त्र ग्रहण करके सशस्त्र क्रान्ति का उद्योग करना अशास्त्रीय मार्ग है, म० गांधी का नेतृत्व मंजूर करके काम करने के लिए तैयार हुए हैं। परन्तु लोकमान्य के अनुयायी कहलानेवाले वे कुछ लोग जिनकी बुद्धि में सशस्त्र या निःशस्त्र किसी भी तरह की क्रान्तिकारी प्रेरणा नहीं थी, हिंसा-अहिंसा का झगड़ा मचाने में व म० गांधी के निःशस्त्र क्रान्ति-कार्य में बाधाएँ उत्पन्न करने में अपनी बुद्धि का सदुपयोग करने लगे, व जिन्होंने व्यवहार-बुद्धि से म० गांधी का नेतृत्व स्वीकार किया उन्हें ढोंगी या बुद्धिहीन कहने लगे।

यद्यपि म० गांधी ने पहले के राष्ट्रीय नेताओं के बहिष्कार-योग को असहयोग-युद्ध के रूप में लोगों के सामने रक्खा तथापि उन्होंने उसे अहिंसा-तत्त्व का जो अधिष्ठान दे दिया है उससे उसमें धर्मनिष्ठा का एक तेज चमकने लगा है और इसी तेज की बदौलत उसका प्रभाव बढ़ने लगा व ब्रिटिश शासकों को भी म० गांधी को वे सुविधायें देनी पड़ीं जो लो० तिलक व बा० अरविन्द घोष को नहीं दी थीं। १९०९ में बा० अरविन्द घोष ने अपने एक व्याख्यान में कहा था कि यदि हुकूमत ऐसा अभिवचन दे कि नागरिकों के मूलभूत हकोंपर प्रहार नहीं किया जायगा तो राष्ट्रीय नेता उन्हें यह आश्वासन देने के लिए तैयार हैं कि भारतीय राज्यक्रान्ति निःशस्त्र मार्ग की मर्यादा नहीं छोड़ेगी। परन्तु ब्रिटिश हुकूमत यह जानती थी कि अरविन्द बाबू अथवा लो० तिलक यद्यपि व्यावहारिक दृष्टि से निःशस्त्र क्रांतिवादी थे, तथापि अन्तिम दृष्टि से वे अहिंसावादी नहीं हैं। इसीसे लार्ड चेम्सफर्ड, लार्ड रीडिंग, या लार्ड अर्विन के जमाने में म० गांधी को जो सुविधाएँ अपनी हलचल के लिए कुछ महीने तक मिलीं वे पूर्ववर्ती नेताओं को नहीं मिलीं, न मिल सकती थीं। फिर भी यह नहीं कह सकते कि ब्रिटिश राजनेताओं को या राजनैतिक तत्वज्ञों को आज भी यह विश्वास हो गया है कि म० गांधी के प्रयत्नों में से सशस्त्र

क्रान्ति पैदा नहीं हो जायगी। हाँ, खुद महात्मा गांधी की अहिंसा-निष्ठा के बारे में अलबत्ता उन्हें अधिक शंका न होगी। निदान म० गांधी की सारी दुनिया में फैली कीर्ति व उसके तेज की बदौलत उन पर इस तरह का आक्षेप करने की हिम्मत ब्रिटिश राजनेताओं की नहीं होती और ब्रिटिश राजनैतिक तत्वज्ञ भी इस तरह की कुशंका प्रकट नहीं करते। हाँ, समय-समय पर यह आशंका जरूर प्रदर्शित करते हैं कि म० गांधी का निःशस्त्र क्रान्ति आंदोलन इनके काबू के बाहर चला जायगा, और सशस्त्र क्रांति का रूप धारण कर लेगा। इस आशंका के सहारे या बहाने ही वे अपने मनमाने व अन्यायी फरमानों या कानूनों का समर्थन दुनिया के सामने करते हैं। मगर उन्हें यह भी अनुभव हो चुका है कि ऐसे अनेक अन्यायी फर्मानों से म० गांधी का सत्याग्रही मोर्चा तहस-नहस नहीं किया जा सकता। उसी तरह उनकी यह अपेक्षा भी अनुभव से सच साबित नहीं हुई कि जब यह आन्दोलन हिंसात्मक रूप धारण कर लेगा, तब हम अपनी असीम सैनिक शक्ति के बल पर उसे कुचल डालेंगे। इसके अलावा ब्रिटिश राजनेता यह भी जानते हैं कि हमारा सैनिक सामर्थ्य भारतीय लोगों के सहयोग पर ही अवलंबित है। इसलिए असहयोग-संग्राम में उस पर निश्चित रूप से आधार रखना दूरदर्शिता-युक्त नहीं है। श्री जी. डी. एच. कोल—जैसे ब्रिटिश राजनैतिक तत्ववेत्ता इस बात को मानते हैं। 'A Guide to Modern Politics' नामक अपनी पुस्तक (पृष्ठ ८०३ से ८१०) में वे लिखते हैं—"आज हिंदू और मुसलमान धर्म की प्रचण्ड जनता के मूक लोक-मत की परवाह न करते हुए ब्रिटेन ने हिंदुस्तान को अपने अधीन कर रक्खा है। वहाँ के राजे-रजवाड़े, जमींदार और धनिकवर्ग राजभक्त हैं। बहुसंख्यक किसानों में थोड़े ही लोग राजनैतिक आन्दोलन में भाग लेते हैं; फिर भी कांग्रेस में सक्रिय सहायता करनेवाले लाखों लोग निश्चित रूप से हैं। प्रागतिकों के पीछे जनता नहीं है। चीन के क्युमिंटँग दल की तरह कांग्रेस में सामाजिक और आर्थिक विषयों में अनेक दृष्टिकोण के लोग हैं। एक सिरे पर मिल-मालिक और पूँजीपति हैं, दूसरे सिरे पर मजदूर-संगठन के नेता या शिक्षित युवक हैं जो आमतौर पर आधे समाजवादी और कुछ

कम्युनिस्ट हैं। जवाहरलाल नेहरू इस मनोवृत्ति के नमूनेदार प्रतिनिधि हैं। गांधी इन दो सिरों के बीच में हैं। उनके मतों में राजनीति, धर्म और संन्यास इनका कुछ ऐसा बेमालूम मिश्रण हुआ है कि आधुनिक पाश्चात्य मानस के लिए इसका समझना मुश्किल है। फिर भी हिंदुस्तान में किसी भी नेता से उनके अनुयायी बहुत ज्यादा हैं। आज तक गांधी की नीति का अंतरंग अहिंसा ही है। महज राजक्रांति में ही नहीं, हर तरह की हिंसा का उन्होंने तीव्र विरोध किया है। अहिंसात्मक असहयोग और सविनय कानून भंग उनके अन्तिम शस्त्र हैं और यही उनकी नीति की बुनियाद है। लेकिन सवाल यह है कि वे भारतीय राष्ट्रवाद को कितने समय तक इस मर्यादा में रख सकेंगे। इसमें शक नहीं है कि जब जब हिंसा फूट निकली है तब तब कई बार उन्होंने कानून-भंग का आंदोलन बन्द कर दिया है पर क्या इस तरह आगे हमेशा बन्द कर सकेंगे.........

"फिर यह न भूलना चाहिए कि हिंदुस्तानी सेना की राजभक्ति पर ब्रिटेन का भवितव्य बहुत-कुछ अवलंबित है। यह कहना मुश्किल है कि राष्ट्रीय विचारों का प्रवेश सैनिकों में कहाँ तक हुआ है,......... हिंदुस्तानियों की पूर्ण स्वराज्य की मांग को अमान्य करके भी कुछ समय हिंदुस्तान को जबरदस्ती कब्जे में रक्खा जा सकता है मगर जब कभी ब्रिटेन योरप के किसी भारी संकट में आ पड़ेगा तब बहुत संभव है उसका भारतीय साम्राज्य नष्ट हो जाय।"

म० गांधी जैसे व्यवहार-दक्ष राजनीतिज्ञ और असाधारण राजनैतिक नेता हैं उसी तरह अलौकिक धार्मिक सुधारक व तत्वनिष्ठ समाज-सुधारक भी हैं। धार्मिक व सामाजिक सुधारकों की आध्यात्मिक वृत्ति और प्रखर सत्यनिष्ठा का राजनीति में प्रवेश करना व समाज में सर्वांगीण व्यवहार को आध्यात्मिक रूप देना इसे वे अपना जीवन-कार्य मानते हैं। गौतम बुद्ध की अहिंसा, श्रीकृष्ण का अन्याय-प्रतिकारी निष्काम कर्मयोग अथवा अनासक्ति-योग का अनुपम समन्वय उनके सत्याग्रही तत्वज्ञान में हुआ है। उनके तमाम व्यवहारों की मूल प्रेरणा अन्यायरूपी अधर्म का उच्छेद व न्याय अथवा धर्म की संस्थापना है। धार्मिक व सामाजिक सुधारकों की तरह उनकी वृत्ति अन्तर्मुख है व वे

मानते हैं कि हमारी गुलामी का कारण दूसरों की बनिस्बत हम खुद ही ज्यादा हैं। उनका कहना है कि आत्मोन्नति व आत्मशुद्धि ही आजादी हासिल करने का सच्चा रास्ता है। फिर भी उनकी यह साफ राय है कि आधुनिक योरपीय संस्कृति को अपनाने से हमारी उन्नति तो दरकिनार उल्टे हमारी अधोगति ही होगी। उनका मत है कि समाज के राजनैतिक व आर्थिक व्यवहारों पर से धार्मिक बन्धन मिटा देने से आज योरपीय संस्कृति का विनाश हो रहा है। भारतीय व योरपीय मध्ययुगीन संस्कृति में समाज के सब व्यवहारों पर धर्म व नीति के बन्धन लगे हुए थे। आधुनिक योरपीय संस्कृति ने इन तमाम बन्धनों को फेंककर आर्थिक व राजनैतिक व्यवहारों को महज भौतिक सुखों की कसौटी पर कसनेवाले अनेक सामाजिक शास्त्र बना डाले हैं। धर्म व मोक्ष इन पुरुषार्थों को एक कोने में रखकर अर्थ और काम इनके आधार पर समाज-रचना करने का प्रयत्न आधुनिक योरप ने किया व इसी के बदौलत वहाँ पूँजीवाद, साम्राज्यवाद व सैनिकवाद की आसुरी सम्पत्ति आज निर्माण हो गयी है एवं भौतिक विद्या को मानव-संहार-शास्त्र का रूप प्राप्त हो गया है। उनका यह आत्मविश्वास है कि यह आधुनिक योरपीय आसुरी संस्कृति अन्तर्राष्ट्रीय महायुद्ध की व राष्ट्रांतर्गत वर्गयुद्ध की यादवी में शीघ्र ही नष्ट हो जानेवाली है व संसार को शान्ति, न्याय व सत्य का मार्ग दिखा देनेवाली एक नयी मानव-संस्कृति सत्याग्रही तत्वज्ञान के द्वारा निर्माण हो रही है। मतलब यह है कि म० गांधी का सत्याग्रही तत्वज्ञान जिस तरह राष्ट्रीय व राजकीय क्रान्तिकारक तत्वज्ञान है उसी तरह यह एक सर्वांगीण क्रान्तिकारक तत्वज्ञान भी है और म० गांधी जैसे राजनैतिक नेता व राजनीतिज्ञ हैं उसी तरह वे धार्मिक व सामाजिक सुधारक भी हैं। वे एक भागवत्-धर्मी संत हैं और मध्ययुगीन भक्ति-मार्गी साधु-संतों की तरह उन्होंने वैदिक-धर्म की परम्परा व वर्णाश्रम-धर्म की चौखट का स्वरूपतः त्याग नहीं किया है। इतिहासाचार्य राजवाड़े ने कहा है कि राजनैतिक क्रान्ति के पहले समाज के धार्मिक व सामाजिक विचारों में भी एक प्रकार की क्रान्ति हो चुकनी चाहिए व ऐसी क्रान्ति शिवाजी के पहले महाराष्ट्र में तुकाराम रामदासादि साधु-संतों ने कर रखी थी व यह क्रान्ति वैदिक

परम्परा व चातुर्वर्ण्य को न छोड़ कर की थी। म० गांधी की सामाजिक व धार्मिक सुधारवाली नीति पर मध्ययुगीन साधु-संतों के कार्य का यह वर्णन बहुत-कुछ लागू होता है। इस दृष्टि से सामाजिक व धार्मिक सुधारों की ओर देखने की उनकी दृष्टि आधुनिक भारत के सर्वांगीण सुधारकों की अपेक्षा लो० तिलक या राजवाड़े जैसे राष्ट्रीय ढंग के नेताओं से अधिक मिलती है। फिर भी गांधीजी का यह मत है कि वर्णाश्रम धर्म की चौखट कायम रख कर भी ब्राह्मण से लेकर अति शूद्र तक सब की सामाजिक समता रहनी चाहिए व चातुर्वर्ण्य की सामाजिक विषमता बिल्कुल मिट जानी चाहिए। सामाजिक श्रेष्ठता के अहंकार से उत्पन्न रोटी-बेटी-व्यवहार के कृत्रिम बन्धन धीरे धीरे टूट जाने चाहिएँ व शूद्र तथा अति-शूद्र वर्णों को दूसरों के बराबर मानव-संस्कृति में स्थान मिलकर उन्हें आत्मोद्धार के लिए बिना विरोध पूरा अवसर दिया जाना चाहिए व इसके लिए आज हमारी इस गुलामी की हालत में भी जोरों से कोशिश होनी चाहिए। इस दिशा में अस्पृश्यता-निवारण, हरिजनोद्धार और जातियों की पारस्परिक विषमता के उच्चाटन के सम्बन्ध में अब तक उन्होंने जो काम किया व हिंदू-समाज की आर से जो स्वीकृति प्राप्त की वह पिछले सौ साल के किसी भी धार्मिक या सामाजिक सुधारक से कम नहीं है। अपने राष्ट्रीय राज-क्रान्ति कार्य व इस कार्य में उन्हें न केवल अविरोध दिखाई देता है, बल्कि वे मानते हैं कि वे एक दूसरे के लिए आवश्यक व पोषक हैं। इस तरह म० गांधी ने भक्ति-मार्ग और प्रवृत्ति-परक कर्मयोग का समन्वय करके राम-राज्य की संस्थापना का सत्याग्रही मार्ग संसार को दिखा दिया है।

दूसरी ओर दृष्टि से म० गांधी का कार्य मध्ययुगीन साधुसन्तों के आगे निकल गया है। उनकी रामराज्य की कल्पना अधिक परिणत और आधुनिक काल के अधिक अनुरूप है। रामराज्य शब्द सुनते ही आधुनिक शिक्षितों के मन में एक राज-सत्ताक राज्य की कल्पना खड़ी होती है और मध्ययुगीन साधु-सन्तों का रामराज्य उस प्रकार का था भी। परन्तु म० गांधी का रामराज्य इतना संकुचित और मर्यादित नहीं है। रामराज्य से उनका अभिप्राय राजसत्ताक राज्य-पद्धति ही नहीं है। राज्य चाहे

राजसत्ताक हो अथवा समाज-सत्ताक, ये उसके बाह्य रूप हैं मगर राज्य का अन्तरंग हमेशा न्यायस्वरूपी होना चाहिए। राम का राज्य धर्म का, न्याय का राज्य ही हो सकता है। राम नामक व्यक्ति अब फिर भूलोक में नहीं आ सकता। लेकिन हर मनुष्य के अन्तःकरण में राम और रावण ये दो वृत्तियाँ रहती हैं, पहली से धर्मबुद्धि और न्याय-भावना का उदय होता है, और दूसरी स्वार्थबुद्धि के रूप में प्रकट होती है। मनुष्य के हृदय में स्वार्थ-बुद्धि का अन्त होकर न्यायबुद्धि का राज्य प्रस्थापित हो यही अन्तःकरण का रामराज्य है। समाज में स्वार्थ-बुद्धि से उत्पन्न अनेक कलह नष्ट होकर उसमें न्याय स्थापित होने का नाम ही धर्म-संस्थापना या धर्मराज्य अथवा रामराज्य की स्थापना है। जिस राज्य को समाज की न्याय-बुद्धि का आधार है, जिस राज्य के कानून समाज की न्यायबुद्धि के अनुसार बनते हैं; न्याय-बुद्धि से प्रेरित होकर चलनेवाले मनुष्य को जिस समाज के किसी प्रकार के कानून से बाधा नहीं होती, जिस समाज के सब व्यवहार मनुष्य की आन्तरिक न्याय-बुद्धि को सहज रूप से जँचनेवाले हों; अन्याय से धन कमाना और सत्ता का उपयोग करना जिस समाज में असंभव है और जहाँ की राजसत्ता प्रजा के संगठित आत्मबल के सामने झुक सकती है, उस राज्य को रामराज्य समझना चाहिए। आज के समाज-शास्त्रीय व राज-शास्त्रीय विचारों की व समाज-रचना की दृष्टि से आज का भारतवर्षीय रामराज्य राजसत्ताक न होकर प्रजासत्ताक हो, और वह ऐसी ही होगा, यही म० गांधी की कल्पना है। आज का राष्ट्र-निर्माण प्रजातंत्र के सिद्धान्त पर हो और आज के स्वराज्य में सामाजिक समता व नागरिक स्वतंत्रता सब के लिए खुली होनी चाहिए, यह बात म० गांधी ने, अपनी उक्ति और कृति दोनों से, अ-संदिग्ध रूप में लोगों को स्पष्ट कर दी है। हाँ, उनका यह स्पष्ट मत अवश्य है कि यह प्रजातंत्र योरपीय प्रजातंत्र की तरह पूँजीवाद का गुलाम न होगा और प्रजातंत्र के नाम पर धनिक सत्ता की स्थापना इस देश में न होनी चाहिए। आधुनिक योरप में जो संस्कृति निर्माण हुई उसने धर्म का अधिष्ठान छोड़ दिया जिससे वह भ्रष्ट हो गयी व उसमें पूँजीवाद और साम्राज्यवाद उदय हो गये। फलतः वह आज रसातल को जा रही है।

इसलिए उनका आग्रह है कि हमारी संस्कृति धर्म का अधिष्ठान न छोड़े व आधुनिक योरपीय संस्कृति का अंधानुकरण न करे। इससे यह सिद्ध हुआ कि रामराज्य का उनका अर्थ आधुनिक शिक्षित लोग जैसा समझते हैं उससे भिन्न है। इसी तरह जब वे यह कहते हैं कि हमारे राष्ट्र-निर्माण में अथवा राजनीति में धर्म की भावना होनी चाहिए तब धर्म शब्द का उनका अर्थ भी आज के पढ़े-लिखे लोग जो समझते हैं उससे भिन्न होता है।

उन्होंने यह स्पष्ट बना दिया है कि हमारी राष्ट्रीयता के लिए जिस धर्म के अधिष्ठान की आवश्यकता मैं बताता हूँ, वह केवल हिन्दूधर्म नहीं बल्कि उससे अधिक व्यापक व सर्व-श्रेष्ठ मानव-धर्म है। १९११ में अपने एक लेख में उन्होंने कहा है:—"यही सही है कि और सब धर्मों से मुझे हिन्दूधर्म अत्यंत प्रिय है फिर भी यह वह धर्म नहीं जिसका अधिष्ठान मैं राजनीति में चाहता हूँ। वह हिन्दूधर्म से भी श्रेष्ठ है। उस धर्म वृत्ति से तो मनुष्य का स्वभाव ही बदल जाता है। अन्तस्थ सत्य से उसका अमिट संबंध हो जाता है और सतत अंतः-शुद्धि होती रहती है। मानव स्वभाव की वह एक नित्य वृत्ति है। उसके जाग्रत होने के बाद उसे व्यक्त करने में हमें कितने ही क्लेश भोगने पड़ें, हमें उसकी चिन्ता नहीं रहती। हमारी आत्मा विह्वल हो जाती है और जब तक परमात्मा के ज्ञान से हमारा सत्य-संबंध प्रतीत नहीं हो जाता तब तक समाधान नहीं होता।" तात्पर्य यह कि मनुष्य के हृदय में असत्य से सत्य की और अज्ञान से ज्ञान की ओर व अपूर्णता से पूर्णता की ओर जाने की जो एक सनातन वृत्ति है उससे प्रेरित होकर ही सब धार्मिक, सामाजिक अथवा राजकीय सुधारक या क्रांतिकारक लोकनायक, राष्ट्रनिर्माता, साधु-सन्त, अथवा धर्म संस्थापक अपना काम करते हैं और जिस वृत्ति के बदौलत मनुष्य की स्वार्थमय अहंकार-भावना नष्ट होकर वह परार्थी लोक-सेवक बनता है उसी सनातन मानवी वृत्ति को ही म० गांधी धर्म अथवा धर्म-वृत्ति कहते हैं। संसार के सब धर्मों का अन्तरंग एक ही है व सब धर्मों का सार यह है कि मनुष्य की सतत उन्नति व शुद्धि करनेवाली यह वृत्ति जगे एवं उसका पारमार्थिक श्रेष्ठ व सत्य रूप प्रकट हो, यह म० गांधी की शिक्षा

है। सर्वधर्म-सहिष्णुता व सर्व-धर्म-समभाव उनके सत्याग्रह का एक आवश्यक व्रत है और "सत्य के सिवा नहीं धर्म; सत्य सो ही परब्रह्म" यह सूत्र उनके आध्यात्म-ज्ञान का रहस्य है। इसी आध्यात्म व सर्व-व्यापक मानव धर्म के अधिष्ठान पर वे आधुनिक भारत का निर्माण करना चाहते हैं। इसलिए हिंदू, मुसलमान, ईसाई ये क्षुद्र भेदाभेद उनके अन्तःकरण को छूते तक नहीं। हिंदुस्तान के राजनैतिक इतिहास की परंपरा को देखकर उन्होंने अपने मन में यह तय कर रक्खा है कि आधुनिक भारत के निर्माण में हिन्दू और मुसलमानों की फूट एक जबरदस्त रुकावट है। हिन्दू समाज की सामाजिक विषमता नष्ट करने के प्रतीक के रूप में उन्होंने अस्पृश्यता-निवारण व हरिजनोद्धार को अपने राष्ट्रनिर्माण के विधायक कार्यों में अग्र स्थान दिया है और हरिजनों को अन्य हिन्दुओं से अलग करने का आयोजन जब ब्रिटिश राजनेताओं ने किया तब अपने प्राणों की बाजी लगाकर भी उन्होंने ब्रिटिशों की इस भेद नीति को चकनाचूर कर दिया। आधुनिक भारत के इतिहास में राजनीति, समाज-नीति और धर्म-नीति, सभी दृष्टियों से म० गाँधी के इस महान् कार्य का बड़ा महत्त्व है व उसके मधुर फल भावी पीढ़ी को अवश्य मिलेंगे। इसी तरह यह कहना अत्युक्ति न होगी कि विधायक कार्यक्रम के एक दूसरे महत्त्वपूर्ण प्रश्न अर्थात् हिन्दू मुसलमानों की एकता की तरफ जनता का ध्यान जितना म० गांधी ने खींचा है उतना बहुत थोड़े राष्ट्रीय नेताओं ने खींचा होगा। यह बात तो कई राजनैतिक नेताओं ने देख ली थी कि हिन्दू मुसलमानों की एकता भारतीय राष्ट्र-निर्माण व राजनीति की दृष्टि से आवश्यक है, खास कर दादाभाई नौरोजी, न्या० रानडे, मा० गोखले, लो० तिलक, इन सबने राष्ट्रीय दृष्टि से हिन्दू-मुस्लिम एकता का समर्थन किया है। परन्तु इस समस्या की ओर देखने की म० गांधी की दृष्टि महज राजनैतिक नहीं है। राजा राममोहन राय ने हिन्दू, मुसलमान व ईसाई इन तीन धर्मों का समन्वय करने की महत्वाकांक्षा से ब्रह्म समाज की स्थापना की और रामकृष्ण परमहंस ने सब धर्मों का समन्वय अथवा सर्व-धर्म-समभाव ही वेदान्त का आधुनिक जगत् को प्राचीन सन्देश है ऐसा स्वामी विवेकानन्द के मुख से प्रकट किया। म० गांधी की इस प्रश्न

को देखने की दृष्टि राजा राममोहन राय अथवा रामकृष्ण परमहंस की तरह श्रेष्ठ धर्म-परक है। उनकी इस मनोभूमिका को प्राचीन वेदान्त की तरह मध्ययुगीन साधु-सन्तों के भागवत्-धर्म का भी पूरा-पूरा आधार है और इसी आधार पर वे भारतीय राष्ट्रमन्दिर को आज खड़ा कर रहे हैं।

म० गांधी के सत्याग्रही तत्वज्ञान में पूर्ववर्ती सर्वांगीण सुधारकों द्वारा योरपीय संस्कृति के आधार पर प्रतिपादित और एक तत्व कुछ भिन्न मगर शुद्ध स्वरूप में अन्तर्भूत हुआ है वह है व्यक्ति-स्वातंत्र्य। महात्मा गांधी एक अर्थ में आत्यन्तिक व्यक्तिवादी है। अलबत्ता अपने व्यक्तिवाद को वे भौतिक सुखाभिलाषा का हीन रूप न देकर लोक-सेवा-जन्य आध्यात्मिक सुखाभिलाषा का श्रेष्ठ रूप देते हैं। धर्मज्ञान, परमात्म-प्राप्ति अथवा आत्मज्ञान इनके बारे में वे शब्द-प्रामाण्य या ग्रंथ-प्रामाण्य को कभी आखिरी स्थान नहीं देते। ग्रंथ-प्रचीति और गुरु-प्रचीति इन दोनों से आत्म-प्रचीति ही श्रेष्ठ है और प्रत्येक मनुष्य को अपनी अन्तरात्मा की आज्ञा का हमेशा पालन करना चाहिए यह उनके सत्याग्रही तत्वज्ञान का आधार-भूत सिद्धान्त है। इस अन्तरात्मा की आज्ञा के सामने वे ग्रंथों की आज्ञा, राजा की आज्ञा या समाज की आज्ञा सभी को गौण समझते हैं। 'निस्त्रैगुण्येपथि विचरतां को विधिः को निषेधः' इस सिद्धान्त को सामने रखकर वे मानते हैं कि धर्म-बन्धन, राज-बन्धन, अथवा समाज-बन्धन से भी परे होने की और केवल सत्य रूप परमेश्वर का बन्धन पालकर स्वतः मुक्त होने व समाज को मुक्त करने का अधिकार प्रत्येक मनुष्य प्राप्त कर सकता है। सत्याग्रह केवल राजकीय क्रान्ति का ही नहीं, सर्वांगीण क्रान्ति का एक शास्त्र है और वे यह नहीं मानते कि उसका अनुसरण करने का अधिकार सिर्फ किसी विशिष्ट कुल में जन्म लेनेवाले को ही है अथवा साधु-सन्तों की कोई एक अलग जाति है और उसी जाति के लोगों को उसका अधिकार है। सत्याग्रह सबके अनुसरण करने का शास्त्र है। साधुत्व प्राप्त कर लेना प्रत्येक का हक, अधिकार बल्कि धर्म है। इस साधुत्व के द्वारा समाज के रूढ़ विधिनिषेधों से परे जाकर नवीन विधि-निषेध बनाना व नवीन देश, काल, परिस्थिति में उत्पन्न नवीन आकांक्षाओं के अनुरूप ऐसी नयी धर्म-संस्थापना करना समाज के सर्वश्रेष्ठ साधु-पुरुषों

का आवश्यक कर्तव्य है। उन्होंने आज हिंदुस्तान को चारों तरफ से जकड़ लेनेवाली व उसके धन-जन का अपहरण करनेवाली ब्रिटिश साम्राज्य-शाही के सामने क्रान्ति का झण्डा खड़ा किया है। उनका विश्वास है कि इस क्रान्ति से हिंदुस्तान में लोकशाही उर्फ लोक-राज्य का निर्माण होगा। इस लोकराज्य में सबका जान-माल सुरक्षित रहेगा। अपनी मेहनत से पैदा किये धन-संचय का अपहरण किसी के द्वारा भी नहीं किया जायगा और हरएक के लिए सुख से जीवन-निर्वाह का मार्ग खुला रहेगा व उसकी आत्मोन्नति के लिए आवश्यक सहायता समाज की ओर से मिलती रहेगी। लेकिन, जैसा कि पीछे कहा गया है, लोकराज्य ही उनके स्वराज्य का अन्तिम रूप नहीं है। वह रूप तो आत्मराज्य है। इस आत्मराज्य में बाह्य नियमों का पालन किसी को भी न करना होगा। दण्डधारी राज्य-संस्था की आवश्यकता किसी को प्रतीत न होगी। उनका यह मत है कि आत्मराज्य लोकसत्ता व समाज-सत्ता के परे का है और उसकी प्राप्ति सत्याग्रही व्यक्ति-स्वातंत्र्य से ही हो सकेगी। आधुनिक योरप में व्यक्ति-स्वातंत्र्य का जो हीन स्वरूप दिखाई देता है, जिस हीन व्यक्ति-स्वातंत्र्य के कारण आधुनिक यूरोपीय संस्कृति का विनाश उसके सिर पर मँडरा रहा है वह व्यक्तिवाद उन्हें नहीं चाहिए। अमर्याद धन संचय करनेवाले व्यक्ति-स्वातंत्र्य, निर्धन जनता को दास बनाकर उसका रक्त शोषण करने वाले व्यक्ति-स्वातंत्र्य और सत्तामद से अथवा संपत्ति-मद से उन्मत्त करनेवाले व्यक्ति-स्वातंत्र्य की उन्हें जरूरत नहीं। ऐसा व्यक्ति-स्वातंत्र्य सत्याग्रही तत्वज्ञान से हर तरह असंगत है।

आधुनिक योरप ने जब से यह तय किया कि ऐसे व्यक्ति-स्वातंत्र्य का व उसका उपयोग करनेवाले व्यक्ति की अमर्याद धन-सम्पत्ति का संरक्षण करना ही राज-संस्था का आदि कर्तव्य है तभी से उनकी संस्कृति का ह्रास-काल प्रारम्भ हुआ। मार्टिन लूथर ने जब प्रोटेस्टंट धर्म-पंथ की स्थापना की अथवा उसके बाद जब केल्विन के प्युरिटिन पंथ की उत्पत्ति हुई तब उनके सामने यह अमर्याद धनोपभोग और सत्ताभिलाषा का हीन व्यक्ति-स्वातंत्र्य नहीं था। उनकी यह अभिलाषा नहीं थी कि धर्माधिकारियों और राज्याधिकारियों के बन्धनों को तोड़ते हुए धनिक वर्ग के

बंधनों का नाश सामान्य जनता के गले बाँध दिया जाय। लेकिन जिस व्यापारी वर्ग ने उनके व्यक्तिवादी तत्व का अवलंबन किया उसने शीघ्र ही उसे सुखाभिलाषी व्यक्तिवादी जड़-स्वरूप दे दिया। जिस काल में, प्राथमिक अवस्था के जिस समाज में, समाज के किसी भी व्यक्ति को अपने जीवन-यापन के लिए आवश्यक धन प्राप्त करने में अधिक कठिनाई नहीं होती थी, और किसी भी व्यक्ति को जीवन-यापन के लिए आवश्यक से अधिक धन-संचय करना करीब करीब असम्भव था, उसमें प्रत्येक के कष्टार्जित धन का व जीवन का संरक्षण करना दोनों ही एक-सा था। ऐसे समय में समाज के प्रत्येक व्यक्ति के धन का संरक्षण करना राज्यसंस्था का प्रमुख कर्तव्य है, ऐसा मानने में भी अधिक दोष न था। लेकिन जिस समाज में कुछ थोड़े व्यक्ति अमर्याद धन संचय करके समाज के अन्य लोगों के जीवन-निर्वाह के साधन अपने कब्जे में रख सकते हों, और दूसरों की असहाय निर्धन परिस्थिति से लाभ उठाकर उनके श्रम से निर्मित संपत्ति का बिना किसी भी प्रकार का कष्ट किये अपहरण किया जा सकता हो, ऐसे समाज में यह समझना कि व्यक्ति की संपत्ति का संरक्षण करना ही राज्य-संस्था का कर्तव्य है, सच्चा व्यक्तिवाद नहीं है। ऐसी आर्थिक विषमता पर अधिष्ठित समाज का व्यक्ति-स्वातंत्र्य सच्चा व्यक्ति-स्वातंत्र्य नहीं है और ऐसे समाज की धन-सम्पत्ति कष्टार्जित धन-सम्पत्ति नहीं है। ऐसा समाज स्तेयवृत्ति पर अधिष्ठित होता है। वहाँ धर्म का अथवा न्याय का राज्य प्रस्थापित नहीं हो सकता। ऐसा व्यक्तिवादी समाज म० गांधी को नहीं चाहिए और जिस संस्कृति में ऐसी आर्थिक विषमता पैदा होती है उसकी भी उन्हें जरूरत नहीं। भौतिक सुखाभि-लाषा कभी सत्याग्रह का ध्येय नहीं हो सकती और अमर्याद धन संचय करनेवाले व्यक्ति कभी सत्याग्रही नहीं बन सकते। सत्याग्रही दृष्टि से धन संचय करना चोरी ही है। ईसामसीह के कहने के मुताबिक एक व्यक्ति धन और सत्य दोनों की उपासना नहीं कर सकता। ईसामसीह ने जो यह कहा है कि सुई के नाके से ऊँट का निकल जाना एक बार संभव है मगर धनिक व्यक्ति का परमेश्वर के साम्राज्य में अर्थात् आत्मराज्य में प्रवेश संभव नहीं, इसका अनुभव, म० गांधी ने अपने एक व्याख्यान

में कहा है कि दक्षिण अफ्रिका के सत्याग्रह के समय हुआ। वहीं उन्होंने अपना यह भी अनुभव बताया है कि धनिक व्यक्ति अपने संचित धन का त्याग किये बिना सत्याग्रही नहीं बन सकते और इसलिए सत्याग्रही क्रान्ति में निर्धन, दरिद्र लोग जितने उपयोगी होते हैं उतने धनवान् नहीं होते। तात्पर्य यह है कि सुखाभिलाषी धनिकों की दासी बनी हुई लोकशाही या प्रजासत्ता और उनकी स्वैर-वासना से निर्मित व्यक्ति-स्वातंत्र्य सत्याग्रही का ध्येय नहीं है। धनिकों के स्वैराचार से उत्पन्न होने वाली अराजकता उनके समाज की पूर्णावस्था की कल्पना है। यह पूर्णावस्था प्राप्त करने के लिए यहाँ की जनता भी जब योरपीय जनता की तरह धनिक वर्ग का नेतृत्व न स्वीकार करके अपरिग्रही सत्याग्रही वर्ग का नेतृत्व स्वीकार करेगी तभी उसे सच्चा लोकराज्य प्राप्त होगा और इस लोकराज्य से ही उसे आत्मराज्य का मार्ग भी दिखाई देने लगेगा।

म० गांधी के विधायक कार्यक्रम का ग्रामोद्योग-संगठन एक अत्यंत महत्त्वपूर्ण अंग है। कांग्रेस की बागडोर गांधी जी के हाथ में जाने के बाद से स्वदेशी हलचल को ग्रामोद्योग-संगठन का रूप प्राप्त हो गया। शुरू में उन्होंने सिर्फ खादी को ही अपने हाथ में लिया और आज उसका विकास ग्रामोद्योग-संगठन के रूप में हो गया है। मध्ययुगीन साधु-सन्त राजनीति की ओर ध्यान नहीं देते थे और अर्थनीति भी उनके कार्य-क्षेत्र के बाहर थी। समर्थ रामदास ने राजनीति व स्वधर्मी राज्य का या स्वराज्य का महत्त्व समझा था और स्वराज्य-संस्थापना तथा स्वधर्म-रक्षण का अन्योन्य-सम्बन्ध उन्हें जँच गया था लेकिन स्वदेशी उद्योग-धन्धों का व स्वराज्य का पारस्परिक सम्बन्ध उस काल के राजनीति-परिचित साधुओं को भी पटना बहुत संभव न था क्योंकि उस समय जिस पर-राज्य या परकीय साम्राज्य के अन्तर्गत महाराष्ट्र था उसकी नीति स्वदेशी उद्योग-धंधों को नष्ट करके विदेशी माल को खपानेवाले साम्राज्यवाद की नहीं थी। उस समय के परकीय राज्य में स्वकीय राजा या सामन्त वर्ग नष्ट होता था व परकीय राजा आ जाता था। पर-धर्म की स्वधर्म पर चढ़ाई होती थी। मगर उद्योग-धन्धों के कायम रहने के कारण लोगों के जीवन के साधनों का अपहरण नहीं होता था। प्रत्येक गाँव औद्योगिक दृष्टि से

स्वयंपूर्ण ही होता था और इस औद्योगिक नींव के आधार पर वहाँ की परंपरागत संस्कृति टिकी रहती थी। ब्रिटिश साम्राज्य के शासन-काल में गाँवों के उद्योग-धन्धे नष्ट हो गये। गाँवों का कच्चा माल विलायत जाने लगा व विलायत का पक्का माल गाँवों में घुसने लगा। उसके कारण गाँवों में दूकानदारों का अड्डा जमा। दूकानदार किसानों का माल खरीदते समय और उनको माल बेचते समय उन्हें लूटने लगे। धीरे धीरे खेती के सिवाय गाँव के सारे स्वतंत्र उद्योग और किसान के सहायक उद्योग नष्ट होने लगे और अन्त में गाँवों में खेती के सिवा और धन्धा बाकी न रहा। सब लोगों के जीवन निर्वाह का भार खेती पर ही पर पड़ने के कारण जमीन के छोटे छोटे टुकड़े हो गये और ऐसी हालत हो गयी कि साल भर कड़ी मेहनत करने पर भी खेती से किसी का भी पेट न भर पाता। सरकारी लगान हर साल सख्ती से नियमित समय पर पैसे के रूप में वसूल करने की कार्यक्षम राज्य-पद्धति ब्रिटिशों ने जारी कर रक्खी थी जिससे किसानों को मौसम पर सस्ती दर से माल बेचने पर मजबूर होना पड़ता व फलतः दूकानदारों की ओर से उनका और शोषण होने लगा। ग्रामीण जनता के तमाम उद्योग धन्धे नष्ट करना, किसानों के सहायक धन्धे मिटाना और उन्हें सस्ती दर से अपना माल फसल पर बेचने को मजबूर करना तथा मँहगा माल उनके पल्ले बाँधकर प्रकारान्तर से उनका शोषण करना यह सब कानून की रू से ही हो जाता था। ब्रिटिशों के कानून के राज्य की यह एक बाकायदा लूट थी। अंग्रेजों ने जो लूट-मार बन्द की और जिसके हजारों साल तक होते रहने पर भी ग्रामीण जनता सुखी रहती थी, उस बेकायदा लूट-मार की तथा मुहम्मद गज़नी जैसे विदेशी व विधर्मी राजकीय लुटेरों की लूट-मार की अपेक्षा अंग्रेजों की पूर्वोक्त कानूनी लूट ग्रामीण जनता के लिए अधिक हानिकारक सिद्ध हुई और हिन्दुस्तान जैसे उर्वर देश के उस समय के और देशों के गाँवों की अपेक्षा अधिक संपन्न गाँव आधी शताब्दि के शासन-काल में ही उजड़ गये। गाँवों का दूकानदार विदेशी पूँजीवाद का दलाल बन गया और गाँवों के सारे उद्योग-धन्धे नष्ट करके सिर्फ खेती पर ही जिन्दा रहनेवाले किसानों का दुहरा शोषण करने लगा। धीरे धीरे यह किसान कर्जदार

होता गया और उसे आवश्यक कर्ज देने का व्यवसाय दूकानदार ने शुरू किया। दूकानदार व साहुकार ये दो नये धन्धे जोरशोर से चलने लगे और उनके संकीर्ण व्यवहार में पैदा होनेवाले कानूनी मसलों को सुलझाकर पेट भरनेवाला एक नया वकील-वर्ग भी प्रत्येक ताल्लुके में बढ़ने लगा। दूकानदारी, साहुकारी, व वकालत के जाल में फँसा किसान धीरे-धीरे अपनी जमीन गिरवी रखने लगा और रेहन-नामे कानूनी-मार्ग से सस्ती दर के बिक्री-नामे बनने लगे। गाँवों के जीवन में हुई यह क्रान्ति, उसके कारण उजड़े हुए गाँवों के घर और गाँव छोड़कर जानेवाले परिवार यह सारा दृश्य देखकर म० गांधी को यह विश्वास हो गया कि ब्रिटिश संस्कृति शैतानी संस्कृति है और हिन्दुस्तान में स्थापित उसके तार डाक-विभाग, रेलगाड़ी, ये सब गरीब जनता के शोषण के शैतानी साधन हैं। स्वदेशी आन्दोलन शुरू होने के बाद जो स्वदेशी कल-कारखाने देश में बढ़े उनकी बदौलत देहाती जनता की गरीबी व बेकारी दूर होना तो दर-किनार, उलटी बढ़ रही है व इन कल-कारखानों में जिन थोड़े से लोगों को कुछ काम-धन्धा मिलता है वे भी आर्थिक दृष्टि से गुलाम बन गये हैं व उनका नैतिक पतन हो रहा है। जब उन्होंने यह देखा तो हमारे स्वदेशी-आन्दोलन को ग्रामोद्योग-संगठन का रूप दिया। जिन किसानों के सहायक धन्धे ब्रिटिश साम्राज्य-वाद ने नष्ट किये व जिन देहाती पेशेवरों के स्वतंत्र पेशे उसकी बदौलत बरबाद हुए उन वर्गों की उन्नति करना ग्रामोद्योग का ध्येय है। देश के मिल-मालिकों व पूँजीपतियों की रक्षा करके भारतीय जनता का उद्धार नहीं हो सकता, यह सत्य समाजवादी दल के जन्म के पहले ही म० गांधी ने यहाँ के लोगों के हृदय पर अंकित कर दिया था। उनके सत्याग्रही तत्वज्ञान में ऐसी पूँजीवादी समाज-रचना के लिए कोई स्थान नहीं है। यह तत्वज्ञान दुनिया से कहता है कि हिन्दुस्तान का स्वराज्य ही आम जनता की आर्थिक उन्नति का साधन है और आम जनता की आर्थिक उन्नति ही भारतीय संस्कृति की नींव है। म० गांधी इस सत्य को जानते हैं कि प्रत्येक समाज की संस्कृति का पाया उसकी आर्थिक अथवा औद्योगिक रचना पर अवलम्बित रहता है और इसीलिए वे कहते हैं कि भारतीय संस्कृति की नींव ग्रामोद्योग-संगठन पर ही पड़नी

चाहिए। महात्माजी ने स्वदेशी-हलचल का जो यह रूपान्तर किया है उससे यही साबित होता है कि कांग्रेस की राजनीति व अर्थनीति भारतीय पूँजीपतियों के हाथों में नहीं है। पहले कह चुके हैं कि जब से कांग्रेस का नेतृत्व म० गांधी ने लिया है तब से उसकी बागडोर सत्याग्रही-वर्ग के हाथों में चली गयी है। इस सत्याग्रही-वर्ग के नेतृत्व को धनिक-वर्ग का नेतृत्व नहीं कह सकते। योरप के प्रजातन्त्र का नेतृत्व धनिक वर्ग के हाथ में चला गया व इसी से वहाँ की प्रजा-सत्ता को पूँजीवाद व साम्राज्य-वाद का विकृत रूप मिल गया है। इसके विपरीत भारत में, कांग्रेस द्वारा शुरू हुई राष्ट्रीय क्रान्ति का नेतृत्व, पूँजीवाद के हाथों में जो कि इस विदेशी शासन में अभी पनपने ही लगा है, नहीं गया, न जाने का आज कोई चिह्न ही दिखाई देता है। अतः समाजवादियों को जो यह आशंका व ब्रिटिश राजनेताओं को जो यह आशा मालूम होती है कि भारतीय राष्ट्रीयता योरप की राष्ट्रीयता की तरह पूँजीवाद, साम्राज्यवाद या फैसिज्म का रूप धारण कर लेगी, हमें निरर्थक व निराधार लगती है।

भारत का राष्ट्रीय आन्दोलन न तो आज तक यहाँ के पूँजीवाद के नेतृत्व में आया है न आगे आने पावेगा। अपने इस कथन का कारण भी यहाँ स्पष्ट कर दें। योरप व विशेषतः इंग्लैंड तथा फ्रांस में पहले पूँजीवाद का काफी विकास हो चुका था व उसके उद्योग से ही वहाँ प्रजासत्ता की स्थापना हुई। प्रजातंत्र की स्थापना का कार्य वहाँ के मध्यमवर्ग में से उत्पन्न व्यापारी व साहूकार-वर्ग ने किया। इस व्यापारी-साहूकार-वर्ग का ही रूपान्तर बाद में कल-कारखानों व दूकानवालों के पूँजीवाद में हुआ। इस वर्ग ने अपने देश में प्रजासत्ता स्थापित होने पर किसान-वर्ग व आम जनता के साथ विश्वासघात किया व प्रजासत्ता को धनिक-सत्ता का रूप दे दिया। फिर भी उसने वहाँ की जनता की स्थिति आर्थिक दृष्टि से और देशों की अपेक्षा अच्छी कर दी, भले ही उसने अपने साम्राज्यवाद का विस्तार दूसरे पिछड़े देशों में किया व हिन्दुस्तान जैसे श्री-सम्पन्न देश को खूब लूटा और उस लूट का ही कुछ अंश ब्रिटिश जनता की जेब में डाला। इससे इंग्लैंड व फ्रांस की आम जनता एक तरह से वहाँ के धनिक वर्ग से दबी हुई है। वह समझती है कि विजित

देशों की इस लूट के जारी रहने में ही हमारा आर्थिक हित है और इसलिए वह धनिक सत्ता के खिलाफ बगावत करना जरूरी नहीं समझती। वह इतना तो महसूस करती ही है कि दूसरे देशों से हमारी रहन-सहन बढ़ी-चढ़ी है और वह इस साम्राज्य के कारण ही टिक रही है जिसे कि इस पूँजीवाद ने ही कायम किया है । परन्तु हिन्दुस्तान के पूँजीवाद ने ऐसा कोई गुल अभी तक नहीं खिलाया है, न यही संभव है कि उसमें इतना सामर्थ्य कभी आवे । यहाँ तो ब्रिटिश साम्राज्य ने अभी उसका विकास ही ज्यादा नहीं होने दिया है । यहाँ की राजनीति का नेतृत्व उसे कभी मिला नहीं । फिर जब इंग्लैंड जैसे ४-५ करोड के देश ने हिंदुस्तान जैसे तीस-पैंतीस करोड़ के देश का शोषण किया तब कहीं जाकर अपने देश की जनता की जेब कुछ भर सका । इंग्लैंड अथवा फ्रांस के पूँजीवाद ने जिस मार्ग का अवलम्बन किया उसका अनुसरण करके यहाँ की जनता का नेतृत्व करना व उसकी माली हालत थोड़ी-बहुत भी सुधारना यहाँ के पूँजीवाद के लिए अशक्य है; क्योंकि इंग्लैंड को तो अपने से पाँच-सात गुना बड़ा देश लूट के लिए मिल गया था तो अब हिन्दुस्तान के पूँजीवाद को हिन्दुस्तान के ३५ करोड़ की मामूली फाकेकशी भी बन्द करने के लिए हिन्दुस्तान से कितने गुना बड़ा देश चाहिए, व यह कहाँ तक हो सकता है, इसका जरा भी विचार जिसने किया हो वह यह देख लेगा कि भारतीय जनता का नेतृत्व करना और पूँजीवाद के द्वारा उसकी फाकेकशी को रोकना कितना असम्भव है । हिंदुस्तान के किसान व लाखों देहात की गरीब व बेकार जनता की गरीबी व बेकारी की समस्या की तरफ आँखें मूँदकर क्या कोई भी वर्ग हिंदुस्तान का नेतृत्व कर सकता है ? 'नहीं कर सकता' यह बात अगर सही है और गांधीवाद व समाजवाद दोनों मानते हैं कि 'नहीं कर सकता'—तो फिर हिंदुस्तान में पूँजी-प्रधान प्रजा-सत्ता का अथवा प्रजा-सत्ता का स्पष्ट त्याग करके अनियंत्रित धनिक सत्ता उर्फ फैसिज्म का उदय होना अशक्य है, यह निर्विवाद सिद्ध होता है । हमारी कांग्रेस ने जब म० गांधी की सलाह से राष्ट्रीय झण्डे पर 'चरखा' चिह्न मंजूर किया तभी यह स्वीकार कर लिया है कि हमें योरप के पूँजीवाद व साम्राज्यवाद का अनुकरण नहीं करना है । व

उसके अनुकरण से हम अपने देश के करोड़ों नंगों-भूखों के रोटी-कपड़ों का मसला हल नहीं कर सकते। अब कांग्रेस के नेताओं में इस बात पर कोई मतभेद नहीं है कि हमारा देश फैसिज्म के रास्ते नहीं जा सकता। हाँ, सत्याग्रह या समाजवाद, इस पर अलबत्ते मत-भेद है व हमारा यह मत है कि सत्याग्रह व समाजवाद का विरोध नष्ट होकर उनके समन्वय के रूप में ही इस मतभेद का अन्त होगा। फिर भी इस मतभेद का का महत्त्व आज नहीं, स्वराज्य-प्राप्ति के बाद तीव्र हो सकता है; क्योंकि आज तो प्रायः सब समाजवादी मानते हैं कि अभी जो क्रान्ति हिंदुस्तान में हो रही है वह समाज-सत्ता की स्थापना के लिए नहीं, बल्कि राष्ट्रीय प्रजा-सत्ता के लिए है। ऊपर हम यह अच्छी तरह बता ही चुके हैं कि यह आशंका कि यह राष्ट्रीय प्रजासत्ता धनिक सत्ता के चंगुल में फँस जायगी किस तरह बिल्कुल निर्मूल है।

हिन्दुस्तान के सामने आज प्रश्न राष्ट्रीय क्रान्ति व प्रजासत्ता की स्थापना का है। कांग्रेस के गांधीवादी व समाजवादी दोनों इस बात में एक मत हैं कि यह प्रजासत्ता धनिक-सत्ता के हाथ में न चली जाय। मगर ब्रिटिश राजनेता हिंदुस्तान में प्रातिनिधिक शासन-संस्था स्थापित करके अपने देश की धनिक-सत्ता के अधीन प्रजासत्ता यहाँ कायम करने की कोशिश कर रहे हैं। उनकी यह चाल है कि इन प्रातिनिधिक संस्थाओं को असली सत्ता तो दी न जाय लेकिन धारासभा व मंत्रिमंडल बनाकर धनिक-सत्तात्मक राजनीति चलायी जाय जिससे तज्जन्य वर्ग-कलह बना रहकर वास्तविक सत्ता अपने ही हाथों में बनी रहे। इस चाल का जवाब कांग्रेस के पास यह है कि कम से कम तबतक वर्ग-विग्रह न शुरू होने दिया जाय जबतक कि देश में राष्ट्रीय स्वातंत्र्य व असली लोकसत्ता की स्थापना न हो जाय, व प्रचलित क्रान्ति का स्वरूप राष्ट्रीय ही रक्खा जाय। महायुद्ध के बाद ब्रिटिश राजनेताओं ने ऐसे सत्ताहीन न-कुछ मंत्रिमंडल बनाये जो प्रान्तीय धारासभाओं के प्रति जवाबदेह थे। उसमें उनका यही हेतु था; परन्तु इसी समय कांग्रेस ने सत्याग्रह की दीक्षा ले ली व असहयोग की नीति अपनायी। यदि ऐसा न किया होता तो हिन्दुस्तान की प्रातिनिधिक संस्थाएँ यहाँ के धनिक वर्ग के हाथ

में चली गयी होती व राष्ट्र की राजनीति का नेतृत्व भी उसी के पास चला गया होता तथा कांग्रेस धीरे-धीरे खतम हो गयी होती। लेकिन कांग्रेस ने सत्याग्रह की दीक्षा लेकर प्रत्यक्ष प्रतिकार की राजनीति चलायी जिससे ब्रिटिश राजनेताओं की वह चाल न चल पायी। उसके बाद, १९३५ के कानून के द्वारा, अब फिर वही चाल भिन्न रूप में, लेकिन बड़े पैमाने पर ब्रिटिश राजनीतिज्ञों ने चली है। इसके लिए उन्हें बहुतेरे बन्धनों से युक्त क्यों न हो, किन्तु प्रान्तिक स्वराज्य देना पड़ा। जबतक गवर्नर प्रान्तिक मंत्रिमण्डल के काम में दखल न दे तबतक मन्त्रिमण्डल के पास काफी संपत्ति चाहे न हो, पर बहुत-कुछ सत्ता अवश्य आ जाती है। अबतक के अनुभवों ने यह साबित कर दिया है कि इस सत्ता का उपयोग जनता की दरिद्रता, अज्ञान, व दुर्गुणों को मिटाने में अधिक नहीं किया जा सकता तथापि उससे हमारी आजादी की लड़ाई का संगठन करने में फायदा उठाया जा सकता था; क्योंकि प्रान्त की शान्ति-रक्षा की जिम्मेदारी मंत्रिमण्डलों पर थी व कांग्रेसी मंत्रिमण्डल इस बात के लिए बाध्य थे कि जो निःशस्त्र क्रान्तिवादी स्वतंत्रता के लिए काम करते हों उन्हें पूरी नागरिक स्वतंत्रता रहे। इससे उनके कार्य-काल में स्वतंत्रता-युद्ध की पेशबन्दी की जा सकती थी। मगर मंत्रिमण्डल उसके मार्ग की रुकावटें ही दूर कर सकते थे; वैसे वास्तविक विधायक तैयारी तो कांग्रेस की प्रान्तिक व स्थानिक समितियाँ ही कर सकती थीं। यदि उन्होंने यह तैयारी न की होती व संघ-शासन कायम हो गया होता तो ब्रिटिश-राजनेताओं को अभीष्ट वर्ग-विग्रह इस देश में पैदा हो जाता व राष्ट्रीय-संग्राम छिन्न-भिन्न हो गया होता। अब आजादी के सत्याग्रह-संग्राम से जो प्रजासत्ता निर्माण होगी उसका रूपान्तर हमें आशा है कि प्रजा-सत्तात्मक पद्धति से ही समाजसत्ता में हो सकेगा व संसार यह देख लेगा कि राष्ट्रीयता, प्रजासत्ता व समाज-सत्ता तीनों ध्येयों के समन्वय का सामर्थ्य सत्याग्रही-तत्वज्ञान में है।

संघ-शासन की केन्द्रीय सरकार में उत्तरदायी मंत्रिमंडल का तत्व किस हेतु से दाखिल किया गया हैं, इसका विचार करने से यह बात अच्छी तरह समझ में आ सकती है कि उस विधान को ठुकरा देना

राष्ट्रीय दृष्टि से क्यों व किस तरह आवश्यक था। सायमन-कमीशन ने यह योजना बनायी थी कि सिर्फ प्रान्तिक स्वराज्य दिया जाय, केन्द्रीय सरकार में उत्तरदायी मंत्रिमंडल का तत्व बिल्कुल न दाखिल किया जाय। इसके विपरीत सर सेम्युअल होर ने यह बताया है कि हिन्दुस्तान में क्रान्ति-राजनीति न पनपने देने व भारतीय शासन-यन्त्र के सुस्थिर होने की दृष्टि से केन्द्रीय सरकार में उत्तरदायी शासन का सिद्धान्त लागू करना क्यों व किस तरह जरूरी है। ६ फरवरी, १९३५, को गवर्नमेंट आफ इंडिया बिल के दूसरे वाचन के समय उन्होंने अपने भाषण में कहा था—

"हिन्दुस्तान में सच्चा संकट कांग्रेस या कम्यूनिज्म के द्वारा नहीं, अनुत्तरदायी शासन पद्धति की बदौलत खड़ा होगा। जबतक भारतीय धारा सभाओं पर शासन की जिम्मेवारी नहीं डाली जायगी तबतक विध्वंसक टीका व वाहियात अडंगेबाजी ही होती रहेगी। हमारे उपनिवेशों में अनुत्तरदायी पद्धति ही के कारण संकट पैदा हुआ था। अमेरिका के उपनिवेशों में हम पर जो आपत्ति १८वीं सदी में आयी थी उसका कारण भी यही है। हमारा पहला साम्राज्य जो गया उसका कारण धारासभाओं का व सरकार का सम्बन्ध-विच्छेद ही है। इसी पद्धति के कारण कैनेडा में तो हमारा राज्य खतम ही हो चुका था। वहाँ जो अडंगेबाजी व बगावत हुई उसको आप लोग याद कीजिए। ऐसी स्थितियों में असली उपाय यही है कि धारासभाओं पर शासन की जिम्मेदारी डाली जाय। समझदारी का रास्ता यही है।

"हिन्दुस्तान के बारे में भी मेरी यही राय है कि यहाँ यदि प्रान्तीय व केन्द्रीय दोनों सरकारों में उत्तरदायी शासन का तत्व लागू नहीं किया तो हालत और भी विकट हो जायगी। धारासभाएं बिल्कुल विरोधी रुख अख्त्यार करेंगी। इस विरोधी भाव की लहर देश के इस छोर से उस छोर तक बढ़ती चली जायगी।"

इससे केन्द्रीय सरकार में उत्तरदायी मंत्रिमंडल बनाने में ब्रिटिश राजनेताओं की क्या मन्शा थी यह स्पष्ट हो जाता है। यदि कांग्रेस ने इस योजना को स्वीकार कर लिया होता व आजादी की लड़ाई छोड़ दी होती तो उसका नेतृत्व सत्याग्रही पक्ष के हाथ से निकल कर पूँजीवाद

या सामन्तशाही के हाथों में जाता दिखाई देता। किन्तु पूँजीवाद व सामन्तशाही के एजेण्ट जनता व मध्य वर्ग की दाल-रोटी का सवाल हल करने में असमर्थ हैं, इसलिए अन्त में इसका नेतृत्व कम्युनिस्ट पक्ष के हाथ में चला जाता व आगे जाकर कम्युनिस्ट-पद्धति की कोई क्रान्ति होती। परन्तु आज यह सब नहीं हो सकता। आज की भारतीय राजनीति की परिणति सत्याग्रही-पद्धति से राष्ट्रीय प्रजासत्तात्मक क्रान्ति होने के अधिक अनुकूल है। यहाँ तो म० गांधी सत्याग्रह-संग्राम के द्वारा पूर्ण स्वराज्य प्राप्त कर लेंगे, ऐसा दीखता है। आधुनिक भारत में फैसिस्ट या कम्युनिस्ट संस्कृति नहीं पनपेगी, सत्याग्रही संस्कृति ही फले फूलेगी, ऐसा विश्वास वे युवक भारत को व दुनिया को करा देंगे इसका हमें निश्चय है। जबतक कांग्रेस के सूत्र धारासभाओं व मंत्रिमंडलों के द्वारा नहीं, बल्कि अ० भा० कार्य समिति व म० गांधी के द्वारा सञ्चालित होते हैं तबतक यह मानने के लिए कोई आधार नहीं दीख पड़ता कि धारा-सभाओं में धनिक वर्ग घुस जायगा व उसके हाथ में राष्ट्रीय राजनीति की बागडोर आजायगी एवं हिन्दुस्तान में भी योरप की तरह फैसिज्म का बोलबाला होने लगेगा। यहाँ तक तो यह बताया गया कि राजनैतिक व आर्थिक दोनों दृष्टियों से सत्याग्रही कांग्रेस की परणति फैसिज्म में नहीं हो सकती। अब सत्याग्रही तत्वज्ञान की दृष्टि से भी इस प्रश्न पर थोड़ा विचार कर लें।

श्री राय प्रभृति कम्युनिस्टों का मत है कि सत्याग्रही तत्वज्ञान एक आध्यात्मिक तत्वज्ञान है व उसके द्वारा समाज-सत्ता का उदय न होकर हिन्दुस्तान के राष्ट्रवाद को वह फैसिज्म का रूप दे देगा। इसका कारण वे यह बताते हैं कि जर्मनी का नाजी-पक्ष व इटली का फासिस्ट-पक्ष दोनों अध्यात्मवाद का ही आधार लेते हैं। जर्मनी का राष्ट्रवाद हेगेल के आध्यात्मिक तत्वज्ञान में से निकला है और वह पहले ही से क्रान्ति-विरोधी है। इधर आज हिटलर, भी समाजसत्ताक क्रान्ति का विरोध करने के लिए अध्यात्मवाद का ही आश्रय ले रहा है। हिटलर का अध्यात्मवाद वर्णाश्रम-धर्म का क्षात्र-धर्म ही तो है। इस क्षात्र-धर्म का पुजनरुज्जीवन आ हिटलर ने आध्यात्मिक राष्ट्र के नाम पर किया है ध

प्राचीन क्षात्र-धर्म जिस प्रकार शूद्र वर्ग को गुलामी में डालकर सैनिक सत्ता व साम्राज्यवाद की प्रस्थापना करता था उसी तरह म० गांधी के आध्यात्मिक राष्ट्रवाद में से एक ऐसा राष्ट्रवाद या फैसिज्म या नाजीज्म भारत में पैदा हो सकता है जो वर्तमान काल के शूद्र अर्थात् किसान व मजदूर वर्ग को दास बना डालेगा व पूँजीवाद तथा सैनिकवाद जिसका आधार होगा। एक ओर श्री राय आदि भौतिकवादी कम्यूनिस्ट यह सुझाते हैं कि सत्याग्रही कांग्रेस के द्वारा फैसिज्म निर्माण होगा तो दूसरी तरफ श्री केलकर प्रभृति लोकशाही पक्ष के नेता व डा० मुंजे आदि हिन्दू महासभा के कुछ नेता कहते हैं कि लो० तिलक की मृत्यु के बाद सत्याग्रही तत्वज्ञान के कारण कांग्रेस अ-राष्ट्रीय बन गयी है। उनका मत है कि समाजवादी तत्वज्ञान का प्रसार उसमें हो रहा है जिससे कांग्रेस जल्द ही कम्युनिस्ट बन जायगी और कम्युनिज्म तो है जड़ भौतिकवादी तत्वज्ञान, जो कि भारत की राष्ट्रीय संस्कृति से मेल नहीं खाता। इधर फैसिज्म का तत्वज्ञान आध्यात्मिक है और वह कम्यूनिज्म के जड़वाद की अपेक्षा भारतीय संस्कृति के अधिक नजदीक है ऐसा उन्हें प्रतीत होता है। इसलिए वे कहते हैं कि भारतीय संस्कृति के आधार पर प्राचीन क्षात्र धर्म का पुनरुज्जीवन करके हिन्दुस्तान में फैसिज्म की स्थापना करना ही लो० तिलक जैसे राष्ट्रीय नेताओं की विचार-धारा के अधिक अनुरूप होगा। अतः वे हिन्दू महासभा के झण्डे के नीचे भारत के प्राचीन क्षात्र तेज को—अर्थात् यहाँ के राजा-महाराजाओं व जमींदारों को—संगठित करके आर्यावर्त में फिर से आर्य-साम्राज्य स्थापित कर वैदिक धर्म की पताका सारे संसार में फहराने की आकांक्षा हिन्दू युवकों के हृदयों में जाग्रत करने प्रयत्न करते हैं। इस पर हमारा यह स्पष्ट मत है कि लोकशाही-पक्ष या हिन्दू महासभा के कुछ नेता जो फैसिज्म की स्थापना का स्वप्न देखते हैं वह उनका बिल्कुल भ्रममूलक आशावाद है व इधर श्री राय आदि कम्यूनिस्टों को जो यह भय मालूम होता है कि म० गांधी के सत्याग्रही आत्मबल से कांग्रेस का राष्ट्रवाद जनता-विरोधी व क्रान्ति-प्रतिबन्धक अथवा प्रति-क्रान्तिकारी फैसिज्म का रूप धारण कर लेगा वह भी निराधार है। एक पक्ष की इस आशा व दूसरे पक्ष की नीति का कारण है जर्मन

राष्ट्रवाद व भारतीय राष्ट्रवाद का दिखाई देने वाला ऊपरी साम्य व इनमें जो सूक्ष्म भेद है उसकी ओर ध्यान न जाना। वही अब हम यहाँ बताते हैं।

इसमें पहली बात तो हमें यह ध्यान में रखनी चाहिए कि आधुनिक जर्मन राष्ट्रवाद व आधुनिक भारतीय राष्ट्रवाद इन दोनों की उत्पत्ति और अभिवृद्धि बिल्कुल भिन्न-भिन्न परिस्थितियों में हुई है। जर्मन राष्ट्रवाद उस समय जन्मा जब नेपोलियन के द्वारा प्रशिया का पराभव हुआ व योरप में नेपोलियन को शिकस्त होकर स्वतंत्र जर्मन राज्य निर्माण हुआ। वही फिर १९ वीं सदी के अन्त में जर्मन साम्राज्य बना। ऐसे स्वतंत्र सैनिक सत्तात्मक राष्ट्र में उसका जन्म व लालन-पालन हुआ है। जर्मनी में जब से प्रोटेस्टण्ट धर्म-क्रान्ति हुई तब से प्राचीन केथोलिक-पंथी धर्माधिकारियों का प्रभुत्व नष्ट हो गया व वहाँ का नेतृत्व सामन्तों–सरदारों के हाथ में आ गया। फ्रेडरिक दि ग्रेट के समय से वहाँ सैनिक वृत्ति अर्थात् क्षात्र-वृत्ति अधिक बढ़ने लगी व नेपोलियन के पतन के बाद यह सैनिक-भाव फिर तेजी पर आने लगा। जर्मन संस्कृति को, ब्रिटिश संस्कृति की तरह, वैश्य-संस्कृति का रूप कभी प्राप्त नहीं हुआ। फ्रेडरिक दि ग्रेट के समय से आज तक वहां मुख्य रूप से क्षात्र-संस्कृति ही रही है। इस तरह वहाँ की सैनिक-सत्ता की परम्परा बहुत लम्बी है व इस सैनिकवाद में से ही जर्मन महायुद्ध के पहले जर्मन साम्राज्यवाद का निर्माण हुआ व उस महायुद्ध में नष्ट साम्राज्य को पुनः स्थापित करना ही आज की हिटलरशाही का ध्येय है। १००-१५० साल की जर्मन-राष्ट्र की संस्कृति का यह संक्षिप्त इतिहास है। जर्मन-राष्ट्र व जर्मन साम्राज्य के निर्माण में वहाँ की सैनिक सत्ता व पूँजीवाद का बहुत बड़ा हाथ रहा है व वहाँ का पूँजीवाद सैनिकसत्ता की छत्रछाया में बढ़ा है। वहाँ की जनता को अँग्रेज-जनता की ईर्ष्या करने का पाठ जर्मनी के अर्थ-शास्त्री, राज-शास्त्री व ऐतिहासिक मीमांसक इन सबने पिछले १५० साल से लगातार पढ़ाया है। साथ ही यह भी जँचाया है कि जिस तरह ब्रिटिश लोगों ने अपना साम्राज्य फैलाकर अपने देश की जनता की आर्थिक स्थिति सारे संसार की जनता से अच्छी बना ली उसी तरह हमारी जनता की स्थिति बनाने के लिए हमारा साम्राज्य योरप में या उसके बाहर होना चाहिए

और यह आकांक्षा जर्मनी के मध्यम वर्ग व किसान-जनता के व कुछ हद तक मजदूरों में जाग्रत करना हिटलर के लिए शक्य है। इस तरह की परंपरा वाले स्वतन्त्र विजिगीषु राष्ट्र में हेगेल एक अध्यात्मवादी तत्वज्ञ हो गया। वह लो० तिलक अथवा म० गांधी या विपिनचन्द्र पाल जैसे भारत के राष्ट्रीय नेताओं की तरह कर्मयोगी राजनैतिक नेता नहीं था। वह महज तत्वज्ञ पण्डित था। नवीन राष्ट्र-निर्माण के लिए जिस कर्म-प्रवणता की जरूरत होती है वह उसमें नहीं थी। अपने राष्ट्र के प्राचीन इतिहास की मीमांसा करके प्रस्थापित राजसत्ता के गुण गानेवाला व फ्रेंच राज्य-क्रान्ति की वजह से क्रान्तिकारी विचारों से नफरत करनेवाला जर्मन विद्यापीठ का वह एक अध्यापक अथवा राज-सेवक था। वह पण्डित जबरदस्त था मगर अपने पाण्डित्य से क्रान्तिकारी तत्वज्ञान पैदा करने जैसी उसकी क्रान्तिकारी प्रकृति न थी। फिर यह भी मानता था कि हमारी प्रस्थापित राजसत्ता से जनता का हित होगा। वह वेदान्ती था; परन्तु उसके वेदान्त का जन्म प्रस्थापित राजसत्ता से झगड़ने के लिए नहीं हुआ था, बल्कि उसके खिलाफ जो क्रान्ति करना चाहते थे या कर रहे थे उन क्रांतिकारियों का विरोध करके राजसत्ता को बद्धमूल करने में उसने उसका उपयोग किया। उसके बाद जर्मनी में नीत्शे नामक एक भौतिकवादी दार्शनिक उत्पन्न हुआ। वह था तो भौतिकवादी, फिर भी सामाजिक समता, लोकसत्ता, अथवा समाज-सत्ता इन सिद्धान्तों का कट्टर विरोधी था व उसने पूर्ण मानव का जो आदर्श लोगों के सामने रक्खा उसमें न्याय, भूत-दया-समता इन उच्च सद्‌गुणों की कोई गुंजायश नहीं। उसमें सिर्फ एक ही गुण, रजोगुणी सामर्थ्य को श्रेष्ठ स्थान दिया गया है। इसीलिए लो० तिलक ने नीत्शे के 'सुपरमैन' को 'पूर्णावस्था को प्राप्त मानवी जानवर' यह सार्थक नाम दिया है। चातुर्वर्ण्य के ब्राह्मतेज को धता बता के महज क्षात्रतेज को सर्वश्रेष्ठ बनाने का यह फल है। योरपीय व भारतीय संस्कृतियों की तुलना करने से यह दिखाई देगा कि हिन्दू-संस्कृति में ब्राह्मतेज की प्रधानता व योरपीय संस्कृति में क्षात्रवृत्ति की अधिकता है। लेकिन अर्वाचीन इतिहास में ऐसा जान पड़ता है कि ब्रिटिशराष्ट्र में वैश्यवृत्ति की प्रधानता हो गयी है व जर्मनी, आस्ट्रिया,

इटली इन राष्ट्रों में इस वैश्ययुग में भी क्षात्रवृत्ति ही प्रबल रह गयी है। इस परम्परा में से ही आज जर्मनी व इटली इन देशों में फैसिज्म का जन्म हुआ है। वहाँ के राष्ट्रवाद को साम्राज्यवाद का विकृत स्वरूप मिलने के लिए अनुकूल आर्थिक व राजनैतिक कारण भी हैं। पीछे हम बता ही चुके हैं कि इनमें से एक भी आर्थिक या राजनैतिक कारण हिन्दुस्तान में राष्ट्रवाद की विकृति साम्राज्यवाद में होने के लिए मौजूद नहीं है। अब यहाँ यह स्पष्ट करना उचित होगा कि जिस वेदान्त-दर्शन के आधार पर आज तक भारतीय राष्ट्रवाद का पोषण हुआ है उसका आधुनिक स्वरूप हेगेल प्रभृति जर्मन वेदान्तियों के अध्यात्मवाद से कैसा भिन्न है।

आधुनिक भारतीय राष्ट्रवाद का निर्माण परतंत्र राष्ट्र में हुआ। शुरू से लेकर अब तक उसका ध्येय अपने राष्ट्र का वैभव बढ़ाने के लिए साम्राज्य स्थापित करना नहीं, बल्कि विदेशी साम्राज्य से अपना छुटकारा करा लेना रहा है। हिन्दुस्तान में इस युग में जो वेदान्त का पुनरुज्जीवन हुआ है वह प्रस्थापित राजसत्ता का समर्थन करने की भावना से नहीं, बल्कि उसको उखाड़ डालने की व स्वराज्य-संस्थापना के प्रयत्नों को गति देने की भावना से हुआ है। इसीलिए हेगेल की यह राजनैतिक उपपत्ति कि राजाज्ञा अपनी अन्तरात्मा की आज्ञा है और राजसत्ता द्वारा मिली सज़ा अन्तरात्मा की प्रेरणा से अथवा आन्तरिक न्याय-बुद्धि का उल्लंघन करने के कारण मिली सज़ा है, आधुनिक भारतीय वेदान्त में नहीं आने पाई। इसके बखिलाफ अपनी अन्तरात्मा के आदेश को पालने के लिए प्रस्थापित राजसत्ता के अन्यायी बन्धनों को तोड़ना ही हमारा आध्यात्मिक कर्तव्य है, यह बतानेवाली क्रान्तिकारी आध्यात्मिक राजनैतिक उपपत्ति आधुनिक भारत के वेदान्त से जन्मी। इस आधुनिक भारतीय वेदान्त से सत्याग्रह का निःशस्त्र क्रान्ति-शास्त्र ही नहीं बना बल्कि सशस्त्र क्रान्ति-शास्त्र का भी पोषण आज तक उसी के आधार पर होता आया है। आधुनिक भारत के इस इतिहास को नजरअन्दाज करके, चूँकि जर्मनी के हेगेल-प्रतिपादित अध्यात्मवाद के द्वारा क्रान्ति-प्रतिबन्धक अथवा क्रान्ति-विरोधी तत्वज्ञान का जन्म हुआ, इसलिए हिन्दुस्तान में भी ऐसा ही

होगा यह कहना ऐतिहासिक दृष्टि से सुसंगत या तर्क-शुद्ध नहीं जान पड़ता। मैजिनी अध्यात्मवादी था व सशस्त्र क्रान्तिवादी भी था। मैजिनी के तत्वज्ञान के अनुसार हिन्दुस्तान में पहले सशस्त्र क्रान्तिवाद का जन्म हुआ था। थोड़े में कहें तो भारतीय वेदान्त का निदान वर्तमान स्वरूप क्रान्तिवादी ही है, व हेगेल के क्रान्ति-विरोधी वेदान्त से वह बिल्कुल जुदा है।

यहाँ तक जर्मनी की बात हुई, अब यह देखें कि इटली के आधुनिक राष्ट्रवाद का इतिहास आधुनिक भारत के इतिहास से किस तरह भिन्न है। इटली में मैजिनी ने राष्ट्रवाद कायम करने का जो प्रयत्न किया उसका रूप आध्यात्मिक व प्रजातन्त्रात्मक ही था। परन्तु बाद में शीघ्र ही वह सामन्तशाही राष्ट्रवाद के रूप में परिणत हो गया व इसके बाद इटली यद्यपि स्वतंत्र हो गया, तो भी वहाँ मैजिनी के अभीष्ट आध्यात्मिक राष्ट्रवाद की जड़ नहीं जमी। विक्टर इमेन्युएल, कैवूर, गैरीबाल्डी, इनकी षड्यन्त्री बुद्धि व सैनिकवादी वृत्ति से आधुनिक इटली का राष्ट्रवाद पैदा हुआ। मैजिनी के स्वप्न की प्रजासत्तात्मक क्रान्ति इटली में नहीं हुई व म० गांधी ने जैसा कहा है, मैजिनी का इटली अभी गुलाम ही बना हुआ है। महात्माजी १९०९ में लिखे अपने 'हिन्दस्वराज्य' में इटली के इतिहास के संबंध में इस तरह लिखते हैं:—"मेजिनी महात्मा था; गैरीबाल्डी भी बड़ा योद्धा था। वे दोनों पूजनीय थे। उनके जीवन से हम बहुत-कुछ सीख सकते हैं। मगर इटली की दशा हिन्दुस्तान की दशा से भिन्न थी। पहली बात तो यही है कि मैजिनी व गैरीबाल्डी में जो भेद था वह हमें जानना चाहिए। मैजिनी का मनोरथ और था। मैजिनी जो चाहता था वह इटली में नहीं हुआ। मनुष्य के कर्तव्यों पर लिखते हुए मैजिनी ने बतलाया है कि हरेक मनुष्य को अपने ऊपर राज करना सीखना चाहिए। यह इटली में नहीं हुआ। लेकिन गैरीबाल्डी मैजिनी के उस विचार का पाबन्द नहीं था। उसने हरेक इटालियन को हथियार दिये और हरेक इटालियन ने उसे ग्रहण किया। ××× अगर आप यह मानते हैं कि इटली में इटलीवालों का राज्य होने के कारण इटली की प्रजा सुखी है तो मैं आप से कहूँगा कि आप अँधेरे में भटक रहे हैं। मैजिनी ने तो बड़ी अच्छी तरह

यह बतलाया है कि इटली मुक्त नहीं हुआ। यह जरूर है कि इटली का विक्टर इमेन्युअल ने एक अर्थ किया है और मैजिनी ने दूसरा। इमेन्युअल, कैवूर और गैरीबाल्डी के मतानुसार तो इटली का मतलब था सिर्फ उसका राजा इमेन्युअल और उसके नौकर-चाकर, जबकि मैजिनी के विचारानुसार इटली का मतलब था इटली की समस्त प्रजा, यानी उसका किसान वर्ग, और इमेन्युअल आदि तो सिर्फ उसके नौकर थे। मैजिनी का इटली तो अभी भी गुलामी की ही दशा में है। × × वहाँ के मजदूर अभी भी मुसीबत में ही हैं। उनकी पुकार कोई नहीं सुनता। इसलिए वे खून, विद्रोह और सिर फुटौवल करते हैं और उनके बलवे का डर सदा बना रहता है। × × × वहाँ की जनता की स्थिति अब भी आम तौर पर वैसी ही बनी हुई है। मुझे विश्वास है कि आप यह न चाहते होंगे कि हिन्दुस्तान में वह स्थिति लायी जाय। आप यही चाहते हैं कि हिन्दुस्तान के करोड़ों लोग सुखी हों। मैं मानता हूँ कि आप सिर्फ इतना ही नहीं चाहते कि सरकार की बागडोर हमारे हाथ में आजाय। यह सही हो तो फिर हमें इस बात का विचार करना चाहिए कि हिन्दुस्तान के करोड़ों लोगों को स्वराज्य कैसे मिले। अनेक देशी राजा जनता को कुचल रहे हैं। उनका जुल्म अँग्रेजों से भी ज्यादा है। यदि हिन्दुस्तान में इस जुल्म को आप सहन करते हों तो आप की मेरी नहीं पट सकती। मेरी देशभक्ति मुझे यह नहीं सिखाती कि अँग्रेज तो हिन्दुस्तान से निकल जायें व भारतीय जनता देशी-राजाओं के पैरों तले रौंदी जाय। यदि मुझ में बल होगा तो देशी-राजाओं के जुल्मों का भी उसी तरह मुकाबला करूँगा जिस तरह अँग्रेजों का। मेरी देशभक्ति का अर्थ है सारी जनता का हित। × × × × फिर हिन्दुस्तान इटली की तरह लड़ाई उसी हालत में कर सकता है जब उसके पास हथियार हों। आप ने इस बात का विचार ही नहीं किया है। अँग्रेजों के यथेष्ट शस्त्रास्त्र हैं। लेकिन उनका मुझे डर नहीं है। परन्तु हमें उनसे लड़ने के योग्य बनने के लिए हजारों हिन्दुस्तानियों को हथियार देने होंगे। यह सम्भव हो तो भी इसमें कितने साल लगेंगे? फिर बहुत बड़े पैमाने पर हिन्दुस्तान को शस्त्र-सज्जित बनाना मानों उसे योरपीय संस्कृति की दीक्षा देना ही है।"

इस उद्धरण से यह अच्छी तरह मालूम हो जाता है कि म० गांधी ने इटली के आधुनिक इतिहास से क्या नसीहत ली है। वे मैजनी की तरह शुद्ध प्रजासत्तात्मक क्रान्ति चाहते हैं। मैजिनी की तरह वे अध्यात्म-वादी भी हैं मगर सशस्त्र क्रान्तिवादी नहीं। वे नहीं मानते कि गैराबाल्डी की तरह सर्व-साधारण को हथियार देकर प्रजासत्तात्मक क्रान्ति की जा सकती है। विक्टर इमेन्युअल जैसे राजा या सामन्तों के राजदरबारी षड्यन्त्रों से या उनके मातहत राजनीतिज्ञों के द्वारा आधुनिक भारत का निर्माण हुआ तो उनका यह मत है कि उससे प्रजासत्तात्मक राज्य की स्थापना न होकर सामन्तशाही का बोलबाला होगा। वे योरप की सैनिक सत्ता व पूँजीवाद के घोर शत्रु हैं। वे नहीं समझते कि इस योरपीय संस्कृति के द्वारा आधुनिक भारत का उद्धार हो सकता है। उन्हें आत्म-विश्वास है कि भारत में प्रजातन्त्र भारतीय जनता को शस्त्र-सज्जित कर देने से नहीं स्थापित होगा, बल्कि आत्मबल के संगठन के द्वारा होगा व उस संगठन से उत्पन्न सर्वव्यापी असहयोग-संग्राम व सविनय कानून भंग के द्वारा हम ब्रिटिश साम्राज्य की जगह भारतीय स्वराज्य स्थापित कर लेंगे। भारतीय स्वराज्य की रक्षा के लिए उन्हें अँग्रेजों की सहायता की भी जरूरत नहीं मालूम होती। वे मानते हैं कि भारतीय जनता का आत्मबल संगठित हो गया व उससे प्रजातन्त्रात्मक क्रान्ति हो गयी तो यह राष्ट्रीय प्रजासत्तात्मक स्वराज्य विदेशी हमलों से हमारी रक्षा कर सकेगा और हमारे देश में यदि किसी ने सैनिक-सत्ता व पूँजीवाद को फैलाने का उद्योग किया तो उसका भी मुकाबला कर सकेगा। इसी दृष्टि से म० गांधी सत्याग्रह की दीक्षा लेनेवाले आजन्म क्रान्तिकारी लोगों के नेतृत्व में सामान्य जनता के आत्मबल अर्थात् अहिंसात्मक प्रत्यक्ष प्रतिकार को संगठित करने का काम गत बीस साल से हिन्दुस्तान में कर रहे हैं। इस कार्य की बुनियाद पर ब्रिटिश साम्राज्य से अन्तिम शान्ति-संग्राम ठानने का अवसर आ गया है व सारे संसार की राजनीति में इस शान्तिमय क्रान्ति का महत्त्व बढ़ रहा है। विश्व की वर्तमान राजनैतिक परिस्थिति भारतीय स्वातन्त्र्य की निःशस्त्र क्रान्ति के अनुकूल है व वह बढ़ती ही रहेगी। मानवी संस्कृति अब सैनिक सत्ता व पूँजीवाद से ऊब उठी है।

योरपीय इतिहास से यह सिद्ध हो गया है कि क्षत्रवृत्ति व वैश्यवृत्ति के अनियंत्रित संगठन से वास्तविक प्रजासत्ता नहीं पैदा हो सकती और जनता के ब्राह्मतेज अर्थात् आत्मबल को संगठित करने का मार्ग छोड़कर केवल शस्त्र-बल या द्रव्यबल पर खड़ी योरपीय संस्कृति, संगठित आत्मबल के अभाव में, आज योरप में नामशेष होने लगी है। अखिल योरप में शान्ति व सुख का साम्राज्य प्रस्थापित करने का मार्ग तो यही है कि वहाँ की जनता का आत्मबल संगठित किया जाय व शान्तिमय प्रतिकार के द्वारा सच्ची लोकसत्ता व समाजसत्ता कायम की जाय। परन्तु ऐसे साम्राज्य को प्रस्थापित करने के लिए आवश्यक आत्मबल, इस पद्धति के अनुसार जनता का नेतृत्व करने वाला तपोनिष्ठ नेता व उसके आदेशानुसार आम जनता का संगठन करके आत्मबल पर राजनैतिक व आर्थिक जुल्मों का प्रतिकार करने की तालीम देनेवाला सत्याग्रही-दल आज योरप में दिखाई नहीं देता। इससे ऐसा नहीं लगता कि योरप अपनी संस्कृति को रसातल जाने के संकट से बचा सकेगा। संसार में योरपीय नेतृत्व का जमाना पिछले महायुद्ध के बाद ही खतम हो गया। अब भरत खण्ड के सत्याग्रही क्रान्तिकारियों को यह आशा होने लगी है कि आगे का समय भारतीयों के नेतृत्व का आवेगा। जर्मनी या इटली का अनुकरण आज यहाँ का कोई भी समझदार नेता नहीं कर रहा है व हम यह नहीं मानते कि यहाँ सामन्तशाही व पूँजीवाद के हाथों में कुछ शासन-सत्ता देकर अपने साम्राज्यवाद व पूँजीवाद की रक्षा करने का ब्रिटिश राजनेताओं का उद्योग असफल बनाये बिना व हिन्दुस्तान में प्रजासत्तात्मक पूर्ण स्वराज्य की स्थापना किये बिना सत्याग्रही कांग्रेस खामोश बैठ जायगी।

अब तक यह स्पष्ट किया गया कि हिन्दुस्तान का राष्ट्रवाद इटली-जर्मनी के राष्ट्रवाद से कैसा भिन्न है बल्कि उसका तत्वज्ञान, उसका कार्य व भावी स्वरूप सभी किस तरह भिन्न है। आधुनिक भारत के जन्म से लेकर अब तक उसकी राष्ट्रीयता का आधार क्षात्र-वृत्ति थी। वैश्य-वृत्ति न कभी रही, न आज है; बल्कि आज तो म० गांधी भारत के आत्मबल अथवा ब्राह्म-तेज को संगठन करने का काम कर रहे हैं और उनका राज-नैतिक तत्वज्ञान हेगेल के प्रतिगामी राजनैतिक तत्वज्ञान से बिलकुल भिन्न

बल्कि बिलकुल विरुद्ध है। हेगेल राजसंस्था को लोगों की न्याय-बुद्धि का मूर्त्त प्रतीक मानकर उसे सनातन समझता है व उसके खिलाफ बगावत करने के अधिकार का विचार उसके मन में नहीं आता है। हेगेल की दृष्टि से महात्मा गांधी का सत्याग्रही तत्त्वज्ञान क्रान्तिकारक बल्कि अराजक है; क्योंकि महात्मा गांधी का आध्यात्मिक, राजनैतिक, सामाजिक तत्त्वज्ञान इस प्रकार है—कोई भी राजसंस्था पूर्णतः न्याय की स्थापना नहीं कर सकती इसलिए दंडहीन समाज-रचना अथवा राजसंस्था का अत्यन्त अभाव ही मानव-समाज की पूर्ण अवस्था है। महज़ अध्यात्मवादी हैं इसलिए उसकी तुलना हेगेल के तत्त्वज्ञान से अथवा हिटलर व मुसोलिनी मुँह से अध्यात्मवाद का जप करते हैं इसलिए हिन्दुस्तान में सत्याग्रही तत्त्वज्ञान के द्वारा इटली या जर्मनी की तरह फासिज्म निर्माण होगा ऐसी आशा या आशंका रखना स्थूल दृष्टि है। भारतीय व योरपीय संस्कृति के सूक्ष्म-भेद को ध्यान में न रखकर, आधुनिक जर्मनी, आधुनिक इटली व आधुनिक भारत के पिछले सौ सवा सौ साल के इतिहास का विचार न करके और जिस परिस्थिति में पूर्वोक्त तीन देशों में राष्ट्र-वाद की उत्पत्ति व अभिवृद्धि हुई और जिस खास परिस्थिति के कारण जर्मनी व इटली में राष्ट्रीय व प्रजासत्तात्मक संस्कृति विकृत हो गयी उसका व आधुनिक भारत की परिस्थिति का भेद ध्यान में न रखकर यह निष्कर्ष निकाला गया है।

आज का आधुनिकभारत एक राष्ट्रीय स्वरूप की क्रान्ति में लगा हुआ है व उसकी इसी अवस्था में अब तक सत्याग्रही तत्त्वज्ञान का विकास हुआ है। इससे सत्याग्रहीपक्ष इस देश की सामन्तशाही व पूँजीवाद का खुला सामना करने के लिए खड़ा नहीं होता है व जब तक राष्ट्रीय स्वतंत्रता का पक्ष हल नहीं हो जाता तब तक वह वैसा करेगा भी नहीं। इस कारण ऐसा आक्षेप कुछ लोग कर सकते हैं कि यह सत्याग्रही तत्त्वज्ञान अथवा सत्याग्रही पक्ष सामंत-शाही या पूँजीवाद का एजेण्ट है या हो जायगा, परन्तु वह निराधार है। हिन्दुस्तान यदि आजाद होता व योरप की तरह स्वदेशी सैनिक सत्ता व पूँजीवाद के अन्याय व जुल्म से आम जनता कुचली जाती होती तो संसार को आज यही दृश्य दिखाई देता कि सत्याग्रही तत्त्वज्ञान व सत्याग्रही पक्ष उस सैनिक-सत्ता व पूँजी-

वाद के खिलाफ खुली बगावत कर रहा है एवं संसार को यह विश्वास हो गया होता कि सत्याग्रही तत्त्वज्ञान सच्ची प्रजा-सत्ता व समाज-सत्ता का हामी है। आज भी यह कहना सच नहीं है कि सत्याग्रही-पक्ष व सामन्त-शाही तथा पूँजीवाद में कोई विरोध नहीं। पूर्ण स्वराज्य प्राप्त करने की एक बड़ी लड़ाई में व्यस्त रहते हुए जिस अंश तक यह विरोध करना अनिवार्य व आवश्यक है उसी अंश तक वह आज कर रहा है; व विदेशी सत्ता से लड़ने में जिस अंश तक सफलता हो रही है व होती जायगी उस अंश तक सत्याग्रही तत्त्वज्ञान व उससे उत्पन्न जनता का संगठित आत्मबल स्वदेशी सामन्तशाही व पूँजीवाद से आम जनता की ओर से लड़ता ही रहता है और लड़ता ही रहेगा।

हिन्दुस्तान में जिस स्वराज्य की स्थापना होगी वह प्रजा-सत्तात्मक होगा व उसमें जो राजे-रजवाड़े या पूँजीपति होंगे भी तो वे महज जनता के सेवक व वाली (Trustee) के तौर पर ही रहेंगे। मालिकों के रूप में जनता को अपना मजदूर बनाकर उस पर अपनी मनमानी सत्ता चलाने-वाली सामंतशाही व पूँजीवाद के रूप में नहीं रहेंगे यह बात महात्मा गांधी ने अनेक बार खुलकर कही है। मगर हाँ, शुद्ध बौद्धिकवाद की दृष्टि से राजा-महाराजा जमींदार व पूँजी-पति आदि समाज में न रहें इस समाजवादी तत्त्वज्ञान के कायल म० गांधी नहीं हैं तथापि धनिक व जमींदार वर्ग को समाज के सेवक व वाली के रूप में समाज में रहना चाहिए ऐसा उनका मत है। उनके इस मत के अनुसार इस वर्ग का स्वामित्त्व तो रहता नहीं है व वाली के रूप में भी कब तक रहें अथवा समाज ने जो थाती (Trust) उनको सौंपी है वह कब उनसे बिलकुल हटा ली जाय और उनके काम की स्वतंत्र व्यवस्था अपने वैतनिक कर्मचारी के द्वारा करावें इसका निर्णय समय समय पर तत्कालीन लोक-मत के अनुसार किया जाय, यह प्रजा-सत्ता का सिद्धान्त भी सत्याग्रही तत्त्वज्ञान में समाविष्ट होता है। फिर भी म० गांधी जो यह नहीं कहते हैं कि देश की सब जमीन, खान और कारखानों का राष्ट्रीकरण किया जाय उसके अनेक कारण हैं और इस प्रश्न की ओर देखने का उनका दृष्टिकोण शुद्ध बुद्धिवादी समाजवादियों से मूलतः ही भिन्न है। फिर भी

यह मतभेद अथवा दृष्टिभेद हमें समाजवाद के बिलकुल प्रतिकूल नहीं मालूम होता, जैसा कि लोग समझते हैं। इसकी सविस्तर चर्चा हम अगले प्रकरण में करेंगे। यहाँ इतना ही कहना काफी है कि जिस प्रकार उनके राजनैतिक तत्त्वज्ञान में राजा अथवा दंडधारी राजसंस्था इनके लिए अन्तिम दृष्टि से स्थान नहीं है उसी तरह उसमें निजी सम्पत्ति को भी अन्तिम दृष्टि से स्थान नहीं है। सत्याग्रही नीतिशास्त्र अनुसार निजी संपत्ति चोरी के सिवा कुछ नहीं है। फिर धनिक, राजे-रजवाड़े या जमींदार सरदार-वर्ग को समाज का वाली या सेवक बनाया जाय, इस विचार में भी यह समाजवादी तत्त्व समाया हुआ है कि महज स्वामित्व के अधिकार के बल पर सामाजिक सम्पत्ति का उपभोग भी समाज की सेवा के बिना नहीं किया जा सकता। आज सत्याग्रही व समाजवादी पक्ष में जो मतभेद दिखाई देता है वह सारभूत नहीं, व्यावहारिक और ऊपरी ही है। सत्याग्रही व समाजवादी तत्त्वज्ञानों में जो विशेष विरोध प्रकट होता है उसका मूल कारण सत्याग्रह की यह व्यवहार-नीति है कि हमारी लड़ाई का रूप शुद्ध राष्ट्रीय ही रहे, वर्ग-विग्रह का अधिक संकीर्णरूप वह प्राप्त न करे। उसी तरह समाजवाद की प्रस्थापना हो या न हो यह प्रश्न आज की व्यावहारिक राजनीति में अत्यन्त तीव्र नहीं है, बल्कि अगर देश के किसान-मजदूर वर्ग को यह आश्वासन दिया जाय कि राष्ट्रीय प्रजा-सत्तात्मक स्वराज्य में उन्हें सामंतशाही व पूँजीवाद के अन्याय व शोषण का शिकार न होना पड़ेगा व यह वर्ग जनता का मालिक नहीं सेवक बनकर रहेगा और जनता के हित से इस वर्ग का विरोध होगा तब कांग्रेस अथवा प्रजासत्तात्मक भावी सरकार का कर्त्तव्य होगा कि वह जनता का पक्ष लेकर इस वर्ग का विरोध करे, तो आज की राजनीति चल सकती है। सत्याग्रही पक्ष की दृष्टि यह है कि आज यदि शुद्ध बुद्धिवादी समाजवाद की आवाज कांग्रेस ने बुलन्द की तो उससे मौजूदा राजनीति व राष्ट्रीय-संग्राम में अकारण विघ्न उपस्थित होंगे। आज के हिन्दुस्तान में जो सत्याग्रही तत्वज्ञान उदय हुआ है वह यदि स्वतंत्र हिन्दुस्तान में हुआ होता तो उसका स्वरूप ऐसा ही रहा होता अथवा हिन्दुस्तान के स्वतंत्र हो जाने पर ऐसा ही बना रहेगा, ऐसा हमें नहीं लगता।

किसी भी सामाजिक व राजकीय सुधार में सुधारेच्छु के मन में दो प्रवृत्तियाँ पैदा हो सकती हैं । एक तो यह कि पहले की सामाजिक व राजनैतिक संस्थाओं के बाह्य स्वरूप को कायम रखकर उन्हीं के अन्दर नवीन तत्त्वों का प्रवेश किया जाय व उनके अन्तरंग में क्रान्ति कर दी जाय। सुधार की यह एक वृत्ति या पद्धति हुई । शुद्ध बुद्धिवाद की दृष्टि से यह गौण और बहुधा खतरनाक मालूम होती है। फिर भी इस ढंग से सामाजिक, धार्मिक या राजनैतिक संस्थाओं के अन्तरंग में क्रान्ति कराने या हो जाने के अनेक उदाहरण संसार के इतिहास में पाये जाते हैं। अंग्रेजों ने अपने राजसत्ताक राज्य-संगठन का अन्तरंग आमूल बदल डाला व उसे प्रजा-सत्तात्मक बना डाला। हमारे वेदान्त ने अपढ़ जातियों में रूढ़ मूर्ति-पूजा को, अनेक देवताओं के विविध संप्रदायों को, बाह्यतः क्षति न पहुँचाते हुए सामान्य जनता में 'अहं ब्रह्मास्मि', इस सर्वश्रेष्ठ सिद्धान्त के प्रचार का प्रयत्न किया। भागवत्-धर्मी साधु-सन्तों ने वर्णाश्रम-धर्म की पुरातन चौखट को बाह्यतः कायम रखकर गौतम बुद्ध की भूत-दया, सामाजिक समता और अहिंसा का समर्थन किया और इसी काम को और आगे बढ़ाकर म० गांधी, वर्णाश्रम-धर्म व रामराज्य इन पुराने शब्दों के आधार पर २० वीं सदी के अनुरूप सामाजिक समता व प्रजा-सत्ता का प्रचार भारतीय जनता में कर रहे हैं । मतलब यह है कि सामाजिक, धार्मिक व राजनैतिक संस्थाओं का असली बाह्य स्वरूप कायम रखकर उनके अन्तरंग में क्रान्ति करने की सुधार-वृत्ति व पद्धति संसार के इतिहास में मिलती है, एवं यह वृत्ति अंग्रेजों और हिन्दुओं में अनेक वर्षों की परम्परा से चली आयी है। श्रीकृष्ण, शंकराचार्य व भागवत्-धर्मी साधु-सन्तों ने इसी वृत्ति का अवलंब व फैलाव, हिन्दू-समाज में किया। लो० तिलक व म० गांधी ने इसी का अनुसरण करके सामाजिक धार्मिक विषयों में विदेशी-सत्ता के खिलाफ राष्ट्रीय क्रान्ति का कार्य आधुनिक भारत के इतिहास में हददर्जे तक पहुँचाया है। हिन्दुस्तान के परतंत्र होने के कारण व हमारी संस्कृति में सर्वांगीण क्रान्ति करना आवश्यक हो तो भी राष्ट्रीय स्वतंत्रता प्राप्त होने तक वह असम्भव है इसलिए सिर्फ राजनैतिक विषय को छोड़ कर दूसरे

सुधार-कार्यों में यह वृत्ति व पद्धति ग्रहण करना उन्हें आवश्यक मालूम हुआ। लो० तिलक व म० गांधी के एक ओर राजनैतिक क्रान्तिवाद का और दूसरी ओर से सामाजिक, धार्मिक या आर्थिक क्षेत्रों में नरम वृत्ति का खुलासा इसमें हो सकता है व यही उसका वास्तविक समर्थन व कारण है। राजनैतिक के अलावा दूसरे सुधारों का विरोध उसका वास्तविक कारण नहीं है।

इस सुधार-पद्धति से भिन्न एक शुद्ध-बुद्धिवादी क्रान्तिकारी वृत्ति है। प्राचीन भारत में गौतम बुद्ध ने इसी को अंगीकार किया था लेकिन हमें ऐसा मालूम होता है कि आधुनिक भारत की सब समस्याएँ इस बुद्धिवादी क्रान्तिकारी वृत्ति का अवलंब लिये बिना हल हो जायँगी। फिर भी हम मानते हैं कि बुद्धिवादी क्रान्तिकारी वृत्ति, सशस्त्र क्रान्तिवादी न होते हुए, सत्याग्रही रह सकेगी व उसके वैसा रहने में ही भारत का वास्तविक हित व माहात्म्य है। इस क्रान्तिकारी बुद्धिवाद की बुनियाद पर आधुनिक राष्ट्रवाद की इमारत खड़ी करने का प्रयत्न महाराष्ट्र में सबसे पहले स्वर्गीय आगरकर ने किया व आज ऐसा प्रयत्न समाजवादी नेता कर रहे हैं। पहला प्रयत्न व्यक्तिवादी व आज का समाजवादी है। इस भेद के बावजूद दोनों प्रयत्नों का अन्तरंग एक ही है। आगरकर के समय में लो० तिलक को यह आशंका हुई थी कि बुद्धिवादी क्रान्तिकारी वृत्ति के फैलने से भारतीय संस्कृति की मूल प्रकृति नष्ट हो जायगी व उसी तरह का भय समाजवाद पक्ष के सम्बन्ध में आज म० गांधी के सत्याग्रह पक्ष को मालूम होता है। इसके बर्खिलाफ़ आगरकर को यह डर मालूम होता था कि लोकमान्य के प्रयत्नों के फलस्वरूप कहीं भारत के इतिहास का अन्धानुकरण न होने लगे जिससे हम या हमारी संस्कृति संसार की संस्कृति में पिछड़ जावें। यही भीति आज समाजवादी पक्ष को म० गांधी के कार्यों के विषय में है। फिर भी आज दोनों पक्षों को ऐसा डर लगने का कारण नहीं रह गया है। इसलिए हमारा यह मत है कि प्राचीन भारत की आत्म-प्रेरणा का उद्धार करनेवाला पक्ष व बुद्धिवाद का आश्रय लेकर हमारी व संसार के इतर राष्ट्रों की संस्कृति का निर्विकार भाव से तुलनात्मक अध्ययन करके आगे बढ़ने वाला पक्ष इनमें द्वैत-भाव फैलने का या व्यावहारिक विरोध उत्पन्न होने का समय अब नहीं रहा है।

लो० तिलक, योगी अरविन्द घोष व म० गांधी के प्रयत्नों से भारतीय संस्कृति का उज्वल अंग संसार के सामने आ गया है व पश्चिमी संस्कृति का कृष्ण अंग संसार ने देख लिया है। हिन्दुस्तानियों के अन्तःकरण में आज स्वतंत्र इतिहास निर्माण करने की आत्म-प्रेरणा पूर्णतः जाग्रत हो गयी है व उसके राष्ट्रवाद का अनुकरणात्मक स्वरूप म० गांधी के नेतृत्व ग्रहण करने के बाद से नष्ट हो गया है। अब यह डर बाकी नहीं रहा कि आधुनिक भारत आज या कल हमारे प्राचीन इतिहास का अथवा संसार के किसी भी राष्ट्र के आधुनिक इतिहास का अन्धानुकरण करेगा। स्वतंत्र इतिहास निर्माण करके संसार को नूतन संदेश देने की आत्म-प्रेरणा उसमें जाग्रत हुई है व पिछले १५-२० साल में राष्ट्रीय स्वतंत्रता के संग्राम से सत्याग्रह का जो एक अपूर्व क्रान्ति-शास्त्र तैयार हो गया है उसकी बदौलत सारे संसार का ध्यान उसकी ओर गया है व उसे तथा संसार को अनुभव होने लगा है कि ऐसा स्वतंत्र निर्माण करने की आत्म-प्रेरणा उसके पास है। वह यह जानता है कि इस आत्म-प्रेरणा को शुद्ध बुद्धिवाद की दीक्षा देने का समय आज आ गया है व अकेले श्रीकृष्ण की ही नहीं बल्कि गौतम बुद्ध की भी परंपरा का चलाना आधुनिक भारत का कर्तव्य है। अगले प्रकरण में हम यह बात अधिक विस्तार से समझावेंगे।

: १२ :

भारतीय संस्कृति का अमर तत्त्व

प्राचीन भारत में गुणी, विद्वान् व साहसी पुरुष थे। उसी तरह राजनीतिज्ञ राजा-महाराजा भी थे। इनमें से किनकी ओर मानव जीवन का आदर्श पाने के लिए देखते थे? ऋषि-मुनियों की ओर।

—रवीन्द्रनाथ ठाकुर।

हिन्दुस्तान के पतन का कारण बौद्धों और ब्राह्मणों का अलग-अलग होना है। यही कारण है जो हिन्दुस्तान में ३००,०००,००० भिखारी हैं व इसीलिए हिन्दुस्तान पिछले १००० वर्षों से भिन्न-भिन्न विजेताओं का गुलाम हो

रहा है। अतएव हमें चाहिए कि हम ब्राह्मणों के अद्भुत बुद्धि ज्ञान का बुद्ध के विशाल हृदय, उच्च आत्मा एवं उनके मानवी गुणों का निर्माण करने की अद्भुत शक्ति के साथ संयोग कर दें।

—स्वामी विवेकानन्द।

भरत खंड यह एक नया ही राष्ट्र आज संसार की रंगभूमि में प्रवेश कर रहा है। ब्रिटिश साम्राज्य के एक विजित राष्ट्र के रूप में उसकी स्थिति है। उसे अब यह स्थिति असह्य हो उठी है और उसके मन में यह आकांक्षा पैदा हो गयी है कि मैं संसार के एक स्वतंत्र राष्ट्र के रूप में रहूँ। इस आकांक्षा की सफलता के लिए पिछले महायुद्ध के बाद से अब तक ब्रिटिश साम्राज्य के साथ उसने सत्याग्रह-संग्राम छेड़ रखा है। यह संग्राम तभी समाप्त होगा जब हिन्दुस्तान स्वंय-निर्णीत स्वातंत्र्य-विधान प्राप्त कर लेगा। इसमें समझौते के प्रयत्न होते ही रहते हैं; लेकिन कांग्रेस अब ग्रेट ब्रिटेन से उसी हालत में समझौता कर सकती है जब उसे आजादी व आत्म-निर्णय का निश्चय हो जाय। दूसरी गोलमेज परिषद् की फेडेरल स्ट्रक्चर कमेटी में म० गांधी ने कांग्रेस की माँग इन शब्दों में रखी थी––

"कांग्रेस की यह माँग है कि हिन्दुस्तान को (अपने शासन की) पूरी जिम्मेदारी सौंप दी जाय। इसका यह मतलब होता है हिन्दुस्तान के रक्षण व वैदेशिक नीति पर भी उसका पूर्ण नियंत्रण रहे। मगर इसमें समझौते की भी गुंजायश रखी है। वह राष्ट्र जो अपनी रक्षक सेना और वैदेशिक नीति पर अपना नियंत्रण नहीं रखता उसे स्वराज्य-प्राप्त राष्ट्र कैसे कहा जाय?"

इसके बाद कांग्रेस ने यह निश्चय किया कि पूर्ण स्वराज्य का विधान आत्म-निर्णय के सिद्धान्तानुसार विधान-परिषद् के द्वारा बनना चाहिए। इसकी सिद्धि के लिए जो सत्याग्रह-संग्राम चल रहा है उसमें कांग्रेस के विजयी होने से भारतीय संस्कृति का स्वरूप कैसा बनेगा व इस संग्राम से निर्गत भरतखंड संसार को कौन-सा संदेश देगा, इस प्रश्न का उत्तर हम इस प्रकरण में देना चाहते हैं।

इस प्रश्न का विचार करते समय इंग्लैण्ड के एक सामाजिक तत्त्ववेत्ता बर्ट्रेण्ड रसैल के विचार कुछ मार्ग-दर्शक हो सकते हैं। १९२४ में

विलफ्रेड वैलाक ने The Spiritual Basis of Democracy (प्रजा-सत्ता का आध्यात्मिक अधिष्ठान) नामक एक पुस्तक लिखी है। बर्ट्रेण्ड रसैल ने उसकी प्रस्तावना में पूर्वी व पश्चिमी संस्कृति की तुलना करते हुए लिखा है—

" जापान ने इस भय से कि कहीं पश्चिमी शस्त्र-विद्या उस पर हावी न हो जाय पश्चिमी तत्त्वज्ञान की विजय स्वीकार कर ली। यदि दूसरे पूर्वी राष्ट्र भी उसी का अनुकरण करेंगे तो योरप खंड के दुर्गुण सारी दुनिया में फैल जायँगे व मानव संस्कृति के कुछ समय तक जंगली अवस्था में पहुँचे बिना उसके उद्धार की कुछ आशा नहीं रहेगी। परन्तु यदि यह प्रतिकार सैनिक बल के द्वारा न होकर आध्यात्मिक बल के द्वारा होगा तो, योरप के आपस की यादवी से निर्माण होते हुए भी, योरपीय संस्कृति के स्थायी अंश की विरासत एशिया को मिलेगी और जिन लोगों पर गोरे राष्ट्रों का भवितव्य अवलंबित है उनसे अधिक शांति-प्रिय व कम भौतिक वृत्ति के लोगों को उस विरासत के मिलने की संभावना है। तथापि यह कार्य केवल पुराण-प्रियता के बल पर न हो सकेगा। पुराण-परंपरा कितनी ही पूज्य क्यों न हो उसे चिरंतन करने का प्रयत्न करने से काम न चलेगा। भौतिक विद्या और यंत्र-कला की बदौलत आज संसार का स्वरूप बदल गया है। उन्हें आत्मसात् करके व उन पर प्रभुत्व प्राप्त करके उन्हें कल्याणकारी बनाना चाहिए। उनकी उपेक्षा करना उचित न होगा। दूर-दृष्टि से विचार करने पर वे अहितकारक नहीं, हितकारक साबित होंगी; क्योंकि मनुष्य को भौतिक चिन्ता से मुक्त करने का सामर्थ्य उनके पास है। जिस प्रजा-सत्ता के आध्यात्मिक अधिष्ठान को ढूंढने का प्रयत्न वैलाक महोदय कर रहे हैं वह पश्चिमी जगत् में ही पैदा हुई है। नामधारी प्रजासत्ताक राष्ट्रों में और उसके बाहर भी उसका स्वरूप अभी बहुत मर्यादित व अपूर्ण है; परन्तु उसके पहले की राजपद्धति से वह श्रेष्ठ अवश्य है व उसका अवलंब करनेवालों के दुर्गुणों की वजह से उसका नाश करना उचित नहीं। जिस तरह पूर्वी संसार के दृष्टि-कोण में भलाई व बुराई दोनों हैं उसी तरह पश्चिमी दृष्टि-कोण में भी हैं।

पश्चिमी दुनिया जरूरत से ज्यादा जल्दबाज है तो पूर्वी दुनिया कदाचित् जरूरत से ज्यादा सहनशील रही है। बहुत बार पश्चिमी लोगों की शक्ति से संसार का अधःपात होता होगा (आज ऐसा ही हो रहा है) तो दूसरी ओर विशुद्ध पूर्वी तत्त्वज्ञान बड़े-बड़े सुधार करने में शायद ही समर्थ हो सके। जब पश्चिमी और पूर्वी विशेषताओं का संयोग होगा तभी नवीन आदर्श दुनिया के सामने आयेगा। किसी भी एक संस्कृति की आत्मस्तुति से उसका जन्म नहीं होगा। पश्चिमियों का सामर्थ्य पूर्वियों के आदर्श में काम आना चाहिए। पूर्वियों की आध्यात्मिकता पश्चिमियों के भौतिक साधनों की सहायता से जीवनोपयोगी बननी चाहिए। आज की दुनिया की रक्षा किसी भी पुराने साधनों से नहीं हो सकती। आज के संकट नये हैं व उनको निवारण करने का तत्त्वज्ञान भी नया ही होना चाहिए।"

अब हम भारतीय व योरपीय संस्कृतियों की तुलना करके इस बात का विचार करें कि योरपीय संस्कृति में भारतीयों के लेने लायक क्या है? अथवा योरपीय संस्कृति के नष्ट हो जाने पर भी कौन तत्त्व उसमें से चिरन्तन होने जैसे हैं। लेकिन जब दो संस्कृतियों की तुलना की जाती है तो प्रायः योरपीय संस्कृति की तुलना मध्ययुगीन भारतीय संस्कृति से— अर्थात् हिन्दुस्तान के ब्रिटिश साम्राज्य में आने से पहले की संस्कृति से की जाती है। बर्ट्रेण्ड रसेल ने पूर्वोक्त उद्धरण में भौतिक-विद्या, यंत्र-कला, प्रजासत्ता व कर्म शक्ति ये योरपीय संस्कृति के लक्षण बताये हैं व यह ध्वनित किया है कि योरपीय संस्कृति भले ही अपनी सामर्थ्य का दुरुपयोग करके संसार को पीड़ा देती हो, अधिक क्या अपने विनाश में भी प्रवृत्त हो रही हो, परन्तु पूर्वी संस्कृति तो बिल्कुल सामर्थ्यहीन हो रही है। अपनी गुलामी को मिटाने की भी शक्ति उसमें बाकी नहीं बची। बल्कि सदियों से वह अन्याय और जुल्म चुपचाप सहन करती आ रही है। पूर्वी संस्कृति की यह सहन-शीलता, अकर्मण्यता किसी को भी वाञ्छनीय नहीं लगेगी। उसी तरह योरपीय संस्कृति के हमले से बचने के लिए जापान ने जो सब तरह उसी को अंगीकार कर लिया, पूँजीवाद की स्थापना की, सामन्त-शाही को मिटाकर स्थापित प्रजा-सत्ता को धनिक-सत्ता का

विकृत रूप दिया, व राष्ट्रवाद को साम्राज्यवाद की दीक्षा देकर एशिया-खण्ड को पादाक्रान्त करने की आसुरी महत्त्वाकांक्षा धारण की इसे भी कोई स्पृहणीय न कहेगा। एशिया के पूर्व के ठेठ जापान से लेकर पश्चिम के तुर्कस्तान तक सब राष्ट्रों के सामने आज यह महत्त्व का प्रश्न खड़ा है कि साम्राज्यवाद को पूँजीवाद के आक्रमण से कैसे बचाया जाय। हिन्दुस्तान को छोड़ दें तो दूसरे बहुत से देशों में, रूस की राज्यक्रान्ति होने तक, यही धारणा फैली हुई थी कि इस हमले का मुकाबला करने के लिए योरपीय संस्कृति का अवलम्बन किये बिना कोई चारा नहीं है। उसके बाद एशिया के देशों में रूसी राज्य-क्रान्ति का अनुकरण करनेवाला एक कम्युनिष्ट दल पैदा हुआ। थोड़े ही समय में तुर्कस्तान से लेकर चीन तक इस दल का जाल फैल गया और एशिया के स्वतंत्र देशों के राष्ट्रीय नेताओं को यह मालूम होने लगा कि योरप के साम्राज्यवाद के पंजे से मुक्त होने का उपाय बोल्शेविकों से सहयोग करना ही है। इसी समय चीन के राष्ट्रीय नेता डाक्टर सनयातसेन ने बोल्शेविकों से चीनी राष्ट्रीयवाद का सहकार्य कराके चीन को योरपीय साम्राज्यवाद के चंगुल से छुड़ाने की नीति निर्धारित की। एशिया का दुर्बल राष्ट्रवाद और बोल्शेवी क्रान्ति-शास्त्र का सहयोग कुछ दिन टिका। पर थोड़े ही दिनों में उनका सम्बन्ध टूट गया व एशिया के भिन्न-भिन्न राष्ट्रीय पक्षों में यह भावना फैली कि बोल्शेविक क्रान्तिशास्त्र का अवलम्बन ज्यों का त्यों नहीं किया जा सकता, या न करना चाहिए। उधर बोल्शेविकों ने विश्वक्रांति के अपने ध्येय को कुछ समय तक एक किनारे रखकर अपने ही राष्ट्र का संगठन करने की नीति निश्चित की। आज फिर चीम जापान के आक्रमण का मुकाबला करने के लिए संगठित हो रहा है व इस काम में वह रूस के बोल्शेविकों से गुप्त सहायता ले रहा है।

इस समय हिन्दुस्तान में भी कम्युनिस्ट पार्टी बन गयी है व इधर म० गांधी के नेतृत्व में एक निःशस्त्र क्रान्ति-शास्त्र व सत्याग्रही संस्कृति-शास्त्र पैदा हो चुका है। उसने आधुनिक भारत के हृदय में ऐसा आत्म-विश्वास पैदा किया है कि सत्याग्रही तत्त्वज्ञान के बल पर ही भविष्य में मानव-संस्कृति के इतिहास में हम एक नया अध्याय लिखेंगे। आत्म-विश्वास सच्चा है या

झूठा इसका फैसला भविष्यकाल ही करेगा। परन्तु सत्याग्रही तत्त्वज्ञान से कैसी मानव-संस्कृति निर्माण होगी, यूरपीय संस्कृति से उसे क्या सीखना है, कम्युनिस्ट क्रान्ति-शास्त्र व समाजवादी संस्कृति से वह कुछ पाठ सीख सकती है या नहीं, और सत्याग्रह संग्राम के फल स्वरूप जो नवीन भारतीय संस्कृति जन्मी है उसका रूप क्या होगा व स्वतंत्र भारत के सामने आनेवाले प्रश्नों के उत्तर वह किस प्रकार देगी इन बातों का विचार कर लेना जरूरी है। आधुनिक भारत में जो यह एक प्रकार का सांस्कृतिक अभिमान पैदा हुआ है कि मानव-संस्कृति को देने के लिए हमारे पास कुछ बहुमूल्य तत्त्व हैं, व उनकी बदौलत हमारे पास कुछ समय के लिए संसार का नेतृत्व आ सकेगा, वह अपूर्व है। जिस एक महात्मा के रूप में वह आज संसार के सामने आया है वह भी एक अलौकिक विभूति है। यह अपूर्व अभिमान व महात्मा गांधी की अलौकिक विभूतिमत्ता दोनों बातें बिल्कुल भ्रामक हैं, वह एक भ्रांतिरूप माया है, ऐसा भी कई लोग मानते हैं। ताहम यह भी उनको मानना पड़ता है कि यह भ्रांतिरूप माया संसार की एक प्रचंड शक्ति है। इस भावी संस्कृति के स्वरूप की रूप- रेखा हम यहाँ भाव रूप में रखना चाहते हैं।

आधुनिक यूरपीय संस्कृति का मूल्य-मापन करते हुए पहले यह देखना चाहिए कि श्रेष्ठ मानव संस्कृति किसे कहते हैं। भारतीय संस्कृति की तरह यूरपीय संस्कृति की परंपरा भी बड़ी है। आधुनिक यूरपीय संस्कृति ने तो आज हिन्दुस्तान को गुलाम बना रखा है व उसको सब तरह लूट लिया है। ऐसी परिस्थति में भी भरतखंड में यह अभिमान उदय हुआ है कि हमारी संस्कृति श्रेष्ठ है। इसलिए पहले यह समझने की जरूरत है कि मानव-संस्कृति की श्रेष्ठता के सम्बन्ध में भारतीयों का मत या आदर्श क्या है। इस प्रकरण के आरम्भ में कवि-श्रेष्ठ रवीन्द्रनाथ ठाकुर का एक अवतरण दिया है जिसमें उन्होंने भारतवासियों के मानवीय आदर्श का वर्णन किया है। उन्होंने भारत के ऋषि-मुनियों को मानवता का आदर्श बताया है। यही ऋषित्व, ब्रह्म-तेज, आत्म-बल अथवा साधुत्व भारतीय संस्कृति का मानवी याआदर्श है। भारतीय संस्कृति अगर संसार को कुछ सिखा सकती है तो यह साधुत्व ही। भरतखंड

में बहुत प्राचीनकाल से ऋषिवर्ग की सृष्टि हुई व आज भी उसे उस वर्ग के नेतृत्व की आवश्यकता मालूम होती है। महात्मा गांधी को आज भरतखंड में जो सम्मान मिल रहा है वह इसलिए कि उन्होंने भारतवर्ष के अन्तःकरण में ऋषि-मुनियों के सम्बन्ध में प्राचीन आदर फिर से पैदा किया व भारत के प्राचीन ब्रह्मतेज अथवा आत्म-बल को पुनः संगठित करके ऐसा विश्वास फिर से जाग्रत किया कि यह आत्म-बल ही आम-जनता के सर्वांगीण स्वातंत्र्य का रामबाण उपाय है। इस साधुत्व को समझने के लिए व उस दृष्टि से मानव संस्कृति का मूल्य-मापन करने के लिए नीचे लिखी सूक्ति आधार का काम दे सकती है।—

विद्या विवादाय धनं मदाय। शक्तिः परेषां परपीडनाय।
खलस्य साधोर्विपरीतमेतद्। ज्ञानाय, दानाय च रक्षणाय।

इस उक्ति में खल और साधु, दुर्जन और सज्जन का भेद बहुत अच्छी तरह बताया गया है। इसी के आधार पर हम मानव संस्कृति के हीन व श्रेष्ठ स्वरूप का भेद समझ सकेंगे। विद्या, धन और शक्ति की आवश्यकता मनुष्य को है व उनकी वृद्धि करना प्रत्येक मनुष्य-समाज का कर्त्तव्य है। परन्तु इस विद्या, धन और शक्ति का उपयोग मनुष्य किस प्रकार करता है यह देखकर उसकी संस्कृति की श्रेष्ठता या कनिष्ठता का निर्णय करना पड़ता है। केवल विद्या, धन या शक्ति की वृद्धि करने से ही मानव संस्कृति की प्रगति नहीं हो सकती। बल्कि इस विद्या, धन या शक्ति का उपयोग कैसा व किस काम में हो रहा है यह देखकर ही यह कहना पड़ता है कि किसी समाज की संस्कृति बढ़ रही है या नष्ट हो रही है। मनुष्य विद्वान् हो, सधन हो व सशक्त भी हो, परन्तु अगर अपनी विद्वत्ता का उपयोग सत्य-संशोधन में न करके केवल विवाद के लिए करे या अपने धन का उपयोग दान के लिए न करके उन्मत्त होने के लिए करे, और अपनी शक्ति का उपयोग रक्षण के लिए न करके परपीड़न के लिए करे तो उसे साधु की कोटि में न रखकर, खल की कोटि में रखना पड़ेगा—फिर वह कितना ही विद्वान्, धनवान् अथवा बलवान् हो। यही न्याय मानव-समाज पर भी लागू होता है। आज की योरपीय संस्कृति, विद्या, धन व शक्ति तीनों गुणों से मण्डित

है; परन्तु वह इन गुणों का दुरुपयोग करती है, इससे इन गुणों को दुर्गुणों का रूप प्राप्त हो गया है। अतः यह कहने की अपेक्षा कि वह इन गुणों से मण्डित है यही कहना ज्यादा सही है कि वह पूर्वोक्त दुर्गुणों से कलंकित हो रही है। भारतीय संस्कृति के अभिमानी इसका कारण यह बताते हैं कि उनकी विद्या, धन व शक्ति को अध्यात्म का अधिष्ठान नहीं है। योरपीय संस्कृति को यह हीनता क्यों, व कैसे और कब प्राप्त हुई इसका अब विचार करें।

१५वीं सदी के अन्त में मुसलमानों के कुस्तुन्तुनिया लेने के बाद वहाँ की प्राचीन विद्या के पंडित पश्चिमी योरप में फैले और इस्लामी संस्कृति का संघर्ष व प्राचीन ग्रीक-विद्या का पुनरुज्जीवन इन दोनों से यूरोपीय विद्या व व्यापार को जो गति मिली उससे आधुनिक योरप का जन्म हुआ। इसके पहले कुछ समय तक योरपीय संस्कृति मध्य-युगीन धर्माधिकारियों के प्रभाव में रही। इन धर्माधिकारियों की विद्या इस समय बिलकुल मृतावस्था को पहुँचने लगी थी। विद्या ज्ञान-प्राप्ति के लिए है व ज्ञान की प्राप्ति अनुभव से होती है इस सिद्धान्त को भूलकर ये ईसाई धर्म-शास्त्री व पंडित महज ग्रन्थ-प्रमाण के आधार पर विद्या का उपयोग शुष्क वाद-विवाद में करने लगे थे। धर्म-ज्ञान, आत्म-ज्ञान व भौतिक-ज्ञान सभी के लिए अनुभव की जरूरत होती है। उनके सिद्धान्त यदि नवीन अनुभव की कसौटी पर सही न उतरते हों तो उनमें सुधार होना चाहिए। यह सुधार करने का हक व अधिकार प्रत्येक पीढ़ी के लोगों को है। मानव-प्रगति के आधारभूत उस तत्त्व को मानने व उसके अनुसार समाज के बदलते हुए व्यवहारों का विचार करके नयी परिस्थिति के अनुरूप नवीन समाज-बंधन निर्माण करके अथवा पुराने समाज-बंधनों को सुधार कर, नवीन समाज-धारणा करने के लिए वे तैयार न थे। ऐसा न करने के लिए उन्हें ग्रन्थ-प्रमाण से बुद्धि-प्रमाण व अनुभव-प्रमाण पर आना चाहिए था। मगर ऐसा करने की शक्ति व योग्यता उनमें न रह गयी थी। इधर विचारशील लोगों को यह मालूम होने लगा कि प्राचीन धर्म-बन्धन अथवा धर्म-विचार नयी परिस्थिति में न तो कायम ही रह सकते हैं न बुद्धि को ग्राह्य ही हो सकते हैं। तब

ईसाई धर्माधिकारी व रोमन कैथोलिक धर्म-संस्था के खिलाफ आधुनिक योरप ने बगावत मचायी। शुरू में तो योरप के राजाओं ने पोप के धर्म-बंधन व सत्ता को अपने पर से हटाने में इस बगावत से फायदा उठाया। पोप की सत्ता मिटाने के बाद धर्म-संस्था के अधिपति खुद बनने का प्रयत्न इन राजा लोगों ने किया। आठवें हेनरी ने इसी प्रकार धर्म-क्रान्ति की। इस क्रान्ति से राजा लोग मध्य-युग की अपेक्षा ज्यादा अनियमित व स्वेच्छाचारी बन गये। इंग्लैण्ड का सामन्त वर्ग इससे पहले ही नाम-शेष हो चुका था व अब धर्माधिकारी वर्ग भी राजा लोगों का दास बन चुका था। पोप का बाह्य-बंधन भी न रहा। इस प्रकार अन्तर्बाह्य अनिर्बन्ध व अनियंत्रित बनकर राजा लोग यह समझने लगे कि हमारी आज्ञा परमेश्वर की आज्ञा है व "ना विष्णुः पृथिवीपतिः" इस उक्ति के अनुसार वे अपने को परमेश्वर के ऐहिक प्रतिनिधि ही समझने लगे। इन अनिर्बन्ध, अनियंत्रित राजाओं पर बंधन और नियंत्रण लगाने का काम योरप के व्यापारी-वर्ग ने किया। इसी व्यापारी-वर्ग में कैलव्हिन का प्यूरिटन-पंथ चला व उसी के नेतृत्व में आधुनिक योरप के बुद्धिवाद, व्यक्तिवाद, प्रजा-सत्ता और राष्ट्रवाद ये सामाजिक ध्येय निर्माण हुए। जिस मध्यम व्यापारी-वर्ग में इन ध्येयों का उदय हुआ उनका वर्गस्वार्थ इन ध्येयों से संमिश्र हो गया और जब इन ध्येयों या आदर्शों के शुद्ध स्वरूप व धनिक-वर्ग के स्वार्थ में विरोध उत्पन्न हुआ तब ये ध्येय विकृत हो गये। वर्तमान योरपीय संस्कृति बुद्धि-स्वातंत्र्य, व्यक्ति-स्वातंत्र्य, जन-सत्ता व राष्ट्रवाद के आदर्शों को आज कैसा विकृत बना रही है उस पर गौर किया जाय तो यह बात समझ में आ जाती है कि यह संस्कृति क्यों विनाश की ओर जा रही है।

पहले पहल बुद्धि-स्वातंत्र्य को लें। प्रत्येक मनुष्य को बुद्धि-स्वातंत्र्य रहना चाहिए मगर इसके लिए यह आवश्यक है कि वह किसी भी ग्रन्थ अथवा धर्म गुरु की दासता को स्वीकार न करे। यह कहना एक बात है व यह कहना दूसरी बात कि सत्य का ज्ञान प्राप्त करने व नवीन सत्य की शोध करने में सबकी बुद्धि एकसा सामर्थ्य रखती है। दोनों में बड़ा अन्तर है। यह कहना ठीक नहीं है कि मनुष्य की बुद्धि बाह्य-दासता से

मुक्त होने पर पूर्णतः स्वतंत्र हो जाती है अथवा उसमें सत्य-शोधन की शक्ति आ जाती है। ऐसा होने के लिए यह जरूरी है कि वह बुद्धि अन्तःकरण की व्यक्त व अव्यक्त वासना व विकारों की दासता से मुक्त हो। मनुष्य की बुद्धि पर जैसे संस्कार पड़े होंगे व उन संस्कारों के कारण उसे जो सामर्थ्य मिला होगा उनके बंधनों से भी उसे मुक्त होने की जरूरत है। मनुष्य बुद्धि की सहायता से बाह्य-जगत व अपने अंतरंग का ज्ञान प्राप्त कर सकता है व बाह्य तथा अन्तःसृष्टि पर भी प्रभुत्व प्राप्त कर सकता है। इस प्रभुत्त्व को भी अंतर्बाह्य सृष्टि पर प्रस्थापित करने के लिए उसे बुद्धि की एकाग्रता, धृति, अनासक्ति, निर्विकारता आदि गुण प्राप्त करने पड़ते हैं। खासकर जब तक उस बुद्धि में नवीन सत्य का आकलन करके नवीन आदर्श-सृष्टि करने का सामर्थ्य नहीं आ जाता या होता तब तक अपनी या अपने समाज की प्रगति का सामर्थ्य नहीं प्राप्त होता। इस तरह वह बुद्धि जो नवीन आदर्श का निर्माण कर सकती है दर असल स्वतंत्र-बुद्धि हो सकती है व उसको प्रतिभा कहते हैं। साधारण बुद्धि बाह्य परिस्थिति के अधीन रहती है। व उस परिस्थिति का ज्ञान प्राप्त करके वह अधिक से अधिक इतना ही दिखा सकती है कि उसमें अधिक से अधिक सुख से कैसे रहें। यह सामान्य बुद्धि व्यक्तिगत, वर्गीय, राष्ट्रीय वगैरा अनेक संकुचित स्वार्थों व परंपरागत विचारों एवं संस्कारों के अधीन रहती है। इन संस्कारों, दुर्वासनाओं व दुर्विकारों के चश्मों से वह बाह्य सृष्टि व सामाजिक व्यवहारों की ओर देखती है; बल्कि यों कहें कि ऐसी संस्कार वश, वासनावश व विकारवश बुद्धि अपनी एक विकृत सृष्टि ही निर्माण कर लेती है। यह विकृत सृष्टि ही मानवी बुद्धि को भ्रष्ट या बद्ध करनेवाली माया है। इस माया से मुक्त हुए बिना न सत्य सृष्टि का ज्ञान हो सकता है न नवीन आदर्श निर्माण करने का सामर्थ्य उसमें आ सकता है। अद्वैत वेदान्त का यह आध्यात्मिक सिद्धान्त है कि ऐसा सामर्थ्य प्राप्त करने की क्षमता प्रत्येक मनुष्य में है। मनुष्य के मन, बुद्धि व आत्मा के व्यक्त व अव्यक्त दो स्वरूप हैं। दोनों का अशुद्ध अंश जब तक नष्ट न होगा तब तक उसकी बुद्धि वास्तविक आत्मस्वरूप व जगत्-स्वरूप को समझने के लायक नहीं बन सकती।

मनुष्य की बुद्धि का बाह्य- विश्व पर प्रभुत्त्व स्थापित करना मानवी उन्नति के लिए जितना आवश्यक है उतना ही आवश्यक अन्तःसृष्टि पर अर्थात् हृदय की व्यक्ताव्यक्त वासना व विकारों पर प्रभुत्व स्थापित करना भी है। पहला भौतिक विद्या का और दूसरा आत्मिक विद्या का क्षेत्र है। भौतिक विद्या व उसके सिद्धान्त जैसे अनुभवगम्य व अनुभव-सिद्ध होने चाहिएँ वैसे ही आत्म-विद्या के सिद्धान्त होने चाहिएँ। भौतिक विद्या की तरह आत्मिक-विद्या भी विकासशील व सजीव होनी चाहिए। इन दोनों विद्याओं के विकास का सामर्थ्य मानवी बुद्धि में है परन्तु वह उसके शुद्ध व स्वतंत्र स्वरूप में है, अशुद्ध व परतंत्र रूप में नहीं। तत्वतः देखें तो प्रत्येक मनुष्य अपनी बुद्धि को शुद्ध व स्वतंत्र बना सकता है व उसकी सहायता से भीतरी व बाहरी जगत् पर स्वामित्व—विश्व-नियमों से मर्यादित स्वामित्व—प्राप्त कर सकता है। अद्वैत-वेदान्त यही सिद्धान्त बताता है। अब व्यवहार में हमें स्वतंत्र व परतंत्र बुद्धि में इस प्रकार भेद करना पड़ता है। (१) जनसाधारण की अशुद्ध व परतंत्र बुद्धि व (२) उनके असामान्य नेता की शुद्ध व स्वतंत्र बुद्धि। इसी व्यवहार-दृष्टि से साधारण बुद्धि को प्रज्ञा व नये सत्य का आविष्कार व नयी आदर्श सृष्टि निर्माण करनेवाली शुद्ध व स्वतंत्र बुद्धि को प्रतिभा कहते हैं। एंजल्स ने लुडविक फ्यूरबेक संबन्धी अपनी पुस्तक में मार्क्स् और अपने जैसे उसके अनुयायियों की बुद्धि में ऐसा ही भेद बताया है—"जिस तरह एक उच्च भूमि पर खड़ा मनुष्य आस-पास बहुत दूर-दूर की चीजों को तुरन्त देख सकता है वैसी ही स्थिति हम से तुलना करते हुए मार्क्स् की थी। मार्क्स् 'प्रतिभाशाली' था व हम ज्यादा से ज्यादा 'बुद्धिमान्' कहे जा सकते हैं। इसलिए मार्क्स जो कर सका वह मुझसे नहीं हो सकता था।" प्रतिभा-संपन्न असामान्य नेता की शुद्ध व स्वतंत्र बुद्धि, व सामान्य मनुष्य की अशुद्ध, परतंत्र बुद्धि के तात्त्विक व व्यावहारिक भेद पर ध्यान न देकर समाज निर्माण करना या उसमें क्रान्ति करके आमूल परिवर्तन करना असम्भव है। बुद्धि-स्वातंत्र्य के सिद्धान्त में इस भेद का विरोध नहीं और न सामाजिक व्यवहार में नेतृत्व व अनुयायित्व दो भेद करके खास मर्यादा में स्वतंत्र बुद्धि के नेता का अनुशासन मानना

भी बुद्धि-स्वातंत्र्य से असंगत ही है। इसी प्रकार यह मानना भी बुद्धि-स्वातंत्र्य के विरुद्ध नहीं है कि जब तक मनुष्य की बुद्धि दुर्वासना व दुर्विकार से मुक्त न होगी तब तक शुद्ध व स्वतंत्र नहीं बन सकती। जब तक शुद्ध बुद्धि के प्रतिभावान् नेता न होंगे तब तक मनुष्य-समाज की उन्नति नहीं होगी, न सर्वांगीण क्रान्ति जैसे महत् कार्य की सिद्धि ही हो सकती है। इससे यह नतीजा निकलता है कि समाज की उन्नति के व उसमें आवश्यक परिवर्तन कम से कम क्लेश से, करने के लिए आम जनता की बुद्धि को भरसक शुद्ध व स्वतंत्र रखने का प्रयत्न करना लोकमान्य नेता का कर्तव्य है व लोगों का भी यह कर्तव्य है कि वे अपनी अन्तः शुद्धि का सतत प्रयत्न करते रहें। बुद्धि-स्वातंत्र्य के सिद्धान्त का यह शुद्ध और श्रेष्ठ रूप आधुनिक योरप ने नहीं पहचाना व अपना नेतृत्व शुद्ध-बुद्धि के अथवा प्रतिभावान् निःस्वार्थी लोगों के हाथों में न देकर उस धनिक-वर्ग के हाथ में दे दिया है जिसकी बुद्धिवर्ग-स्वार्थ से मलिन हो चुकी है और जिन्होंने इसका विनियोग नित्य स्वार्थ-साधन में किया है। आधुनिक योरप की वर्तमान आपत्ति का यह एक मुख्य कारण है। फिर आधुनिक योरप की तमाम विद्या व कला इस धनिक-वर्ग की दासी बन गयी है व ऐसा वर्ग कहीं योरप खंड में नहीं दिखाई देता जो यह मानता हो कि जनसाधारण की साम्पत्तिक व सांस्कृतिक उन्नति करना सब विद्या और कला का उद्देश्य है, जो ऐसा आचरण करता हो और जो अपने आत्मबल के द्वारा लोगों के आत्मबल को जाग्रत व संगठित करके समाज के लिए आवश्यक क्रान्ति की उपयोगिता उसे जँचाकर आत्मबल से वैसी क्रान्ति करा दे। आधुनिक योरप की श्रद्धा ही आज आत्मबल पर नहीं रही है और न वहाँ के किसी देश ने अब तक शस्त्र-बल से भी अभीष्ट सर्वांगीण समाज-क्रान्ति करने का सामर्थ्य प्रकट किया है।

समाज-रचना-संबन्धी नवीन तत्त्व अथवा समाज में न्याय-स्थापना करनेवाले नवीन सत्य मानव बुद्धि में कब और कैसे उदय होते हैं व उन सत्यों की स्थापना के लिए आवश्यक समाज-क्रान्ति कैसे की जाती है इसका और अधिक विवेचन करना आवश्यक है। संसार नित्य

परिवर्त्तनशील है। संसार की कोई भी वस्तु स्थिर व अक्षर नहीं है। इसीलिए उसे जगत् अर्थात् गतिमान् नाम प्राप्त हुआ है। मानव-समाज में, उसकी अवस्थाओं में, हम जान सकें या न जान सकें, मगर एकसा अन्तर होता रहता है। संसार में चिरन्तन अथवा सनातन जैसा कुछ नहीं है। जगत् का अथवा समाज का स्वरूप जैसे परिवर्त्तनशील है उसी तरह उनका अवलोकन व निरीक्षण करके उनमें अपने अनुकूल परिवर्तन कैसे होंगे या उनके परिवर्तन हमारे अनुकूल कैसे बनाये जा सकेंगे इसका शोध करनेवाली मानवी बुद्धि का ज्ञान भी सतत बढ़ता रहता है। समाज की एक अवस्था में न्याय-स्थापना के लिए जो तत्व उपयोगी होते हैं वही दूसरी अवस्था में अनुपयोगी और विघातक साबित होते हैं। जिस बुद्धि को यह अनुभव होता है कि समाज की जीवन-यात्रा जिस तत्व के अनुसार चलती आ रही है उसके अनुसार अब आगे नहीं चल सकती उसे प्रस्थापित सामाजिक अवस्था की अपूर्णता व सदोषता जँचने लगती है। मानवीय बुद्धि में दृश्य-विश्व व दृश्य-सामाजिक परिस्थिति का प्रतिबिंब पड़ता है। इस प्रतिबिंब को देखकर जब मनुष्य को असंतोष होता है तो वह अपने समाज की प्राचीन अवस्था का चित्र अपनी बुद्धि के द्वारा देखने लगता है अथवा यदि उससे भी उसका समाधान न हुआ तो अपने समकालीन इतर समाजों की सद्यः-स्थिति का चित्र उसके बुद्धि-नेत्र के सामने खड़ा होता है। इसकी मिसाल लीजिए। २०वीं या १९वीं सदी का परतंत्र भारतीय अपनी राजनैतिक परतंत्रता और आर्थिक दरिद्रता का दृश्य देख कर असन्तुष्ट हुआ तो उसकी बुद्धि अपने प्राचीन स्वराज्य की ओर घूमती है। यदि वह पूना में हो तो उसे पूर्वकालीन मराठी साम्राज्य की याद आती है। दिल्ली में हुआ तो मुगल बादशाहत के चित्र दिखाई देते हैं। इन दोनों चित्रों को देखकर उसकी बुद्धि को यह जँचा कि अब वह पहले की अवस्था नहीं आ सकती अथवा वह भी अपूर्ण, सदोष व त्याज्य है ऐसा उसकी बुद्धि को लगा तो अन्य स्वतंत्र राष्ट्रों के स्वराज्य-चित्र उसकी आँखों के सामने खड़े होते हैं। किसी को योरप की प्रजा-सत्ता का स्वराज्य-चित्र प्रिय लगता है तो किसी को रूस की समाज-सत्ताक प्रजा-सत्ता का चित्र अधिक मनोरम मालूम होता है। परन्तु गतकालीन

व सद्यःकालीन स्वराज्य-चित्र के प्रतिबिंबों का निरीक्षण करने के बाद किसी भी एक चित्र से जिस बुद्धि का समाधान नहीं हो सकता व उनके दोष, अपूर्णता अथवा अन्धकार की जो बुद्धि कायल हो जाती है उसमें यदि अपूर्णता से पूर्णता की ओर, सदोषता से निर्दोषता की ओर या अन्धकार से प्रकाश की ओर जाने की मानवीय आत्मा की नित्य प्रेरणा होगी तो वह अपने राष्ट्र व समाज की भावी स्वतंत्रता का एक नवीन चित्र खड़ा करती है और उसके अनुसार प्रत्यक्ष सृष्टि का निर्माण करके समाधान पाती है। मतलब यह कि मानवी बुद्धि में भिन्न-भिन्न काल व अवस्थाओं को देखकर उनके गुणदोषों का निर्णय करने का जैसा सामर्थ्य है वैसे ही नवीन-आदर्श-सृष्टि निर्माण करके उसके अवलोकन करने का व उसकी संस्थापना के उपाय खोज निकालने का भी सामर्थ्य है। नवीन आदर्श-सृष्टि निर्माण करने के उसके सामर्थ्य ही को प्रतिभा कहते हैं। यों तो प्रत्येक मनुष्य की बुद्धि में यह प्रतिभा शक्ति अव्यक्त रूप में रहती है परन्तु प्रकट होती है वह बाज-बाज लोगों की बुद्धि के द्वारा ही। मानव-बुद्धि के लिए अज्ञात-क्षेत्र में पहुँचकर नवीन सत्य को पाने व शोधन करने का जो सामर्थ्य है वह उसे कैसे और कहाँ से प्राप्त हुआ इसके सम्बन्ध में संसार में दो-तीन उपपत्तियाँ प्रचलित हैं। हम उनका भी थोड़ा विचार कर लें।

इन उपपत्तियों को हम आधि-दैविक, आधि-भौतिक व आध्यात्मिक नाम भी दे सकते हैं। सामान्य बुद्धि में न आनेवाले नवीन सत्य प्रतिभा-वान्, असामान्य विभूति के मन में कैसे स्फुटित होते हैं, इसकी आधि-दैविक उपपत्ति इस प्रकार है कि ऐसे असाधारण बुद्धि के लोगों को परमेश्वर की प्रेरणा से ये सत्य दिखाई देते हैं। वैदिक मन्त्रों के ऋषि मन्त्र-द्रष्टा थे—ऋषयो मंत्रद्रष्टारः—जब साधारण लोग ऐसा कहते हैं तब उनके मन में यही आधिदैविक उपपत्ति रहती है। परमेश्वर के स्वरूप सम्बन्धी द्वैती तत्त्वज्ञान पर यह आधि-दैविक उपपत्ति अधिष्ठित रहती है। जीवात्मा व परमात्मा ये दो हैं ऐसा मानकर परमात्मा जीवात्मा के प्रज्ञा-चक्षुओं को नवीन सत्य का दर्शन कराता है इस तरह यह उपपत्ति है। इसके विपरीत एक आधि-भौतिक उपपत्ति है इसके अनुसार जीव द्रष्टा है

और जगत् उसका दृश्य है। इस दृश्य-जगत् का दर्शन करके व उसके स्वरूप को समझ के उसमें व्यवहार करना मानवी बुद्धि का मुख्य कार्य है। दृश्य-विश्व के अथवा समाज की दृश्य परिस्थितियों के परिवर्तनों का अवलोकन करना व इस परिवर्तन के नियमों को खोज निकालना मानवीय बुद्धि का धर्म है। बाह्य परिस्थिति के परिवर्तनों में से ही मानवी बुद्धि को नवीन आदर्शों का अथवा नवीन सत्य का ज्ञान होता है.। अथवा यों कहें कि इस बात में बाह्य दृश्य परिस्थिति व उनमें होनेवाले परिवर्तन ही मानव-बुद्धि का गुरु है। यह गुरु जो कुछ शिक्षण देगा उसके अनुसार मानवी बुद्धि का ज्ञान बढ़ता जाता है। व उसे जो सत्य यह गुरु दिखा देगा उसे बुद्धि ग्रहण करती है। मानवी बुद्धि को नवीन सत्यों का जो दर्शन होता है उसकी यह आधि-भौतिक मीमांसा है। इस मीमांसा में सारा कर्तृत्व दृश्य-परिस्थिति व उसके परिवर्तन को ही दिया गया है। एक तरह से मानव बुद्धि इस उपपत्ति के अनुसार दृश्य-परिस्थिति की अथवा उसमें होनेवाले परिवर्तनों की दासी बनती है। इस उपपत्ति को यान्त्रिक-भौतिकवाद (Meachanical Materia-lism) कहते हैं। इसमें मानवीय बुद्धि का स्वातंत्र्य व कर्तृत्व बिलकुल नहीं माना गया है। इसमें मनुष्य बुद्धि को स्वतंत्रता नहीं, मानवीय कर्तृत्व को अवसर नहीं और उससे निर्मित नीतिशास्त्र में आदर्शवाद की कोई गुंजायश नहीं। उसके नीति शास्त्र का आदर्श आधि-भौतिक सुख-वाद है और त्यागी आदर्शवादी मनुष्य व सुख-परायण स्वार्थी मनुष्य इसका भेद भी उस तत्वज्ञान पर बने मानस-शास्त्र अथवा नीतिशास्त्र नहीं जानते।

कार्ल मार्क्स प्रभृति कम्यूनिस्ट तत्वज्ञों का भौतिकवाद इस यान्त्रिक-भौतिकवाद से भिन्न है। मार्क्स् आदि के भौतिकवाद को स्वयं-विकासी भौतिकवाद (Dialectical Materialism) कहते हैं। इसका यह मत है कि जड़ निर्जीव सृष्टि के परिवर्तनों के यान्त्रिक नियम भी सजीव सृष्टि पर लागू नहीं होते हैं और मानवेतर सजीव सृष्टि के प्राणी-शास्त्र के नियम भी आदर्शवादी मानव सृष्टि पर ज्यों के त्यों लागू नहीं किये जा सकते। मानस-शास्त्र व नीति-शास्त्र के ये सिद्धान्त कि मानव-

बुद्धि स्वतंत्र है, वह आदर्श सृष्टि निर्माण कर सकती है और उस आदर्श की प्राप्ति के लिए स्वार्थ-त्याग पूर्वक प्रयत्न करना मानवीपन की उन्नत अवस्था है, आदि इस भौतिकवाद को मान्य है। परन्तु उसका यह कहना कि मानव-बुद्धि को नवीन समाज-रचना के जो आदर्श सूझते हैं वे मनुष्य-समाज की आधिभौतिक बुनियाद में अर्थात् उसमें रूढ़-धनोत्पादन व धनविभाजन पद्धति में, क्रान्ति होने के कारण सूझते व इसलिए, दृश्य सामाजिक परिस्थिति के परिवर्तन मानवीय आदर्श-सृष्टि के परिवर्तन का कारण हैं व इस कारण का विचार किये बिना इस बात की ठीक-ठीक मीमांसा नहीं हो सकती कि मानवीय इतिहास में जो भिन्न आदर्श बने वे क्यों बने व पुराने आदर्शों को पीछे हटाकर नवीन आदर्श प्रस्थापित करनेवाली क्रान्ति क्यों हुई? परन्तु यान्त्रिक-भौतिकवाद की तरह मानव-बुद्धि की स्वतंत्रता, उसके द्वारा निर्मित आदर्श-सृष्टि का महत्व, व इन आदर्शों को प्राप्त करने के लिए मनुष्य-यत्नों की व आदर्श त्याग की आवश्यकता का महत्त्व मार्क्स प्रभृति के भौतिकवाद में अमान्य नहीं। परिस्थिति मानव-बुद्धि की गुरु है यह मान्य करके भी इस परिस्थिति को मार्ग दिखाने का सामर्थ्य आदर्श निर्माण करनेवाली मानव बुद्धि को है व इस दृष्टि से परिस्थिति-रूप गुरु को सिखाने का काम मानव बुद्धि करती रहती है, इस सिद्धान्त पर यान्त्रिक-भौतिकवाद ने ध्यान नहीं दिया ऐसा कार्ल मार्क्स ने साफ तौर पर कहा है।

इसका अर्थ यह हुआ कि 'परिस्थिति मानवी बुद्धि का गुरु है' इस सिद्धान्त से आगे जाकर इस परिस्थिति का भी गुरुत्व अथवा प्रभुत्व मानवी बुद्धि को देना लाजमी हो जाता है। किन्तु समाज के सभी व्यक्तियों की बुद्धि में यह स्वतंत्रता नहीं रहती। इसलिए परिस्थिति को अपने सामने झुकाकर उस पर प्रभुत्व जमानेवाले मनस्वी पुरुष व प्राप्त परिस्थिति के सामने झुक जानेवाले साधारण लोग इनके कर्तृत्व और बुद्धि में अपने आप भेद करना पड़ता है। कार्ल-मार्क्स का कहना है कि पुराने भौतिकवाद में ऐसा भेद किया भी गया है परन्तु उसे यह द्वैत मंजूर नहीं। सामाजिक परिस्थिति का व समाज की मनोगत आदर्श-सृष्टि का परिवर्तन परस्परावलम्बी व परस्पर सापेक्ष होता है। उनके

कार्य-कारण-सम्बन्ध भी दोनों पक्ष में प्रतियोगी रहते हैं। इसलिए सामाजिक परिस्थिति में होनेवाले परिवर्तनों का विचार न करने से आदर्श-सृष्टि का विकास समझ में नहीं आ सकता। उसी प्रकार सामाजिक परिवर्तनों की मीमांसा भी मानव-बुद्धि की आदर्श-निर्माण करने की शक्ति और मनुष्य कर्तृत्व की उपेक्षा करने से नहीं की जा सकती। कार्ल मार्क्स ने ऐतिहासिक तत्व-मीमांसा में जो नयी और महत्त्व की बात जोड़ी है वह यही है। हेगेल-प्रभृति आध्यात्मिक इतिहास-मीमांसकों ने महज सामाजिक आदर्शों के विकास पर सारा जोर देकर समाज की भौतिक परिस्थिति के उन परिवर्तनों की ओर ध्यान नहीं दिया जिनके कारण उन आदर्शों का विकास हुआ है। इस कमी को पूरा करने के लिए मार्क्स ने अपनी इतिहास की भौतिक मीमांसा निकाली व उसके आधार पर समाज-सत्ता व क्रान्ति का भविष्य बतलाया। परन्तु इसके लिए उसने न तो यान्त्रिक भौतिकवाद को स्वीकार किया और न मानव-बुद्धि की स्वतंत्रता व मानवी कर्तृत्व की आवश्यकता की अवहेलना की।

मनुष्य स्वतंत्र है व अपने बुद्धि-बल से दृश्य-विश्व व सामाजिक परिस्थिति के परिवर्तनों के नियम निकालकर नवीन आदर्श को निर्माण व प्रस्थापित करने का सामर्थ्य उसमें है। यह सही हो तो भी उसका यह स्वातंत्र्य व सामर्थ्य सृष्टि के आन्तर्बाह्य नियमों से मर्यादित है व उन नियमों का उल्लंघन करके नहीं बल्कि उनका पालन व उपयोग करके ही वह अपनी स्वतंत्रता का आनन्द पा सकता है, यह हरगिज न भूलना चाहिए। इस विषय में आध्यात्मवादी हेगेल और स्वयं-विकासी भौतिकवादी मार्कस् व ऐंजल्स इनका मतभेद नहीं। ऐंजल्स ने मानवी स्वतंत्रता के सिद्धान्त और सृष्टि के परिवर्तन के नियमों की नियति का समन्वय हेगेल के पूर्वोक्त मत के आधार पर ही किया है। सृष्टि की नियति का उल्लंघन मनुष्य नहीं कर सकता बल्कि उसका ज्ञान प्राप्त करके उसके नियमों का पालन करते हुए ही, उस पर अपना प्रभुत्व स्थापित किया जा सकता है। इन्द्रियगोचर बाह्य-दृश्य सृष्टि व सेन्द्रिय जीव की आन्तरिक, बाह्य इन्द्रियों के लिए अगोचर सृष्टि, इन दोनों पर भी, उनके परिवर्तनों के नियम जानकर, मनुष्य

अपनी मर्यादित स्वतंत्रता चला सकता है व ऐसा करना उसका श्रेष्ठ कर्तव्य भी है।

यह विवेचन स्वयं-विकासी भौतिकवाद के आधार पर हुआ। अब यह देखना है कि अद्वैत-वेदान्त इसके आगे चलकर क्या कहता है। ऊपर ऍंजलस् का मानवी स्वतंत्रता-सम्बन्धी जो सिद्धान्त बताया गया उसमें यह कहा गया कि मनुष्य के लिए जैसे इन्द्रियगोचर बाह्य-सृष्टि पर प्रभुत्व प्राप्त करना आवश्यक है वैसे ही मनोगोचर अन्तःसृष्टि पर भी आवश्यक है। पहला प्रभुत्व प्राप्त करने के लिए उसे भौतिक विद्या का व दूसरे के लिए आध्यात्म विद्या का अध्ययन करना पड़ता है। इन्द्रिय-गोचर दृश्य-विश्व और सेन्द्रिय द्रष्टा जीव इन दोनों के व्यवहार व परिवर्तन के नियम अव्यक्त रहते हैं। इन्द्रिय-गोचर सृष्टि-परिवर्तन के ये अव्यक्त नियम जानना मानवी बुद्धि का काम है। उसे भी खोजकर मनुष्य को जानना पड़ता है। दृश्य व द्रष्टा दोनों के व्यक्त स्वरूप में परिवर्तन लाने वाले अव्यक्त नियम अथवा उनके अव्यक्त स्वरूप एक ही हैं व इसीलिए अद्वैत-वेदान्त का मत है कि द्रष्टा दृश्य-विश्व के परिवर्तनों को अपने अनुकूल बनाने का सामर्थ्य रखता है व अपनी बुद्धि से आदर्श सृष्टि निर्माण करके उन पर प्रभुत्व प्राप्त कर सकता है। द्रष्टा व दृश्य दोनों के अव्यक्त स्वरूप से जब तक तादात्म्य नहीं हो जाता तब तक मनुष्य, आध्यात्म विद्या हो या भौतिक विद्या, उनके नवीन सत्यों का दर्शन नहीं कर सकता। बल्कि यों कहें कि जो अव्यक्त स्वरूप को नहीं समझ सका वह जीव सृष्टि व दृश्य-सृष्टि का स्वरूप भी ठीक ठीक नहीं समझ सकता। हमारा अर्थात् जीवात्मा का, जो शुद्ध अव्यक्त स्वरूप है वही परमात्मा है। परमात्मा किंवा परमेश्वर जीव और जगत् का ही एक अव्यक्त व शुद्ध रूप है, और कुछ नहीं। परमेश्वर हमारे प्रज्ञा-चक्षुओं को नवीन सत्य का दर्शन कराता है व मन्त्र-द्रष्टा-ऋषि समाधि अवस्था में उनका दर्शन करते हैं—इसका अर्थ यही है कि हमारे अव्यक्त अन्तरात्मा के जाग्रत होने से हमारी बुद्धि में स्फूर्ति या तेज आता है व वह अपने दृश्य-संशोधन विषय में तल्लीन हो जाती है जिससे वह आदर्श-सृष्टि का दर्शन कर सकती है।

इस दृष्टि से सामान्य बुद्धि व प्रतिभा, अथवा जीवात्मा व परमात्मा, दृश्य-जगत् और उसके अव्यक्त नियम अथवा परिवर्तन-कारण, इनमें अद्वैत-वेदान्त भेद की कल्पना नहीं करता। दृश्य-जग का स्वरूप द्रष्टा के ज्ञान पर अवलंबित रहता है। अज्ञानी व ज्ञानी जीव की सृष्टियाँ भिन्न-भिन्न रहती हैं, जिनमें पहली मोहमयी व दूसरी सत्य है। ज्ञानी जीव को सत्य सृष्टि प्रतीत होती है व अज्ञानी जीव को अज्ञानी सृष्टि। यह अज्ञान व ज्ञान भौतिक व आत्मिक दो तरह का है। आत्मिक ज्ञान से द्रष्टा का अव्यक्त स्वरूप प्रतीत होता है व भौतिक ज्ञान से दृश्य-जगत् का। जो मनुष्य अव्यक्त परमात्मा से एक-रूप हो गया है वह किसी भी देवता की शरण नहीं जाता या यों कहें कि आत्म-स्वरूप से भिन्न किसी भी परमेश्वर को नहीं जानता। शंकराचार्य कहते हैं:—

"नाहं नमामि देवान्। देवानतीत्य न सेवते देवम्॥
न तदनु करोति विधानं। तस्मै यतते नमो नमो मह्यम्॥"

अर्थात् मैं किसी भी देव को नमस्कार नहीं करता। देवताओं के परे चले जाने वाला मनुष्य किसी भी देव की सेवा नहीं करता व उसके बाद किसी भी तरह का पूजा-विधान नहीं करता। मैं खुद, यत्न-शील, अपने को ही बारबार नमस्कार करता हूँ। यदि ऐसा कहें कि परमेश्वर नहीं है तो जीव और जगत् के अव्यक्त शुद्ध रूप की ओर साधारण लोगों का ध्यान नहीं जाता। अतः लोगों को यह सिखाने के लिए कि जीव व जगत् का अव्यक्त स्वरूप भी है आस्तिकवाद ग्रहण करना पड़ता है। परन्तु आस्तिकवाद स्वीकार करने से आम लोग यह मानकर कि अपने उद्धार की सारी जिम्मेदारी व बोझा उठानेवाला परमेश्वर नामक जीव व जगत् से भिन्न कोई तीसरा पदार्थ है, निष्क्रिय बन जाते हैं व वही हमारी बुद्धि में प्रकाश डालेगा, ऐसा समझकर अपनी बुद्धि तक नहीं चलाते। महान् पुरुष अपनी बुद्धि से जिस ज्ञान को प्राप्त करते हैं उसे वे परमेश्वर-निर्मित मानते हैं व उसके लिखे ग्रन्थ को पवित्र मानकर शब्द-प्रमाण की ओर झुकते हैं। बुद्धियोग और कर्मयोग का इस प्रकार लोप होने से भौतिक विद्या व आत्मविद्या की प्रगति रुक जाती है, धर्म के नाम पर अधर्माचरण होने लगता है व विद्या ज्ञान के लिए नहीं विवाद के लिए

है, ऐसी अवस्था उत्पन्न हो जाता है। मनुष्य को बताना पड़ता है—"परमेश्वर और कुछ नहीं, जीव व जगत् का अव्यक्त रूप ही है व यह दृश्य-विश्व है—अपूर्णता से पूर्णता की ओर, अज्ञान से ज्ञान की ओर, अन्धकार से प्रकाश की ओर जानेवाली मनुष्य की यत्न-रूपी व संसार की अनन्त वस्तुओं में अखंड परिवर्तन करनेवाली, अव्यक्त शक्ति का व्यक्त रूप। वही द्रष्टा व दृश्य का अव्यक्त स्वरूप अर्थात् परमेश्वर है। तू ही परमेश्वर है, परमेश्वर ही जगत् है। उसी के कारण संसार के परिवर्तन व तेरा उद्धार होता है। तू ही खुद अपना उद्धार कर सकेगा। यत्न ही परमेश्वर है। 'परमेश्वर है' यह तेरी वाणी बोलती हो तो भी वह भिन्न नहीं है ऐसा ही तू अनुभव कर व भौतिक विद्या और आध्यात्म विद्या की सहायता लेकर अपने प्रयत्न से संसार पर प्रभुत्व पाने का अपना अधिकार तू प्राप्त कर।" भारतीय तत्व-ज्ञान के आज तक के सारे ज्ञान का यह सार तथा अमृत है। आत्म-ज्ञान का यह सिद्धान्त भौतिक ज्ञान की वृद्धि अथवा उपासना के प्रतिकूल नहीं अनुकूल ही है। वह जिस प्रकार मानवी प्रयत्न, जीव का स्वातंत्र्य, व बुद्धि की आदर्श निर्माण करने की शक्ति, इनका विरोधी नहीं उसी प्रकार आत्म-सृष्टि व भौतिक सृष्टि के नियमों का, बल्कि नियति का भी, विरोधी नहीं। सृष्टि के नियम और जीव-स्वातंत्र्य का उसमें समन्वय है व वह जीवात्मा को परावलंबी न बनाते स्वावलंबी आत्मोद्धार का ही उपदेश करता रहता है। भौतिक फलों की प्राप्ति का जिस प्रकार प्रयत्न ही एक साधन है उसी प्रकार वह आत्मज्ञान या मोक्ष-प्राप्ति का भी साधन है। मोक्ष की कोई पोटडी ईश्वर के पास नहीं है। चित्त-शुद्धि और इन्द्रिय-जय के द्वारा मन को निर्विषय करना मोक्ष-प्राप्ति का सही उपाय है। अद्वैत सिद्धान्त का यही सन्देश मनुष्य के लिए है।

आधुनिक योरप की प्रगति का श्रेय वहाँ के व्यापारी-वर्ग को है। आज उसकी प्रगति को रोकने का श्रेय भी उसी वर्ग को है। योरप का नेतृत्व व्यापारी-वर्ग के हाथ में आने पर वहाँ की संस्कृति का भौतिक बन जाना स्वाभाविक था। भौतिक सम्पत्ति का अर्जन ही समाज में इनका कार्य और वही इनका नित्य व्यवसाय–इससे मानवी सुख ही भौतिक

सुख और भौतिक सुख का अर्थ धन से प्राप्त सुख, ऐसी मानवी सुख की व्याख्या योरप में शीघ्र ही रूढ़ हो गयी । फिर व्यक्ति-स्वातंत्र्य का अर्थ हुआ धनार्जन की स्वतंत्रता, व्यक्ति-सुख का अर्थ हुआ धन से मिलनेवाला सुख। इस व्यक्तिगत सुख व धन की रक्षा करना राज्य-सत्ता का आदि-कर्त्तव्य हुआ व राज्य-सत्ता हुई व्यक्ति-गत संपत्ति की रक्षा करनेवाली संस्था। इस तरह का आर्थिक, राजनैतिक व सामाजिक तत्वज्ञान वहाँ शीघ्र ही फैल गया। व्यापारी वर्ग के सामाजिक तत्वज्ञान से 'व्यक्ति यदि अपनी संपत्ति बढ़ाता है, तो राष्ट्र की संपत्ति अपने-आप बढ़ती है। इसलिए राजसत्ता व्यक्ति की आर्थिक उन्नति में बाधक न बने। उसे बाधक न बनने देने के लिए राजसत्ता को लोग अपने हाथ में लें व प्रत्येक देश के लोग अपने राष्ट्र की सम्पत्ति, सत्ता व वैभव बढ़ाने का प्रयत्न करें इसी में व्यक्ति राष्ट्र और समस्त मानव-जाति का कल्याण है।' ऐसा मायावी वेदान्त उत्पन्न हुआ। धनार्जन ही सब विद्याओं और शास्त्रों का ध्येय बन गया। अपने राष्ट्र का भौतिक सुख ही सर्वश्रेष्ठ मानव-धर्म बन बैठा। राज-सत्ता को लोक-सत्ता का रूप प्राप्त हुआ; परन्तु यह लोक-सत्ता शीघ्र ही धनिक-सत्ता बन गयी और धनिक-वर्ग का ही हित राष्ट्र का हित मान लिया गया ।

यह व्यक्तिवादी, सामाजिक विचार-श्रेणी कुछ समय तक योरप की प्रगति का कारण बनी। जब तक व्यक्ति बिना कष्ट के धनार्जन नहीं कर सकता था, जब तक साहस ही से श्री नहीं प्राप्त होती थी और जब तक संयम के बिना संचय नहीं हो सकता था, तब तक यह कहा जा सकता था कि मनुष्य ने जो कुछ कमाया वह उसकी मेहनत का फल है। प्रत्येक व्यापारी को जो नफा मिलता था वह उसके साहस का फल है। प्रत्येक साहूकार को जो व्याज मिलता था वह उसके संयम का फल है। परन्तु जब धनोत्पादन के साधन बदल गये, उद्योग-धन्धे बढ़ गये और छोटे गृह-उद्योग टूटकर बड़े-बड़े कारखाने बन गये तब से यह व्यक्तिवादी अर्थ-शास्त्र व समाज-शास्त्र, जो छोटे धन्धों से उपजीविका करनेवाले समाज पर लागू पड़ता था इस कारखानेदार व पूँजीवादी समाज पर लागू न पड़ने लगा। पूँजीवादी समाज में धनार्जन और

कष्ट का अनुपात व्यस्त रहता है। धन-संचय का और संयम का कुछ संबंध नहीं रहता और यदि नफेबाज़ पूँजीपति को साहस करना भी पड़ा तो वह अपने कष्टार्जित धन पर नहीं, प्रायः दूसरों के धन पर ही संभव होता है। समाज के धनोत्पादन के सब साधन अल्प-संख्यक वर्ग के पास चले जाने पर, व बहु-संख्यक निर्धन-वर्ग को जीवन के आवश्यक साधन प्राप्त करने के लिए अपनी श्रम-शक्ति को बेचकर इन अल्प-संख्यक धनिकों का दास बनने की नौबत आने पर इन दोनों वर्गों में होनेवाले ठहराव व इकरार स्वेच्छापूर्वक या राजी रजामन्दी के इकरार नहीं हो सकते। इस प्रकार आर्थिक गुलामी में डूबे निर्धन, अज्ञान व असंगठित व्यक्ति को शासन-कार्य में धनिक, विद्वान् व संगठित वर्ग के व्यक्ति के बराबर एक एक मत का अधिकार देने से सच्ची लोक-सत्ता नहीं पैदा हो सकती। ऐसे प्रजा-सत्ताक राज्य की सब प्रातिनिधिक संस्थाएं धनिक-वर्ग के हाथ में चली जाती हैं। उसमें सब कानून-कायदे धनिक-वर्ग की संपत्ति की रक्षा के लिए बनाये जाते हैं। ऐसी प्रातिनिधिक संस्थाओं के प्रति उत्तरदायी मन्त्रिमंडल धनिक-वर्ग की संपत्ति की रक्षा करनेवाली एक दंडधारी संस्था बन जाती है। लोक-सत्ता का अर्थ है लोकमतानुसार शासन करना; परन्तु लोकमत बनाने वाले अखबार व पुस्तक-प्रकाशकों पर, नहीं-नहीं, ज्ञान-दान करनेवाले विद्यापीठ व सार्वजनिक शिक्षण-संस्थाओं पर भी देश के धनिक-वर्ग का आक्रमण व प्रत्यक्ष नियंत्रण होने लगता है। ऐसी लोक-सत्ता में व्यक्ति-स्वातंत्र्य का अर्थ धनिकों का स्वातंत्र्य व निर्धनों की दासता और राष्ट्रहित का अर्थ धनिकों का सुख और निर्धनों का कष्ट होता है। इस कारण प्रजा-सत्ता को धनिक-सत्ता का व राष्ट्रवाद को साम्राज्यवाद का विकृत रूप प्राप्त होता है।

इस विकृति को नष्ट करने का एक मात्र उपाय है—समाज के धनोत्पादन के साधन धनिक-वर्ग की निजी संपत्ति में से निकालकर सार्वजनिक मिलकियत बना देना—अर्थात् समाज-सत्ताक प्रजा-सत्ता स्थापित करना। योरप के सामाजिक तत्वज्ञ आज इस बात को मानते हैं; परन्तु आधुनिक योरप के सामने आज यही एक प्रश्न है कि यह क्रान्ति की कैसे जाय। इस प्रश्न का जो उत्तर कार्ल मार्क्स् ने दिया है

उसी में से आज के वैज्ञानिक समाजवाद उर्फ कम्यूनिज्म और उसके वर्ग-युद्ध-रूपी क्रान्ति-शास्त्र का जन्म हुआ है। इसके बर्खिलाफ इस क्रान्ति को रोकने के लिए व प्रजा-सत्ता का आवरण हटाकर, नागरिकों की मूल-भूत स्वतंत्रता को छीनकर, केवल पूँजी-प्रधान समाज-रचना को चिरन्तन करने के लिए फासिज्म का उदय हुआ है। मालिक और मजदूर इस वर्ग-भेद को मिटाकर एक-वर्गीय समाज-रचना करने के लिए कम्यूनिज्म का क्रान्ति-शास्त्र बना। इसके विपरीत प्रचलित वर्ग-भेद कायम रखकर समाज-सत्ताक क्रान्ति को दबाने के लिए फासिज्म का क्रान्ति-प्रति-बन्धक शास्त्र आज योरप में निर्माण हुआ है। इन दोनों शास्त्रों का विश्वास शस्त्र-बल पर है। शस्त्र-बल के झगड़ों के इस वातावरण में, आधुनिक योरप में, आत्म-बल पर अधिष्ठित क्रान्ति-शास्त्र फैलाने की अथवा बड़े पैमाने पर उसके अवलंबन किये जाने की संभावना आज तो नहीं दिखाई देती। आधुनिक भारत में आत्म-बल के जिस निःशस्त्र क्रान्ति-विज्ञान का विकास हुआ है वह प्रजा-सत्ता से समाज-सत्ता में जाने के, कम से कम भारतवर्ष में, जरूर काम आवेगा और आज जो उसे अकेली राष्ट्रीय प्रजा-सत्तात्मक क्रान्ति का रूप मिला है उसके विकास में से ही स्वतंत्र भारत की सर्वांगीण सामाजिक क्रान्ति पैदा होगी—ऐसा हमारा मत है।

कार्ल मार्क्स के वैज्ञानिक क्रान्तिवाद का भी थोड़ा विचार यहाँ कर लें। मार्क्स ने योरप की पिछली दो तीन सदियों के इतिहास का अवलोकन करके अपने शास्त्रीय या वैज्ञानिक समाज-सत्ता के क्रान्तिवाद का स्वरूप निश्चित किया। मध्ययुगीन योरप में, सामन्तशाही के उदर में ही व्यापारी-वर्ग का उदय हुआ। सरदारों और राजाओं की भौतिक व आर्थिक जरूरतें पूरी करने के व्यवसाय से उसकी बढ़ती हुई। इस बाढ़ में सरदार लोगों की ओर से विघ्न डाला जाने लगा। उनकी आपस की यादवी से देश में शान्ति नहीं रहती थी, जिससे व्यापार व देन-लेन की उन्नति नहीं हो सकती थी। यह देखकर सरदार-वर्ग को मिटाने में राजा लोगों की उसने मदद की और सामन्तशाही को मिटाने में सहयोग दिया। यह सामन्तवर्ग हमारी वर्ण-व्यवस्था का क्षत्रिय-वर्ण

था। सामन्तशाही पद्धति में लोगों की रक्षा करना उनका एक व्यक्तिगत कार्य ही था। आसपास चार सिपाही इकट्ठे किये और अपने बाहुबल से चाहे जहाँ एक छोटा-सा राज्य कायम कर लेते थे। यह बिलकुल प्रारम्भिक अवस्था का क्षात्र-धर्म था। फिर चार की जगह चार सौ सिपाही व चार हजार पैदल व घुड़सवार इकट्ठे करके उन्होंने धड़ाधड़ राज्यों पर कब्जा करना शुरू किया। ताहम कुछ समय तक इन सामन्त लोगों ने देश की व प्रजा की रक्षा की। परन्तु बाद को ये लोग व्यापारियों व साहुकारों को ही लूटने लगे व देश में अराजकता मचाने लगे। बड़े पैमाने पर राष्ट्रीय एकच्छत्री शासन स्थापित करने में इससे रुकावट पैदा होने लगी और शान्ति-काल में जो सम्पत्ति और संस्कृति की उन्नति हो सकती है वह रुक गयी। इसके विपरीत व्यापारी वर्ग, स्वदेश और विदेश में व्यापार करके अपने देश की धन-दौलत बढ़ाने लगा। तब राजाओं ने इस सामन्त वर्ग को, जो देश की साम्पत्तिक उन्नति में बाधा डालता था, नष्ट करके रक्षण की जिम्मेदारी अपने हाथ में ली और इन उद्योग-धन्धों का राष्ट्रीकरण किया। उस समय इस सामन्त वर्ग ने परम्परागत व्यक्तिगत अधिकार और स्वतंत्रता-रक्षा के नाम पर इस राष्ट्रीयकरण का विरोध किया। उसने यह पुकार मचायी कि हमारे जैसे अभिजात श्रेष्ठ वर्ग को कल के उपजे व्यापारी-वर्ग के समान दर्जे में ला रखना अप्राकृतिक है। ऐसी सामाजिक विषमता कानून के द्वारा नहीं पैदा की जा सकती, निदान कुछ समय तक वह कायम नहीं रह सकती। जागीरें दिये बिना सेनापतित्व स्वीकार करके देश के लिए अपने प्राणों की आहुति देने को कोई भी आगे न बढ़ेगा और इसलिए, जागीरदार-वर्ग को नष्ट करने से अन्त में राष्ट्र की ही हानि होगी ऐसा भय उन्होंने दिखलाया। फिर भी योरप के बढ़ते हुए व्यापारी-वर्ग ने अपने को अभीष्ट सामाजिक व राजनैतिक क्रान्ति कर ही डाली। जब राजा लोग अपनी सैनिक-सत्ता व सम्पत्ति का दुरुपयोग करने और धनिक समाज पर मनमाना कर बैठाने लगे, तब किसानों का नेतृत्व करके, व्यापारी-वर्ग ने प्रजा-सत्ता की स्थापना की, सामाजिक समता की घोषणा की व राष्ट्रीय बन्धु-भावना का ढिंढोरा पिटवाया। इस तरह जमींदार, जागीरदारों व व्यापारी

वर्ग के कलह से योरप में प्रजा-सत्ता का जन्म हुआ। बाद को यही व्यापारी साहूकार, औद्योगिक क्रान्ति के पश्चात्, मिलों और कारखानोंवाले बन गये।

इस औद्योगिक क्रान्ति से धनोत्पादन की मात्रा बढ़ गयी; परन्तु अब इस मात्रा-भेद से प्रकार-भेद पैदा हो गया। छोटे पैमानों के उद्योग-धन्धों से धनोत्पादन प्रायः मालिकों के श्रम से होता है। बड़े-बड़े कारखानों से धनोत्पादन मालिक के श्रम से नहीं, बल्कि मजदूरों के श्रम से होता है। इस तरह धनोत्पादन की मात्रा के बढ़ते ही उसका प्रकार भी बदल गया। मात्रा-भेद से जब प्रकार-भेद पैदा होता है तब फिर पहले की समाज-रचना का प्रकार भी बदलना पड़ता है। जो बन्धन छोटे धन्धोंवालों के समाज में निभने के लिए काफी होते हैं वे बड़े उद्योगवालों को नहीं होते।

कोई प्राणि-शास्त्रज्ञ शायद यह कहे कि घरेलू बिल्ली, जंगली बिल्ली और शेर इनकी आकृति में कदाचित् मात्रा-भेद ही है। परन्तु कोई समाज-शास्त्री यह नहीं कहेगा कि घरेलू बिल्ली की तरह जंगली बिल्ली या शेर को समाज में बिना रोक-टोक के आजाद रहने दिया जाय। बैलगाड़ी की राहदारी का नियंत्रण करने के लिए जो नियम काफी होते हैं वे मोटर के लिए काफी नहीं होते और पाँच-पचास घर के गाँव के सार्वजनिक आरोग्य के नियम पाँच-पचास हजार घरवाले औद्योगिक शहर की आरोग्य-रक्षा के लिए काफी नहीं होते। इन उदाहरणों से यह दिखाई देगा कि मात्रा-भेद से प्रकार-भेद पैदा होता है और जब समाज के सामाजिक व्यवहारों का परिमाण और प्रकार बदलता है तो उसके नियमन का भी प्रकार बदल जाता है। इतना ही नहीं, बल्कि पहले की समाज-रचना का सारा रूप ही बदल कर उसमें क्रान्ति करनी होती है। कार्ल मार्क्स् ने यह दिखाया कि औद्योगिक क्रान्ति के कारण ऐसी ही एक सर्वांगीण सामाजिक क्रान्ति की आवश्यकता ही नहीं बल्कि शक्यता भी उत्पन्न हो गयी है। सामन्तशाही से प्रजा-शत्ता में जाने की क्रान्ति जिस तरह व्यापारी वर्ग के नेतृत्व से हुई उसी तरह उसने यह भी बता दिया कि, प्रजा-सत्ता से समाज-सत्ता की अवस्था में जाने की क्रान्ति मजदूर वर्ग करेगा, जो कि पूँजीवाद के अधीन ही बना है, उसी के काम के

लिए संगठित हुआ है और उसके समय में ही धनोत्पादन का काम अपने संगठित प्रयत्न से करते हुए क्षण-क्षण जिसका शोषण होता है।

उसका यह मत था कि यह क्रान्ति एक-वर्गी समाज की स्थापना करके मानवी समाज की नैतिक व सांस्कृतिक उन्नति करेगी। फिर भी उसका यह भी कहना था कि उस क्रान्ति के लिए यह एक ही कारण काफी न होगा। समाज की एक रचना मिटकर जब उसकी जगह दूसरे प्रकार की रचना अस्तित्व में आती है तब वह केवल नैतिक व सांस्कृतिक उन्नति की आकांक्षा से ही नहीं हो सकता। कोई भी समाज-रचना महज नैतिक व सांस्कृतिक दृष्टि से अपूर्ण हो तो इसी कारण से लोग उसे बदल डालने या उसमें क्रान्ति करने के लिए तैयार नहीं होते। उसमें क्रान्ति उसी अवस्था में होती है जब वह अपने अन्तर्गत विरोधों से नष्ट-प्राय हो जाती है, अच्छी तरह चल नहीं सकती है या नष्ट हो जाती है, और सब लोग यह समझने लगते हैं कि उससे हमारी जीवन-यात्रा अब चल नहीं सकती। प्रत्येक समाज-रचना में ऐसे अन्तर्गत विरोध रहते हैं व बढ़ते हैं और जब वह समाज-रचना टूट पड़ती है, तभी नवीन समाज-रचना स्थापित करनेवाली क्रान्ति होती है। इस प्रकार के अन्तर्गत विरोध पूँजीवाद समाज-रचना में हैं और उसकी बढ़ती के साथ-साथ बढ़ते भी हैं। प्रत्येक समाज-रचना के विनाश-बीज उसी के इस अन्तर्विरोध में घुले-मिले रहते हैं व उस समाज-रचना की बढ़ती के साथ उनकी भी वृद्धि होती रहती है। पूंजीवाद के विकास के साथ ही साथ उसके विनाश-बीज यानी मजदूर-वर्ग भी बढ़ और संगठित हो रहा है।

पूँजीवाद का प्रमुख आन्तर्विरोध इस प्रकार बताया जा सकता है—इस समाज-यंत्र की तमाम प्रेरक शक्ति व्यक्तिगत नफा व स्पर्धा में ही है। मुनाफे के लिए मजदूरों का वेतन कम करना और माल की दर बढ़ाना ये दो साधन पूँजीपति काम में लाता है व आपस की प्रतिस्पर्धा के कारण मजदूरों को चूसने की नीति वह नहीं छोड़ सकता। मजदूरों का वेतन कम करके उन्हें चूसना और अपने माल की खपत बढ़ाना, दोनों बातें एक दूसरे से मेल नहीं खाती। आम जनता का शोषण होने से उसकी क्रय-शक्ति कम होती है व खरीददार न मिलने से माल की खपत न हुई

तो कारखाने बन्द करने पड़ते हैं। कारखाने बन्द हुए तो लोग बेकार होते हैं और बेकारी से जनता की क्रयशक्ति और भी कम होती है। इसीसे औद्योगिक संकट पैदा होते हैं। इन संकटों को दूर करने के लिए योरोपीय राष्ट्रों ने साम्राज्यवाद का अवलंबन किया। इससे कुछ समय तक वे इस संकट से बचे रहे। ताहम आज योरप के साम्राज्यवादी देश, इस उपाय से भी, उस संकट को दूर नहीं कर सकते। इससे छूटने के लिए जिस साम्राज्यवाद का अवलंबन उन्होंने किया उसके द्वारा आज पहले से भी अधिक भयंकर संकट-परंपरा महायुद्ध के रूप में उनके सामने आ गयी है। फिर साम्राज्य के विजित राष्ट्र भी अपनी औद्योगिक उन्नति करके योरपीय राष्ट्रों से औद्योगिक स्पर्धा कर रहे हैं जिससे चीन, हिन्दुस्तान जैसे देशों की मंडियाँ उनके हाथ से जा रही हैं। इतना ही नहीं बल्कि जिन योरपियन पूँजीपतियों ने चीन व हिन्दुस्तान में अपनी पूँजी लगाकर कारखाने खड़े किये उन्हीं की स्पर्धा आज योरपियन कारखानेवालों को चुभ रही है। हिन्दुस्तान जैसे देश का सौ साल तक सतत शोषण होने से यहाँ की निर्धन जनता भी योरपीय कारखानेवालों का माल ले नहीं सकती। इस तरह जिस संकट को वे टालना चाहते थे वह अधिक भीषण रूप में उनके सामने आ खड़ा हुआ है। प्रत्येक देश में मालिक और मजदूरों का वर्ग-कलह जोरों पर है, जिसमें से क्रान्ति हुआ ही चाहती है। इस तरह 'पूँजीवादी समाज-रचना व संस्कृति अपने आन्तर्विरोध के हवन-कुंड में जलकर भस्म हो जावेगी' मार्क्स की यह भविष्यवाणी योरप में बहुत कुछ सच निकली है व सच निकलने की बिलकुल तैयारी में है यह कहना गलत नहीं। लेकिन 'योप की वर्तमान पूंजीपति संस्कृति नष्ट होने पर उसमें से नवीन समाज-सत्ताक संस्कृति निर्माण होगी।' मार्क्स का यह भविष्य योरप में अवश्य ही सच होगा, यह विश्वास के साथ नहीं कहा जा सकता। हमें इसकी संभावना बहुत कम मालूम पड़ती है। परन्तु हाँ, हमें इस बात में कोई सन्देह नहीं कि मानव-संस्कृति अब आगे समाज-सत्ताक रुप ही धारण करेगी।

मार्क्स के क्रान्ति-शास्त्र का स्वरूप समझने के लिए उसके एक दो और मतों का जिक्र करना जरूरी है। समाज-सत्ताक क्रान्ति साधारणतः

प्रजा-सत्तात्मक वैध-उपायों से नहीं बल्कि सशस्त्र क्रान्ति के द्वारा सफल होगी यह उसका साधारण सिद्धान्त था। उसका मत था कि इस समाज-सत्ताक सशस्त्र क्रान्ति के बाद कुछ समय तक अनियंत्रित मजदूर-सत्ता (Dictatorship of Proletariat) स्थापित होगी। जब पूँजीवाद निर्मूल हो जायगा तो समाज में मजदूर-वर्ग के अलावा कोई वर्ग बाकी न रहेगा और एक-वर्गी समाज-रचना स्थापित हो जायगी। इस एक-वर्गी समाज-रचना में धनोत्पादन के सब साधन समाज की मिल्कियत हो जायँगे जिससे सामुदायिक धनोत्पादन का सारा लाभ सब को एक-सा मिलेगा। सब के सुख की मात्रा बढ़ जायगी, सब की आवश्यकताएँ यान्त्रिक उत्पादन की सहायता से बहुत थोड़े कष्ट में पूरी होने लगेंगी। यह विश्वास रहेगा कि हमारे कष्ट का फल कोई दूसरा वर्ग नहीं छीनेगा, वह प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष आज या कल सब का सब हमारे या हम-जैसे मजदूरों को आज या अगली पीढ़ी में मिलता रहेगा जिससे वे खुशी-खुशी धनोत्पादन के सब कष्ट स्वीकार करेंगे। बाल, वृद्ध, बीमार सब की सेवा-शुश्रूषा समाज के द्वारा होती रहेगी और सब प्रौढ़ सशक्त व्यक्तियों को काम देकर उनकी आवश्यकता के योग्य वेतन देने की व्यवस्था समाज करेगा। समाज के सब लोगों को ऐसी स्थिरता का अनुभव होने से धन-संचय का उनका लोभ कम हो जायगा। जब समाज में ऐसा लोकमत बन जायगा कि समाज के किसी भी वयस्क और सशक्त व्यक्ति को बिना काम किये पैसा या धन नहीं मिल सकता व ऐसा करना उचित भी नहीं तथा ऐसा प्रत्यक्ष व्यवहार समाज में सालों तक होता रहेगा व जब समाज की भौतिक आवश्यकताएँ पूरी करने के लिए कम श्रम की जरूरत रहने से एक-वर्गी समाज में अनेक वर्षों तक बन्धु-भावना रूढ़ हो जायगी व मजदूर संस्कृति की स्थापना होगी तो फिर समाज में किसी प्रकार के दण्डधारी शासन-यन्त्र की जरूरत नहीं रह जायगी। सामाजिक विषमता से पैदा होनेवाले अपराध, अत्याचार, अशान्ति मिट जायगी व मजदूर-सत्ता का शासन-यन्त्र बेकार बनकर अपने-आप मिट जावेगा। इसके बाद वास्तविक वर्ग-विग्रह-रहित मानव-संस्कृति का उदय होकर मानवी इतिहास का वर्ग-विग्रही जंगली युग नष्ट हो जायगा।

यह जो समाज-सत्ताक क्रान्ति का स्वरूप बताया गया वह मार्क्स के वैज्ञानिक समाजवादान्तर्गत क्रान्ति-शास्त्र का स्थूल स्वरूप है। समाज की प्राथमिक अवस्था को छोड़ दें तो उसकी प्रत्येक अवस्था में दो वर्ग रहते हैं—गुलाम और उनके मालिक, भूदास व जमींदार और मजदूर व मिल-मालिक। इनमें से पहला वर्ग श्रम और कष्ट करके समाज के धनोत्पादन का सारा भार उठाता है और दूसरा वर्ग उनको उसमें से महज इतना सा हिस्सा देकर जिसमें वे जी भर सकें, शेष सारा भाग खुद हड़प लेता है। गुलामों का वर्ग नष्ट होने पर, मध्य युग में, भूदास वर्ग बना और मध्य-युगीन संस्कृति के लय हो जाने पर आजकल का मजदूर-वर्ग निर्माण हुआ तथापि प्राचीन, मध्य-युगीन व अर्वाचीन तीनों काल में मानव संस्कृति किसी-न-किसी रूप की गुलामी पर ही खड़ी रही और है। आधुनिक योरप में मजदूर वर्ग स्वतंत्र नागरिक बन गया है, उसे मतदान का अधिकार मिला है। मजदूरों में से हर एक को चाहे जितना धन कमाकर पूँजीपति बनने की स्वतंत्रता कानून ने दे दी है। मगर इस पर से यह कहना कि पूँजीपति समाज में गुलामी नहीं है, गलत है और आज के समाज में निर्धन मजदूर-वर्ग को इकरार-स्वातंत्र्य है यह मानना बिलकुल भ्रम है। यह बात कार्ल मार्क्स ने बहुत अच्छी तरह साबित कर दी है। पूँजीपति समाज में धनोत्पादन के सब साधन मुट्ठी भर धनिकों के हाथ में रहते हैं और बहुसंख्यक निर्धन-वर्ग को अपनी श्रम-शक्ति बेचनी पड़ती है व पूँजीपति जो-कुछ भी वेतन दें उसे चुपचाप ले लेना पड़ता है। इस श्रम-शक्ति के क्रय-विक्रय में मजदूर के पल्ले अधिक से अधिक हुआ तो महज उपजीविका भर के साधन पड़ सकते हैं व उनके बल से उत्पन्न सारी संपत्ति पूँजीपति-वर्ग को मिलती है। जिस तरह बैल के सारे श्रम-कष्ट से उत्पन्न अनाज मालिक के कब्जे में जाता है, बैल के चारा-पानी के खर्च के अलावा जो कुछ धन बचता है वह सब मालिक को मिलता है उसी तरह समाज के मजदूर-वर्ग के उदर-निर्वाह के बाद बचा सारा धन, जमीन, व्याज व मुनाफा अनेक रूपों में मालिक-वर्ग को मिलता रहता है। इस पूँजीपति समाज में मजदूर का दर्जा बैल या गुलाम के दर्जे से भिन्न नहीं होता। इसलिए जबतक मालिक वर्ग के पास संकलित

धनोत्पादन के सब साधनों को, जिन्हें समाज के सब लोगों के जीवन-साधन कहना चाहिये, सार्वजनिक संपत्ति बनाकर समाज-सत्ताक प्रजातंत्र स्थापित न होगा तबतक मनुष्य-समाज से गुलामी का अन्त नहीं होगा, न मानव-संस्कृति से वर्ग-कलह ही नष्ट हो सकता है। मार्क्स का यह मुख्य सिद्धान्त है। समाज-सत्ताक अवस्था समाज को प्राप्त कराने के लिए वर्ग-विग्रह से उत्पन्न मजदूर-सत्ता या श्रमिक-सत्ता एक सर्व-सामान्य उपाय है, ऐसा भी उसका मत था।

आज तक समाज में एक परोपजीवी व दूसरा श्रमोपजीवी ऐसे दो वर्ग रहते आये हैं। इनमें से राजसत्ता परोपजीवी वर्ग के पास रहने से समाज के सब कानून-कायदे, रूढ़ि, धर्माचार, धर्म-विचार, सामाजिक आदर्श, नैतिक विचार, विज्ञान और कला इन सब पर सत्ताधारी व परोपजीवी वर्ग की छाप पड़ी है। इससे आज तक की मानव-संस्कृति समाज के आधार-भूत वर्ग-भेद व वर्ग-विग्रह से विकृत हो चुकी है। समाज के कानून, रूढ़ि, धर्माचार, धर्मविचार, सामाजिक आदर्श, नैतिक विचार, विज्ञान व कला, सामाजिक नियम इन सबका उपयोग वरिष्ठ वर्ग ने अपने स्वार्थ के लिए व कनिष्ठ-वर्ग की दासता को समर्थनीय व चिरन्तन करने में किया है। राजनीति, समाज-नीति, अर्थ-नीति, इन सब में मानव संस्कृति का मूलभूत यह वर्ग-विग्रह प्रतिबिंबित हुआ है और राजा तथा राज्याधिकारी, समाजनेता और उनके अनुयायी, अर्थ-शास्त्रज्ञ व धर्म-शास्त्रज्ञ, कवि व दूसरे कलाकार इन सबने समाज के इस वर्ग-भेद व तज्जन्य विषमता को स्वीकार किया है। इस दृष्टि से आजतक का मानव-संस्कृति का इतिहास वर्ग-विग्रह का इतिहास है और अब तक उसमें जो सर्वांगीण समाज-क्रान्तियाँ हुई हैं वे वर्ग-विग्रह से उत्पन्न क्रान्तियाँ हैं, ऐसा कार्ल मार्क्स का मत है। उसके इस सिद्धान्त के अनुसार समाज-सत्ताक क्रान्ति वर्ग-विग्रह में से ही उत्पन्न होगी व वह प्रायः सशस्त्र ही होगी ऐसा उसका कहना था। मानव-संस्कृति को पूँजीवादी युग के बाद कौन-सा स्वरूप प्राप्त होगा व कैसा होगा इसकी साधारण कल्पना इस सिद्धान्त से हो सकती है परन्तु किस देश में कौन-सी क्रान्ति किस तरह होगी व कब होगी और वहाँ समाजवाद की स्थापना किस साधन व

अनुक्रम से होगी इस व्यावहारिक राजनीति की दृष्टि से अत्यन्त महत्त्व के प्रश्नों का उत्तर देने में मार्क्स की इस उपपत्ति का, स्थूल सामान्य ज्ञान किसी काम नहीं आता । मार्क्स-एंजल्स के बाद लेनिन ने कम्यू-निज्म के व्यावहारिक क्रान्ति-शास्त्र में बहुत उन्नति की है लेकिन यह अनुभव हुआ कि लेनिन का क्रान्ति-शास्त्र भी रूस के बाहर संसार में दूसरी जगह ज्यों का त्यों लागू नहीं किया जा सकता । तब लेनिन के बाद कम्यूनिस्ट नेताओं ने भी इस क्रान्तिःशास्त्र में बहुत घटी-बढ़ी की है । फिर भी यह मानना कि कम्यूनिज्म ने एक ऐसा क्रान्ति-शास्त्र बना रखा है जो संसार के सभी राष्ट्रों पर घट सकता है महज़ भ्रम है और ऐसी अपेक्षा करना भी हमारी राय में वैज्ञानिक मनोवृत्ति का द्योतक नहीं है ।

इस सामान्य विवेचन के बाद अब हम हिन्दुस्तान के कम्यूनिस्ट-दल की नीति का थोड़ा विचार करें । हिन्दुस्तान में कम्यूनिस्ट पार्टी १९२२ के बाद बनी । उसका नेतृत्व बाहर भाई राय व हिन्दुस्तान में भाई डाँगे करते थे ऐसा कहना गलत न होगा । भाई डाँगे ने १९३७ में अपने एक लेख में यह साफ तौर पर कबूल किया है कि १९२२—'२७ तक अर्थात् पहले पाँच साल तक हमारी पार्टी को कम्यूनिज्म के सर्वांगीण तत्वज्ञान व क्रान्तिशास्त्र का यथार्थ ज्ञान न था । उस लेख में वे कहते है—"यहाँ के कम्यूनिस्ट कार्यकर्त्ताओं को मार्क्सिस्ट साहित्य व आन्दोलन का अनुभव नहीं था। उसके अभाव में मार्क्सिस्ट तत्वज्ञान की जानकारी ऐसी-वैसी ही थी। १९२६—'२७ में जब भाई कैम्पबेल व स्प्रेट व ब्रेडले यहाँ आये तब यहाँ के लोगों को उनके द्वारा बाहरी दुनिया व आन्दोलनों का थोड़ा ज्ञान होने लगा। फिर १९२७ में सकलतवाला के सफल व स्फूर्तिदायक दौरे के कारण बहुत से युवक मार्क्सवाद का विचार करने लगे। हिन्दुस्तान के कम्यूनिस्ट आन्दोलन का अत्यन्त महत्त्वपूर्ण व आवश्यक कार्य क्या है ?—भारतीय स्वातंत्र्य-संग्राम के लिए मजदूरों की एक क्रान्तिकारी लड़ाऊ पार्टी तैयार करना। और अगर मजदूरों की आर्थिक व राजनैतिक लड़ाई में दृढ़ता से आगे बढ़कर उनकी मांगों के जोर पर भारतीय स्वातंत्र्य-युद्ध

को बलवान बनाना व उस युद्ध का नेतृत्व पूँजी-पति वर्ग के हाथ से छीनकर सफल बनाना हो तो उसके लिए कम्यूनिस्ट विचारधारा का बीजारोपण मजदूर और श्रमजीवी जनता में करना आवश्यक था। यह कार्य १९२८ की हड़ताल में व उसमें कम्यूनिस्टों ने जो काम किया उससे सिद्ध हुआ। १९२८ की हड़ताल १९२९ में आनेवाली विश्व-मन्दी का पूर्व चिन्ह थी। सायमन-बहिष्कार के झंडे के नीचे राष्ट्रीय आन्दोलन से सम्बन्धित पूँजीपति, व्यापारी व मध्यम वर्ग कुछ दम लेने लगा था तो उधर उसी झंडे-वाला पूँजीपति मजदूरों की मजदूरी काटकर उनसे ज्यादा काम लेकर कष्टकर मन्दी के अरिष्ट से अपना छुटकारा करने की फिराक में था। उससे 'राष्ट्रीय' पूँजीपति व 'राष्ट्रीय' मजदूर इनका वर्ग-विरोध स्पष्ट होने लगा। १९२८ में बम्बई, कलकत्ता, मद्रास, लिलवा वगैरः में कपड़े और जूट की मिलों, रेलवे वर्कशाप, खानों इन सब के मजदूर अपनी रक्षा के लिए हड़ताल कर रहे थे। उनको संगठित करके आहिस्ता आहिस्ता उनकी लड़ाई चलाने का काम कम्यूनिस्ट और मजदूर-किसान पार्टी ने किया और इसी से इसी समय कम्यूनिस्टों को कुछ जनता का आसरा (mass basis) मिला।" मगर यह आसरा १९३० में एक बड़ी भूल कर के कम्यूनिस्टों ने खो दिया। इसका जिक्र भी डाँगेजी ने इसी लेख में किया है। उनका कहना है कि १९३० में म० गांधी ने राजनैतिक स्वतंत्रता के लिए जो सत्याग्रह-संग्राम ठाना था उसमें शामिल न होकर कम्यूनिस्ट-पार्टी ने बड़ी भूल की। उसके विषय में वे लिखते हैं—"इस समय मजदूरों की हड़तालों से सहायता लेकर सत्याग्रह में व्यस्त क्रान्तिकारी जनता के आगे रहने की नीति कम्यूनिस्टों को रखनी चाहिए थी, मगर उन्होंने ऐसा नहीं किया। पूँजीवाले नेताओं ने इस स्थिति से फायदा उठाकर कांग्रेस के झंडे के नीचे आनेवाली विशाल जनता को यह जँचा दिया कि कम्यूनिस्ट राष्ट्रीय स्वतंत्रता के खिलाफ हैं।" इसके बाद राय-पार्टी का उदय हुआ और उसके कारण ट्रेड यूनियन कांग्रेस तक से कम्यूनिस्ट-पार्टी को हटना पड़ा। इसके संबंध में वे लिखते हैं,—"रायवादियों ने सुधार-वादियों की सहायता से कम्यूनिस्ट-पार्टी पर हमला करके ट्रेड यूनियन कांग्रेस पर कब्जा कर लिया। अब कम्यूनिस्ट पार्टी

जनता से अलग पड़ गयी और उसी का एक यह नतीजा निकला कि पार्टी में तात्विक व व्यक्तिगत मतभेद फैले, गुट-बन्दियाँ हुईं और कुछ समय तक बड़ी फूट पड़ गयी।" इस सारे कथन का सच्चा अर्थ यह है कि कांग्रेस का स्वरूप, उसके वर्तमान नेताओं की नीति, राष्ट्रीय संग्राम का महत्त्व, इन सबके बारे में कम्यूनिस्ट विचारधारा के लोग अभी तक एकमत नहीं हैं। इतना ही नहीं, बल्कि पूर्वोक्त अवतरणों में जो इस आशय का एक मत व्यक्त हुआ है कि कांग्रेस के नेता पूँजीपति हैं या उसके द्वारा संचालित राष्ट्रीय संग्राम का नेतृत्व पूँजीपति वर्ग के हाथ में है व उस वर्ग से छीनकर उसे मजदूरों के हाथ में देना चाहिए, यह हमें सही नहीं मालूम होता। भाई रॉय का इसी बात में कम्यूनिस्टों से तीव्र मतभेद है और वे यही कहते हैं कि हिन्दुस्तान में जो क्रान्ति होने जा रही है वह समाज-सत्ताक नहीं, प्रजा-सत्ताक होगी। इसलिए उसका नेतृत्व महज मजदूरों के हाथ में नहीं आ सकता और न हिन्दुस्तान में अभी मजदूर-सत्ता स्थापित करने का समय ही आया है।

यह स्पष्ट है कि रॉय-पार्टी व कम्यूनिस्ट पार्टी दोनों की नीति अभी निश्चित नहीं हुई है और न दो में से किसी को अभी जनता का सच्चा बल या सहारा मिला है। हमारी राय में इसका कारण यह है कि वर्तमान राज्यक्रान्ति किस तत्त्व के द्वारा सफल होगी इसके विषय में उन्होंने गलत निदान किया है और आज के राष्ट्रीय नेताओं की नीति के संबंध में भी उनकी बिलकुल गलतफहमी हुई है। भाई रॉय ने यह अब जाकर समझा है कि वर्तमान राष्ट्रीय क्रान्ति राष्ट्रीय प्रजा-सत्ताक क्रान्ति होगी। पर यह बात उन्होंने बड़ी देर में पहचानी व इसी से उनकी विचार-धारा को आज भी जनता का बल व समर्थन नहीं मिल रहा है। भारतीय जनता आज म० गांधी के नेतृत्व में राष्ट्रीय क्रान्तिकारक बनी हुई है और उसका यह क्रान्तिवाद प्रजा-सत्ताक भी है। परन्तु यह याद रखना चाहिए कि यह क्रान्ति अहिंसात्मक होने वाली है और कांग्रेस के इस नीति का वर्तमान अधिष्ठान सत्याग्रही तत्त्वज्ञान है। भाई रॉय को म० गांधी की यह अहिंसात्मक क्रान्ति की नीति या सत्याग्रही तत्त्वज्ञान मंजूर नहीं है, इसी से आज की राष्ट्रीय राजनीति पर उनकी

राय का कोई असर नहीं पड़ता। आज समाजवादी नेताओं में अभी यदि किसी एक की छाप कांग्रेस की नीति पर पड़ती हो व उसकी नीति को समाजवाद की ओर ले जाने का कार्य भविष्य में यदि कोई नेता कर सके तो वह हमारी राय में पं० जवाहर लाल नेहरू ही हैं। लेकिन पं० जवाहरलाल के संबंध में भाई डाँगे कहते हैं—"१६२१ की तुलना में आज कम्यूनिस्ट आन्दोलन का महत्त्व व बल कितना बढ़ गया है इसके नापने का कोई स्पष्ट गज़ हमारे पास नहीं है। पं० जवाहरलाल ने समाजवाद के प्रचार के लिए जो दौरा किया व कांग्रेस सोशलिस्ट पार्टी का जो उदय हुआ उससे कम्यूनिस्ट विचारधारा को सहायता ही मिली है। किन्तु संसार के पूँजी-प्रधान राष्ट्रों की बेकारी, स्पर्धा-युद्ध व फासिज्म तथा सोवियट में हो रही शान्ति, खुशहाली, बेकारी का अभाव, मजदूर-सत्ता के कारण हुआ आर्थिक व्यवहारों का नियोजन (Planned Economy) इनका भी उपयोग कम्यूनिस्ट विचारधारा की ओर जनता का ध्यान जाने व उसकी सहानुभूति मिलने में हुआ है। खतरा सिर्फ यही है कि पं० जवाहर लाल समाजवादी विचारधारा लोगों के सामने रखकर उसके प्रति जनता की सहानुभूति तो जाग्रत करते हैं किन्तु उसकी सफलता के लिए आवश्यक क्रान्तिकारी वर्ग-संगठन नहीं करते व बड़े-बड़े प्रश्नों पर बहुधा सुधारवादी नेताओं से अपने मत के द्वारा ही नहीं बल्कि आचार के द्वारा भी एकता कर लेते हैं।" इस तरह भाई डाँगे ने पं० नेहरू पर दो इलजाम लगाये हैं। एक यह कि वे समाजवादी क्रान्ति के लिए आवश्यक वर्ग-संगठन नहीं करते और हमेशा सुधारवादी राजनैतिक नेताओं से एकता कर लेते हैं। लेकिन हमारी राय में ये आक्षेप वास्तव में करने योग्य नहीं है। उलटा इस संबंध में उनकी नीति तमाम समाजवादियों के अनुकरण करने योग्य है। यदि हम इस बात को याद रखें कि हमारी वर्तमान क्रान्ति समाजवादी क्रान्ति नहीं, बल्कि एक परतंत्र राष्ट्र की स्वातंत्र्य प्राप्त करने की क्रान्ति है तो यह अच्छी तरह समझ में आ सकता है कि जवाहरलाल जी आज क्यों वर्ग-विग्रह की नीति को प्रधानता न देकर राष्ट्रीय स्वतंत्रता-युद्ध को प्रधानता देते हैं। औद्योगिक साम्राज्य-शाही के कारण साम्राज्य के प्रभु व जित राष्ट्रों की पारस्परिक लड़ाई का विभिन्न राष्ट्रों की लड़ाई बन

जाना लाज़मी हो जाता है। प्रभु राष्ट्र का मजदूर-वर्ग साम्राज्य की लूट से मिलने वाले लाभ का शिकार बना हुआ होता है जिससे वह साम्राज्यशाही के खिलाफ बगावत करने में प्रवृत्त नहीं हो सकता बल्कि अपने साम्राज्य से स्पर्धा करने वाले दूसरे साम्राज्यवादी राष्ट्रों के मजदूर-वर्ग से समाजवादी क्रान्ति के लिए भी एकता करने को तैयार नहीं होता। मतलब यह है कि साम्राज्यशाही **प्रभु राष्ट्र का मजदूर वर्ग वर्ग-विग्रह की अपेक्षा साम्राज्यों की पारस्परिक लड़ाई को अधिक प्रधानता देता है और ऐसी लड़ाई के अवसर पर अपने देश के पूँजीवाद को सहायता देकर राष्ट्रनिष्ठा प्रदर्शित करता है।** इसी तरह जित राष्ट्र के किसान मजदूर वर्ग को भी जबतक यह दिखता है कि हम दूसरे राष्ट्रों के गुलाम हैं तबतक उनका स्वतंत्रता-संग्राम समाज-सत्ता स्थापना-रूपी न रहते राष्ट्रीय स्वतंत्रता-रूपी ही रहेगा, यह स्पष्ट है। **ऐसे संग्राम को असमय वर्ग-विग्रहात्मक बनाने का प्रयत्न करना और वैसा न करनेवाले नेताओं को प्रतिगामी या क्रान्ति-विरोधी मानना भूल है।** इस दृष्टि से भाई डाँगे का पं० नेहरू पर यह पहला आक्षेप हम को असमर्थनीय मालूम होता है। इसके सिवाय पं० नेहरू कांग्रेस के मंच से भी असंदिग्ध रूप में यह घोषित करते रहते हैं कि राष्ट्रीय स्वतंत्रता की इस लड़ाई का अंत आखीर में वर्ग-विग्रहात्मक सर्वांगीण क्रान्ति के रूप में होगा और हमारा अन्तिम ध्येय पूँजीवादी लोक-सत्ता नहीं बल्कि समाज-सत्ताक प्रजातन्त्र ही है। भाई डाँगे ने अपने इसी लेख में कहा है कि नागरिक अधिकारों के करांची वाले प्रस्ताव की बदौलत कांग्रेस की किसान-मजदूर-संबंधी नीति में परिवर्तन होने के चिन्ह दिखाई देते हैं। परन्तु इसका श्रेय अलबत्ता उन्होंने नेहरू जी को न देकर कम्यूनिस्ट-पार्टी को दिया है। इसके बारे में हम कुछ नहीं कहना चाहते। मगर प्रस्ताव तो यह नेहरूजी का ही था और इसके द्वारा उन्होंने संग्राम की राष्ट्रीयता की प्रधानता कायम रखकर खास मर्यादा में वर्गीय संगठन को भी महत्त्व दिया है। किसान-मजदूरों के मूल-भूत आर्थिक स्वतंत्रता के हक मंजूर किये जायँ और राष्ट्रीय जीवन के लिए आधार-भूत उद्योग-धन्धों को राष्ट्रीय नियंत्रण में या राष्ट्रीय स्वामित्व में लिया जाय, ये सिद्धान्त उन्होंने कांग्रेस से मनवा

लिये हैं। नेहरूजी ऐसे अग्रगामी समाजवादी नेता हैं जो राष्ट्रीय संग्राम की ही उपज हैं। यही कारण है जो वे जनता के हृदय में महत्त्व का स्थान प्राप्त कर बैठे हैं। परतंत्र देश में समाजवादी सिद्धान्तों का प्रसार कैसे किया जाय, इसके विषय में उनकी ही नीति उचित है और अब वह समय आ गया है जब वर्ग-संगठन करने वाले सब समाजवादी कार्यकर्त्ता खुल्लमखुल्ला उनके नेतृत्व को स्वीकार करें। कम्यूनिस्ट पार्टी धीरे-धीरे इन बातों को समझने लगी है और पंडितजी की नीति का विरोध करना छोड़कर वह इसी नीति का अवलंबन करने लगी है कि कांग्रेस में नेहरूजी की नीति को अधिक प्रबल बनाया जाय।

अब पंडितजी पर किये गये दूसरे आक्षेप का विचार करें। वह यह कि जवाहरलाल जी विचारों के द्वारा ही नहीं आचार के द्वारा भी सुधारवादी नेताओं से एकता कर लेते हैं। यहाँ सुधारवादी नेता से यदि म० गांधी का मतलब हो तो हम समझते हैं कि इसका उत्तर पं० जवाहरलालजी यह देंगे कि म० गांधी सुधारवादी नहीं, क्रान्तिकारी राष्ट्रीय नेता हैं। अगर उनका मतलब म० गांधी के अलावा किसी दूसरे व्यक्ति से हो तो जवाहरलाल जी ऐसे नेताओं से विचार और आचार की एकता कभी नहीं करते हैं और उनका यह उत्तर होगा कि सिर्फ कांग्रेस के अनुशासन की रक्षा करने के लिए और राष्ट्रीय संग्राम को तीव्र बनाने के लिए जितना सहकार्य आवश्यक है उतना ही मैं खुले दिल से करता हूँ। म० गांधी महज़ सुधारवादी नेता नहीं हैं व इस विचार का कि उनके सत्याग्रही तत्त्वज्ञान से अंत में यहाँ फासिज्म का अवतार होने वाला है, खंडन हम विस्तारपूर्वक कर ही चुके हैं। हमें न भूलना चाहिए कि राष्ट्रीय क्रान्ति के इस युग में सत्याग्रही तत्त्वज्ञान का जन्म हुआ है इससे अभी वर्ग-विग्रहात्मक सर्वांगीण क्रान्ति के रूप में उसकी परिणति नहीं हुई है। हाँ, इस संग्राम में विजय पा लेने के बाद, हिन्दुस्तान की राष्ट्रीय माँग की पूर्त्ति होने के बाद, यह तत्त्वज्ञान सर्वांगीण क्रान्ति के रूप में बदल जायगा व आज जिस तरह 'अहिंसात्मक राष्ट्रीय संग्राम' अथवा 'सत्याग्रही स्वातंत्र्य-संग्राम' ये शब्द जगत्मान्य हो गये हैं उसी तरह स्वतंत्रता संग्राम में विजय पाया हुआ तत्त्वज्ञान 'अहिंसात्मक

सर्वांगीण क्रान्तिशास्त्र' का रूप धारण करेगा और कुछ समय तक 'सत्याग्रही वर्ग-विग्रह' यह शब्द भी सर्वमान्य हो जायगा ऐसा हमारा ख्याल है।

अब हम इस बात का विचार करें कि वर्ग-युद्ध व सशस्त्र क्रान्ति के सम्बन्ध में कार्लमार्क्स का तात्विक सिद्धान्त क्या है और उसमें निःशस्त्र क्रान्ति के द्वारा समाज-सत्ता प्रस्थापित करने की कल्पना समा सकती है कि नहीं। भले ही मार्क्स का यह मत हो कि समाज-सत्ताक क्रान्ति आमतौर पर शस्त्र द्वारा ही करनी पड़ेगी, फिर भी मार्क्स ने यह कहा है कि इस क्रान्ति के साधन प्रत्येक देश की अपनी परिस्थिति और परम्परा के विचार से बदलने पड़ेंगे और इङ्गलैंड या अमेरिका जैसे प्रजा-सत्ताक देशों में शान्ति मार्ग से भी वह हो सकेगी। १८७२ में एमस्टर्डम के अपने भाषण में वह कहता है—

"**आपको यह नहीं खयाल करना चाहिए कि इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए एक ही साधन सब पर लागू हो सकेगा।** प्रत्येक देश के आचार-विचार और परिस्थिति का हमें खास तौर से ध्यान रखना पड़ेगा और हम इस बात से इन्कार नहीं करते कि कुछ ऐसे देश जैसे संयुक्त राष्ट्र अमेरिका और इङ्गलैण्ड में मजदूर लोग शान्ति मार्ग से अपने उद्देश्य की पूर्ति कर सकते हैं।"

लेनिन ने कार्लमार्क्स के इस मत का स्पष्टीकरण करते हुए कहा है कि १८७१ के लगभग इङ्गलैण्ड में नौकरशाही व सैनिक-सत्ता का प्राबल्य न होने के कारण मार्क्स को यह लगना स्वाभाविक था कि इंग्लैंड में शान्ति मार्ग से समाजसत्ताक क्रान्ति हो सकेगी; परन्तु आज (१९१७) इङ्गलैंड और अमेरिका में सैनिक सत्ता और नौकरशाही का पूर्ण साम्राज्य है इसलिए मार्क्स ने इंग्लैंड, अमेरिका और दूसरे देशों में जो भेद किया है वह ठीक नहीं है। १८७५ के बाद इंग्लैण्ड में साम्राज्यवादी विचार-धारा अधिक फैलने लगी क्योंकि हिन्दुस्तान जैसे विजित देश की आर्थिक लूट के प्रभाव से वहाँ की जनता को यह आशा होने लगी कि इङ्गलैंड के सब वर्गों की दालरोटी और सुख-सुविधा का प्रश्न हल हो सकेगा। १९ वीं सदी के मध्य तक वहाँ के मजदूरों को

यह आशा नहीं हुई थी व इसलिए मार्क्स का वर्ग-विग्रही तत्वज्ञान वहाँ पनपने लगा था लेकिन बाद में जब यह आशा बँध गयी तो वर्ग-विग्रह पीछे रह गया व साम्राज्यशाही लोकप्रिय होने लगी। वहाँ का समाजवाद-भी वर्ग-विग्रह को ताक में रखकर वर्ग-सन्धि के सिद्धान्त का अवलम्बन करने लगा और ब्रिटिश राष्ट्रवाद प्रजातंत्र के तत्व से खिसककर साम्राज्य-वाद का रूप धारण करने लगा। पिछले महायुद्ध के समय इस वर्ग-संधि या साम्राज्य-सत्ताक राष्ट्रवाद की भावना का अनुसरण करके ही इंग्लैंड के मजदूर और उनके नेताओं ने अपनी धन-सत्ताक सरकार से सहकार्य किया। अब फिर वहाँ की जनता यह समझने लगी है कि इस साम्राज्यवाद से हमारा प्रश्न सदा के लिए हल नहीं हो सकता। परन्तु यह विश्वास नहीं होता कि सशस्त्र या निःशस्त्र मार्ग से भी, समाज-सत्ताक राज्यक्रान्ति को सफल बनाने योग्य सद्गुण संपत्ति आज वहाँ की जनता में बाकी बच रही है और यह भी एक विकट प्रश्न है कि इस सद्गुण-सम्पत्ति के अभाव में वह समाज-सत्ता की स्थापना कर सकेगी कि नहीं। फिर भी हमारा यह ख्याल है कि यदि हिन्दुस्तान जैसे देश को स्वतंत्रता देने के लिए ब्रिटिश राजनेता मजबूर हो गये और स्वतंत्रता व समानता के आधार पर इंग्लैंड व हिन्दुस्तान में सन्धि हुई तो जिस तरह हिन्दु-स्तान के पूँजीपति ब्रिटिश पूँजीपतियों से मित्रता करेंगे उसी तरह ब्रिटिश मजदूर और उनके समाजवादी नेता भी भारतीय जनता के समाजवादी नेताओं से मित्रता कर लेंगे। भारतवर्ष ने यदि अपने सत्याग्रह के बल पर स्वयं-निर्णयी पूर्ण स्वराज्य का विधान प्राप्त कर लिया तो यहाँ का समाज-वादी दल सत्याग्रही शक्ति के बल पर हिन्दुस्तान की भावी सर्वांगीण क्रांति करने लगेगा। जब वह यह काम करने लगेगा तो इंग्लैण्ड के मजदूर-वर्ग का साम्राज्य-मद उतर जायगा व उसे भारतीय समाजवादी दल का नेतृत्व स्वीकार करना पड़ेगा। इस तरह आज भी इंग्लैंड व हिन्दुस्तान दोनों देशों में समाज-सत्ताक क्रान्ति के शान्ति मार्ग से सफल होने की संभावना है।

इंग्लैण्ड के समाजवादी बल्कि कम्यूनिस्ट विचार वालों को भी यह विचारधारा पटने लगी है और वहाँ के बहुतेरे लोग यह मानते हैं कि

सत्याग्रही भारतीय राष्ट्रवाद से स्वतंत्रता और समानता के आधार पर समझौता और संधि करनी चाहिए। जिस तरह १९वीं सदी में ब्रिटिश लिबरल नेता हिन्दुस्तान को सशस्त्र क्रान्ति का अवसर न मिले इस हेतु से भारतीय कांग्रेस से समझौते की नीति रखने की प्रेरणा अपने देश-बन्धुओं से करते थे उसी तरह आज इंग्लैण्ड के समाजवादी विचारों के नेता इस ख्याल से कि हिन्दुस्तान की भावी सामाजिक क्रान्ति कहीं हिंसात्मक न हो जाय, अहिंसात्मक ही रहे, यह कहते हैं कि हिन्दुस्तान की स्वयंनिर्णय—स्वतंत्रता का अधिकार स्वीकार करके भारतीय राष्ट्रवाद के साथ समानता की संधि कर ली जाय। फैनर ब्राकवे अपनी (Indian Crisis १९३०) नामक पुस्तक में लिखते हैं—

"हिन्दुस्तान में जिनकी पूँजी लगी हुई है उनसे मैं कहूँगा कि हिन्दुस्तान की ब्रिटिश पूँजी को असली खतरा राजनैतिक क्रान्ति से नहीं बल्कि सामाजिक क्रान्ति से ही है। प्रस्तुत राजनैतिक आन्दोलन से जो क्रान्तिकारी मनोवृत्ति बन गयी है वह एकाएक नष्ट नहीं होगी और यदि उसकी जड़ गहरी चली गयी तो राजनैतिक स्वतंत्रता के बाद ही निश्चित रूप से शुरू होनेवाली जनता की आर्थिक उन्नति की लड़ाई में भी वह व्यक्त हुए बिना न रहेगी। इसलिए जो अपने आर्थिक हितों की रक्षा करना चाहते हैं उन्हें चाहिए कि वे इस राजनैतिक लड़ाई का फैसला समझौते के द्वारा तुरन्त कर लें। इसी में उनका हित है।"

१९वीं सदी के ब्रिटिश राजनेता अपने राष्ट्र की राजनीति इस दृष्टि से ठहराने पर जोर देते थे कि हिन्दुस्तान के स्वतंत्र होने पर भी वहाँ हमारा व्यापार चलता रहे। आज गयी परिस्थिति के अनुसार इंग्लैण्ड के दूरदर्शी ब्रिटिश राजकीय तत्वज्ञ इस दृष्टि से कि हिन्दुस्तान में सामाजिक क्रान्ति रक्तपात का उग्र स्वरूप न धारण कर ले व उसमें अपने देशबन्धुओं व उनकी पूँजी की एकाएक आहुति न हो जाय ब्रिटिश राष्ट्र से कहते हैं कि सत्याग्रही भारतीय राष्ट्रवाद के साथ समझौता करके भावी सामाजिक क्रान्ति के शान्तिमय होने के अनुकूल वातावरण निर्माण किया जाय। यह सलाह ब्रिटिश राष्ट्र को जँचेगी या नहीं यह इस बात पर अवलंबित है कि भारतीय जनता सत्याग्रह संग्राम में कितना त्याग

करने के लिए तैयार है और संघ-शासन के विधान को कहाँ तक असफल बना सकती है। हमें विश्वास है कि भारतीय जनता इसमें सफल होगी और उसी से हमें आशा है कि हिन्दुस्तान की भावी सामाजिक क्रान्ति भी वह शान्ति-मार्ग से कर सकेगी। हाँ, इसके लिए यह आवश्यक होगा कि सत्याग्रही पक्ष अपना तत्त्वज्ञान सामाजिक क्रान्ति पर लागू करे व निदान ब्रिटिश राजनीतिज्ञों के बराबर दूरदर्शिता यहाँ का पूँजीवाद प्रदर्शित करे। इनमें यह दूसरी बात सर्वांश में पहली बात पर अवलंबित है। इसका अर्थ यह हुआ कि यदि सत्याग्रही तत्त्वज्ञान ने सामाजिक क्रान्ति का जिम्मा लिया तो हमारा ख्याल है कि भारतीय पूँजीवाद दूरदर्शी स्वार्थ-भाव से ही सही शान्तिमय क्रान्ति के सामने सिर झुकाये बिना न रहेगा अर्थात् यदि सत्याग्रही तत्त्वज्ञान ने यह भावी कार्य अपने जिम्मे न लिया व पं० नेहरू-उपदिष्ट समाज-सत्ताक प्रजातंत्र का ध्येय स्वीकार न किया तो फिर यहाँ की समाज-क्रान्ति सशस्त्र रूप धारण किये बिना न रहेगी।

आजकल यह मानने का एक रिवाज चल पड़ा है कि सत्याग्रह व वर्ग-विग्रहात्मक सामाजिक क्रांति ये दोनों बातें तत्वतः भिन्न हैं और उनका समन्वय नहीं हो सकता। इसका कारण जिस तरह सत्याग्रही तत्त्वज्ञान के विरोधक हैं उसी तरह उसके भक्त भी हैं। इसलिए यहाँ इस बात का भी कुछ विवेचन करना जरूरी है कि वर्ग-विग्रह का सिद्धान्त कहाँ तक यथार्थ है व वर्ग-सन्धि या वर्ग-सहकार्य का सिद्धान्त कहाँ तक ठीक है। इसके लिए पहले हम निर्विकार भाव से यह समझ लें कि वर्ग-विग्रह-सिद्धान्त के समर्थक शुद्ध वैज्ञानिक व तात्विक दृष्टि से उसके विषय में क्या कहते हैं। इस विषय में कम्यूनिस्ट तत्त्वज्ञान के समर्थक श्री एडवर्ड कौंजस अपनी (An Introduction to Dialectical Materialism) पुस्तक में कहते हैं—"वर्ग-विग्रह व वर्ग-संहत्ति (Class Harmony) इन दो सिद्धांतों के विरोध का अध्ययन करना बहुत उपयोगी है। इस विषय में दो विचारधारायें नजर आती हैं। एक वर्ग-विग्रह का ही निषेध करती है और दूसरी वर्ग-संहत्ति का। ये दोनों विचारधारायें गलत व अवैज्ञानिक हैं। वर्ग-विग्रह तो एक वस्तु-स्थिति है। वह राजनीति और

उद्योग-धन्धों में रोज दिखाई देती है। उससे इन्कार वही कर सकते हैं जो यह समझते हैं कि इस वर्ग-विग्रह को चालू रखने का प्रबल उपाय यह है कि उससे इन्कार किया जाय अथवा वह इन्कार कर सकेगा जो बुद्धि-जीवि-श्रेणी का होगा और जिसका संबंध वास्तविक जगत् से टूट गया होगा। सच तो यह है कि आज के समाज में वर्ग-विग्रह यह एकही हकीकत नहीं है, बल्कि वर्ग-संहत्ति के भी अनेक प्रकार पाये जाते हैं। यह प्रश्न है कि भिन्न-भिन्न वर्गों की अमुक अंश में शान्ति और संहत्ति का तत्व और वर्ग-विग्रह का तत्व ये दोनों एकही समय में समाज में कैसे रह सकते हैं। वर्ग-विग्रह और वर्ग-संहत्ति ये परस्पर विरुद्ध तत्व एक ही समय एक समाज में नहीं रह सकते इस मत पर वही लोग डटे रह सकते हैं जिनका मानस अवैज्ञानिक है। क्योंकि किसी कुटुम्ब में भोजन के मामले में पति-पत्नी का मतैक्य हो तो भी अपने कमरे में गर्मी कितनी रहे अथवा सिनेमा या अजायबघर देखने के लिए जायँ इसके बारे में दो मत या विरोध हो सकता है। घर में झगड़े होते रहते हों तो भी यह नहीं कह सकते कि खास मर्यादा में कौटुम्बिक ऐक्य नहीं रह सकता......। वर्ग-विग्रह व वर्ग-संहत्ति दोनों तत्व एक दूसरे का उच्छेद न करते हुए भी एक ही समय समाज में रह सकते हैं......साम्राज्यवादी तरीके से विजित लोगों का द्रव्य शोषण किया जाय और उसका नफा दोनों बाँट लें—इस विषय में ब्रिटेन के दोनों वर्गों का समान-भौतिक-हित के पाये पर मतैक्य हो सकता है......जब तक विजित लोगों के द्रव्य-शोषण से। भिन्न कोई ऐसा उपाय जिससे समाज का समाज-सत्ताक संगठन होकर ऊँची रहन-सहन कायम रहे, हम नहीं बना सकते तब तक ऐसा ही चलता रहेगा......। ब्रिटेन अगर समाजवादी बन जाय तो वह भारतीय किसान को लूटकर भारतीय बाजारों का नाश करनेवाले साहूकारों की और स्वदेशी या विदेशी पूंजीवालों की रक्षा नहीं करेगा। हिन्दुस्तानियों के साथ सहकार्य करके वह हिन्दुस्तानी बाजार की क्रय-शक्ति बहुत बढ़ा सकता है। उसी तरह अपने देश की जनता की रहन-सहन का मान बढ़ाकर भी वह ब्रिटिश बाजार की खपत बहुत बढ़ा सकता है। यदि यह समाजवादी व्यवहार या मार्ग

हम लाखों मजदूरों को दिखा सकें तो वे टोरी-दल को छोड़ देंगे। फासिज्म का उदय भी भिन्न-भिन्न वर्गों की हितैक्य-भावना पर अवलंबित रहता है। इटली व जर्मनी में अनेक आक्रमणों के बाद भी जब तत्कालीन परिस्थिति में राज्य की सत्ता अपने हाथ में लेकर समाज की सब व्यवस्था करने में वहाँ का मजदूर-वर्ग असमर्थ साबित हुआ तब वर्ग-विग्रह के क्लेश लोगों के लिए असह्य हो गये और उनमें से बहुतों ने यह इच्छा की कि किसी तरह इनका एक बार खातमा हो। इसी से फासिज्म को उदय का मौका मिल गया......केवल अपवादात्मक परिस्थिति में ही वर्ग-विग्रह वर्ग-संहत्ति को बिलकुल अन्धकार में फेंक देता है व ऐसे ही समय राज्य-क्रान्ति होती है। जब रूस के किसानों और मजदूरों को वहाँ के पूँजीवालों और जमींदारों से कुछ भी मिलने की आशा नहीं रही व इस उच्च श्रेणी के सब प्रयत्न विफल हुए तभी किसान-मजदूर बोलशेविक प्रचार से प्रभावित होने लगे। रूस में जो वर्ग-भावना की तीव्र-चेतना उत्पन्न हुई वह भी मुख्यतः इस बदली हुई बाह्य परिस्थिति के कारण हुई। इस स्थिति के पहले बोलशेविकों के प्रचार की ओर किसान मजदूरों का ध्यान नहीं गया था।" हमारी राय में वर्ग-विग्रह का यह विवेचन अत्यन्त शास्त्र-शुद्ध है और समाजवादी तथा सत्याग्रही दोनों तत्वज्ञानों के मानने योग्य है। एक ही राष्ट्र के भिन्न-भिन्न वर्ग किसी-न-किसी समान-हित के लिए एक हो जाते हैं और जिस मात्रा में उन हित-सम्बन्धों में विरोध होगा उस मात्रा में वे परस्पर विग्रह के लिए तैयार हो जाते हैं। एक राष्ट्र के भिन्न-भिन्न वर्गों में जैसा हित-विरोध रहता है, वैसे ही कुछ बातों में हित-समानता भी हो सकती है। जब समाज में हित-समानता की भावना अधिक तीव्र होती है तब वर्ग-विग्रहात्मक क्रांति नहीं हो सकती और जब वर्ग-विरोध की भावना हित-समानता की भावना से अधिक तीव्र होती है तब वर्ग-विग्रहात्मक क्रान्ति टल नहीं सकती। वर्ग-विरोध की या हित-समानता की भावना का तीव्र होना केवल प्रचार पर अवलम्बित नहीं बल्कि उस समाज या राष्ट्र की आर्थिक अथवा राज-नैतिक परिस्थिति पर अवलंबित रहता है। जिस देश के सभी वर्ग सत्ताहीन बनकर विदेशियों के जुल्म व द्रव्य-शोषण के स्थान बने होते हैं उसमें

वर्ग-विग्रहात्मक क्रान्ति का तत्व पैठने योग्य अनुकूल परिस्थिति नहीं होती। ऐसी ही स्थिति दूसरे राष्ट्रों को लूटने वाले साम्राज्यवादी राष्ट्र के वर्गों की रहती है। उनमें भी वर्ग-विग्रह की भावना की अपेक्षा समान-हित की भावना ही अधिक तीव्र रहती है और इसलिए वहाँ की परिस्थिति भी वर्ग-विग्रहात्मक क्रान्ति के प्रतिकूल ही रहती है। ऐसे समय इन दोनों परिस्थिति के राष्ट्रों में एक प्रकार के राष्ट्रवाद की भावना प्रबल हो जाती है। पहले राष्ट्र में वह विदेशी हमलों के प्रतिकार के स्वरूप में व्यक्त होती है और दूसरे राष्ट्रों में विदेशों पर आक्रमण के रूप में। इनमें पहला रूप संसार की शान्ति का पोषक और दूसरा विरोधक रहता है। पहले प्रकार का राष्ट्रवाद मानव-संस्कृति की प्रगति का कारण होता है और दूसरा उसकी अधोगति का। हिन्दुस्तान का वर्तमान राष्ट्रवाद पहले प्रकार का है और वह मानव-संस्कृति की प्रगति और संसार की शान्ति का पोषक है। हिन्दुस्तान में आज कोई भी वर्ग सत्ताधारी नहीं बन सका है इसलिए यहाँ की लड़ाई फिलहाल वर्ग-विग्रहात्मक अथवा समाज-सत्ताक क्रान्ति-रूपी नहीं बन सकती। एक बार जहाँ हिन्दुस्तान में राजसत्ता आयी नहीं कि फिर जो शक्ति यहाँ के राष्ट्रवाद से निर्माण होगी वह कुछ समय तक सधन-निर्धन-वर्ग के विरोध बल्कि विग्रह के रूप में व्यक्त हुए बिना नहीं रहेगी। मगर ऐसी अवस्था में सत्याग्रही कांग्रेस के लिए यह संभव होगा कि वह प्रजातंत्र की राजसत्ता अपने हाथ में लेकर उसका उपयोग निर्धन पक्ष की तरफ से करे। जिस समय हिन्दुस्तान का सधन-वर्ग संगठित हो कर उस प्रजातंत्र को हस्तगत करने का और उस सत्ता के बल पर निर्धन-वर्ग की उन्नति का विरोध करने लगेगा तब कांग्रेस को यदि अपना सत्याग्रही तत्त्वज्ञान न छोड़ना होगा तो कुछ समय के लिए वर्ग-विग्रह का सिद्धान्त स्वीकार किये बिना चारा न रहेगा। इस समय अगर कांग्रेस अपने देश की राजसत्ता हस्तगत न कर सकी तो उसे प्रस्थापित राजसत्ता के साथ असहयोग-युद्ध की घोषणा करनी पड़ेगी। आज की विदेशी सरकार के आश्रय से जो हित यहाँ पर प्रबल हो गये हैं उनका विरोध किये बिना कांग्रेस इस देश में वास्तविक लोकसत्ता अथवा सच्चा स्वराज्य स्थापित न कर सकेगी।

हिन्दुस्तान की भावी स्वराज्य सरकार के सामने देश के ४० करोड़ लोगों की दाल-रोटी का सवाल बहुत तीव्र रूप में खड़ा होनेवाला है। आजतक हिन्दुस्तान की जनता का जो द्रव्य-हरण हुआ उससे यहाँ की जनता और मध्यम-वर्ग दोनों फाकेकशी और बेकारी से जर्जर हो गये हैं। इन ४० करोड़ लोगों के राष्ट्र का प्रश्न पूँजीवाद और साम्राज्यवाद से हल होना असंभव है। इंग्लैण्ड अथवा जापान-जैसे छोटे राष्ट्रों के लिए अपनी जनता और मध्यम-वर्ग का प्रश्न कुछ समय तक हिन्दुस्तान या चीन को गुलाम बनाकर हल करना मुमकिन हो सकता है परन्तु हिन्दुस्तान या चीन जैसे खण्ड तुल्य देश इस पद्धति से अपनी ३५–४० करोड़ जनता का सवाल हल नहीं कर सकते। इस कारण भारतीय राष्ट्रवाद का इंग्लिश या जापानी राष्ट्रवाद की तरह साम्राज्यवादी बन जाना स्वभावतः ही अशक्य है अर्थात् ब्रिटिश साम्राज्य के आश्रय से उदय हुआ पूँजीवाद यहाँ अपना आसन सुस्थिर नहीं कर सकता और यदि कुछ समय तक उसने यहाँ राजसत्ता भी अपने हाथों में ले ली तो भी वह जनता और मध्यम-वर्ग का प्रश्न हल न कर सकने के कारण उसे वह सत्ता अपने हाथ से खो देनी पड़ेगी। आज ब्रिटिश पूँजीपति जो अपना आसन जमाकर यहाँ बैठे हैं उनकी जगह भारतीय पूँजीवालों को स्थापित कर दें तो भी उससे भारतीय जनता का प्रश्न हल नहीं होता। हिन्दुस्तान के धनोत्पादन की नब्ज़ चाहे भारतीय पूँजीवालों के हाथ में आ जाय या ब्रिटिश पूँजीपतियों के हाथ में रहे, भारतीय जनता के हित-संवर्धन की दृष्टि से दोनों का फर्क महत्त्वपूर्ण नहीं हो सकता। उस नब्ज़ का भारतीय जनता के हाथ में आना अर्थात् किसी न किसी रूप में समाज-सत्ता की प्रस्थापना होना ही भारतीय जनता के हित-संवर्धन के लिए आवश्यक है और यह कार्य कांग्रेस वर्ग-विग्रह के तत्त्व को समझे और अवलंबन किये बिना नहीं कर सकती।

अब 'वर्ग-विग्रह का तत्व भारतीय संस्कृति और तत्वज्ञान से असंगत है' इस मत का विचार करें। सबसे पहले हम यह देखें कि सत्याग्रही तत्वज्ञान और वर्ग-विग्रह के तत्त्व में क्या मूलतः ही विरोध है, व फिर भारतीय संस्कृति के इतिहास की दृष्टि से उसका विचार करें। अब तक

सत्याग्रही तत्वज्ञान की उत्पत्ति और अभिवृद्धि राष्ट्रीय स्वातंत्र्य-संग्राम से हुई व इससे उसने वर्ग-विग्रह की नीति का अवलंबन नहीं किया यह यथायोग्य ही हुआ और जब तक यह लड़ाई चल रही है तब तक वर्ग-विग्रह की नीति अवलंबित करने का प्रयोजन भी नहीं। आज इस तत्त्व-ज्ञान से एक प्रकार की राष्ट्रीय बन्धु-भावना जाग्रत हो रही है। राष्ट्र के सब लोग एक बड़े एकत्र कुटुम्ब के अनेक व्यक्तियों की तरह हैं और उन सबके हित-सम्बन्ध परस्पर-विरोधी नहीं बल्कि परस्परावलंबी हैं। यह बन्धु-भावना अथवा राष्ट्रीय एकत्र कुटुम्ब-भावना समाज-सत्ता के तत्व से किसी तरह असंगत नहीं बल्कि पोषक ही है। परन्तु यह न भूलना चाहिए कि एकत्र-कुटुम्ब सामूहिक सम्पत्ति और श्रम-सहकार्य के सिद्धान्त या तत्त्व पर ही बन और टिक सकता है। जिस एकत्र-कुटुम्ब में सामूहिक संपत्ति नहीं अथवा सामूहिक हो तो भी उसका उपयोग सब समान रूप से नहीं कर सकते और जिसके सब प्रौढ़ और सुदृढ़ व्यक्ति उस कुटुम्ब की संपत्ति और सुख में वृद्धि करने के लिए तन-प्राण से प्रयत्न नहीं करते हैं वह अन्त में नष्ट हुए बिना न रहेगी। एकत्र कुटुम्ब के एक-दो व्यक्ति तो सामूहिक संपत्ति से लाभ उठाते रहें और दूसरे महज कष्ट भुगतते रहें ऐसी दशा में यदि उस एकत्र कुटुम्ब में विग्रह उत्पन्न हुआ तो उसकी जिम्मेवारी उस व्यक्ति पर ही आती है जो सामूहिक संपत्ति का उपयोग बिना कुछ कष्ट किये करता हो। ऐसे व्यक्ति के व्यवहार को ही आम तौर पर एकत्र कुटुंब की बुजुर्गशाही कहते हैं। पूँजीवाद इस तरह की राष्ट्रीय परिवार की एक बुजुर्गशाही ही है। पूँजीवाद की इस बुजुर्गशाही को कायम रखकर राष्ट्रीय कुटुम्ब की जीवन-यात्रा नहीं चल सकती और उस कुटुंब में वर्ग-विग्रह निर्माण हो जाता है। इसलिए इस बुजुर्गशाही को नष्ट करना और 'राष्ट्र के प्रत्येक प्रौढ़ और सुदृढ़ नागरिक को शारीरिक अथवा बौद्धिक कष्ट किये बिना संपत्ति का लाभ नहीं मिलेगा' इस सिद्धान्त पर राष्ट के औद्योगिक जीवन की इमारत खड़ी करना एवं ऐसे कानून बनाना जिससे एकत्र-कुटुंब के व्यक्ति की तरह राष्ट्र के सब व्यक्तियों के सर्वांगीण विकास के लिए आवश्यक व पोषक रीति से राष्ट्रीय संपत्ति का उपभोग किया जा सके, समाजवाद की प्रस्थापना करना है।

इसके विपरीत राष्ट्र के तमाम व्यक्तियों के जीवन-साधन पूँजीवाद के हाथ में दे देने और बहु जन समाज को उसकी आर्थिक दासता में पटक देने का अर्थ है वर्ग-विग्रह को चिरन्तन करना। समाजवाद का ध्येय वर्ग-विग्रह को चिरन्तन करना नहीं है बल्कि पूँजीवाद की बुजुर्गशाही से उत्पन्न होनेवाले वर्ग-विग्रह को नष्ट करके न्याय और समता के पाये पर राष्ट्रीय एकत्र कुटुम्ब की स्थापना करना है। सच पूछिये तो समाजवाद सर्वोदयवाद ही है। हाँ, यह उसका स्पष्ट मत है कि इस सर्वोदय की व सहकार्य की भावना समाज में पूँजीवाद को कायम रह कर नहीं की जा सकती। पूँजीवाद की बुजुर्गशाही से उत्पन्न वर्ग-विग्रह को नष्ट करना पूँजीवाद से झगड़े बिना संभव नहीं। ऐसा झगड़ा करने का अर्थ वर्ग-विग्रह निर्माण करना नहीं, बल्कि पूँजीवाद-द्वारा निर्मित्त वर्ग-विग्रह का शिकार बनी हुई जनता को सत्याग्रही बनाना है। सत्याग्रही न्याय-स्थापना की लड़ाई से डरता नहीं और डरेगा तो वह सत्याग्रही नहीं रहेगा।

एक दूसरी दृष्टि से यह प्रतिपादन किया जाता है कि सत्याग्रही तत्वज्ञान और समाजवाद में अनुल्लंघनीय मतभेद है। सत्याग्रही तत्वज्ञान में यह मान कर चला जाता है कि मनुष्य स्वभाव सुधार-क्षम है अथवा प्रत्येक मनुष्य के अन्तःकरण में न्याय-बुद्धि के रूप में परमेश्वर निवास करता है इसके विपरीत समाजवादी तत्वज्ञान में यह माना जाता है कि प्रत्येक मनुष्य स्वार्थ-साधु है। इस तरह से यह मत-भेद प्रकट किया जाता है। किन्तु हमारी राय में इस मत-भेद का इस तरह प्रतिपादन शास्त्र-शुद्ध नहीं। समाजवाद यह नहीं कहता कि मनुष्य स्वभाव बिलकुल स्वार्थ-प्रधान है और न इसके विपरीत सत्याग्रही तत्वज्ञान का यह मत है कि मनुष्य-स्वभाव केवल न्याय-प्रधान है। मनुष्य-स्वभाव में स्वार्थ बुद्धि व न्याय बुद्धि दोनों तत्व हैं और दोनों में यह ग्रहीत करना पड़ता है कि स्वार्थ-बुद्धि जब तक न्याय-बुद्धि से अंकित न होगी तब तक मनुष्य-समाज में शान्ति का राज्य प्रस्थापित नहीं हो सकता। समाज की स्वार्थ-बुद्धि पर न्याय-बुद्धि का नियंत्रण रहने के लिए समाज का आर्थिक संगठन खास प्रकार का होना जरूरी है और जब तक वह वैसा न हो जायगा

तब तक समाज में न्याय की स्थापना नहीं हो सकती। इसलिए समाज-वादी तत्वज्ञान कहता है कि समाज की न्याय-प्रस्थापना उसके आर्थिक संगठन पर और उसके सुधार पर अवलंबित रहती है। मनुष्य स्वभाव का व्यक्त स्वरूप किस तरह का होगा यह भी समाज के आर्थिक संगठन पर ही अवलंबित रहता है। जब तक यह संगठन न्यायाधिष्ठित नहीं होता तब तक समाज का सामान्य व्यक्ति न्यायनिष्ठ नहीं बन सकता। पूँजी-वादी समाज-रचना अन्याय पर खड़ी है और जब तक यह रचना बदली न जायगी तब तक समाज के सामान्य व्यक्ति का स्वभाव न्याय-प्रधान न होकर स्वार्थ-प्रधान ही रहेगा। समाजवाद यह नहीं कहता कि पूँजीवाले सब स्वार्थी और मजदूर सब न्याय-प्रिय होते हैं। उसे यह तो मंजूर है कि पूँजीपति और मजदूर का झगड़ा वर्गीय स्वार्थ का ही झगड़ा है तथापि उसका मत है कि पूँजीपतियों का वर्गीय स्वार्थ अधिक न्याय-युक्त समाज-रचना करने में जितना बाधक होता है उतना मजदूरों का वर्गीय स्वार्थ नहीं; बल्कि वह उल्टा सहायक बनता है। सामाजिक ध्येय का हेतु समाज में न्याय-प्रस्थापना ही है और न्याय-प्रस्थापना के बाद उस समाज के सभी व्यक्तियों का हित होता है। परन्तु उससे सभी वर्गों का स्वार्थ अधिक सधता है ऐसा नहीं। कुछ वर्गों का स्वार्थ आज के समाज में जितना सधता है उतना आगे के समाज में न सधेगा, इस कारण उस वर्ग के सामान्य लोग उस आदर्श की स्थापना का विरोध करते हैं और आज के समाज में जिस वर्ग का न्याय्य-स्वार्थ भी कुचला जाता है वे नवीन ध्येय की स्थापना के लिए आवश्यक स्वार्थ-त्याग करने को व्यापक रूप में तैयार रहते हैं। यह समाजवाद का विचार है। समाज-सत्ताक आर्थिक संगठन यद्यपि न्याय-प्रस्थापना के लिए है तो भी उसकी बदौलत जमींदारों और मिल-मालिकों के स्वार्थ को धक्का पहुँचता है। अतः उस वर्ग के सामान्य व्यक्ति समाज-सत्ताक क्रान्ति में शामिल नहीं होंगे। इतना ही नहीं, बल्कि समाजवादी कार्यकर्त्ताओं को यह मानकर अपनी नीति निश्चित करनी चाहिए कि वे उस क्रान्ति का विरोध ही करेंगे। जब सत्याग्रही तत्वज्ञान सामाजिक क्रान्ति की जिम्मेदारी लेगा तब भी हमारा आग्रह है कि इसे ऐसी ही नीति स्वीकार करनी पड़ेगी। आज भी राष्ट्रीय

स्वतंत्रता के ध्येय की जो लड़ाई कांग्रेस लड़ रही है उसकी नीति भी इसी सिद्धान्त पर रची गयी है। भारतीय स्वातंत्र्य प्राप्त करने के लिए जो लड़ाई हो उसमें हिन्दुस्तानी ही अधिक भाग लेंगे बल्कि सारा भार वही उठावेंगे ऐसा मानकर सत्याग्रह व असहयोग की योजना की जाती है। भारतीय स्वातंत्र्य के लिए अंग्रेज क्यों नहीं लड़ें, ऐसा प्रश्न सहसा कोई खड़ा नहीं करता। ऐसा मानकर कोई नहीं चलता कि भारतीय स्वातंत्र्य केवल संसार में न्याय-प्रस्थापना करने की लड़ाई है इसलिए संसार के किसी भी देश के न्याय-प्रिय अथवा न्याय-निष्ठ लोग इस झगड़े में समान रूप से शामिल होंगे क्योंकि इसका निकट संबंध भारतवासियों के न्यायोचित राष्ट्रीय स्वार्थ-साधन से है इसलिए वे ही इस लड़ाई में अधिक से अधिक स्वार्थ-त्याग करेंगे और जिन ब्रिटिश लोगों के राष्ट्रीय स्वार्थ के विरुद्ध यह लड़ाई है वे इसका अधिक से अधिक विरोध करेंगे—यह मानकर ही सत्याग्रह-संग्राम की नीति निर्धारित की जाती है। इसका अर्थ यह नहीं है कि इस लड़ाई में कोई भी अंग्रेज शामिल न होंगे या इसके साथ कोई भी अंग्रेज सहानुभूति न दिखायेंगे। बतौर अपवाद के कुछ अंग्रेज इसमें शामिल भी होंगे और बहुतेरे अंग्रेज इसके साथ सहानुभूति भी दिखावेंगे परन्तु इससे पूर्वोक्त सिद्धान्त को बाधा नहीं पहुँचती। पेश्तर इसके कि ब्रिटिश राष्ट्र भारतीय स्वातंत्र्य के अधिकार को मंजूर कर ले, साम्राज्यवाद द्वारा प्रस्थापित राज्ययंत्र स्थगित होना चाहिए और ब्रिटिश राष्ट्र का यह विश्वास होना चाहिए कि अब आगे साम्राज्यवाद के द्वारा यहां अपनी स्वार्थ-साधना असंभव है तभी हमें स्वतंत्रता की प्राप्ति होगी। सत्याग्रह के स्वातंत्र्य-संग्राम में भी यह बात मानकर चला गया है। इसमें साधारण मनुष्य-स्वभाव-विषयक जो विचार-प्रणाली अवलंबित की गयी है उसके बिना समाज-सत्ताक क्रान्ति नहीं हो सकेगी और वह यह कि जब तक पूँजीवालों को यह दिखाई न देगा कि अब पूँजीवादी समाज-रचना आगे चलना असंभव है, या प्रस्थापित राज-सत्ता जब तक अपनी सत्ता के बल पर बहुजन-समाज के पृष्ठ-पोषण से यह क्रान्ति करने का निश्चय न कर ले, तब तक समाज-सत्ता की प्रस्थापना नहीं होगी। यह बात नहीं कि इस न्याय-स्थापना के कार्य में कोई भी पूँजीपति शामिल न होगा,

हों, उनमें आप लोग शामिल न होंगे व जो थोड़े लोग होंगे वे भी अपना स्वार्थ छोड़कर ही होंगे। जिन पूँजीवालों को इस कार्य में शरीक होना होगा उन्हें अपना पूँजीवाला-पन छोड़ने के लिए तैयार रहना होगा। हजरत ईसा ने कहा था कि एक बार सुई के नाके में से ऊँट निकल सकता है परन्तु धनिक को ईश्वरी साम्राज्य में प्रवेश नहीं मिल सकता, एवं म० गांधी भी कहते हैं कि परिग्रही मनुष्य सत्याग्रही नहीं बन सकता व दक्षिण अफ्रिका का अपना अनुभव भी बताते हैं कि वहाँ के सत्याग्रह की लड़ाई में सधनों की बनिस्बत निर्धनों की ही सच्ची मदद मिली थी। इन विचारों और अनुभवों में मनुष्य स्वभाव के प्रकार का जो सिद्धान्त बताया गया है उससे अधिक या भिन्न बात इस विचार में ग्रहण करने की जरूरत नहीं है कि 'पूँजीवाले समाज-सत्ताक क्रान्ति का विरोध करेंगे।' समाज के अन्याय का प्रतिकार वे लोग करते हैं जो उस अन्याय से पीड़ित होते हैं व प्रतिकार का विरोध वे लोग करते हैं जो उस अन्याय से अपना स्वार्थ साधते हैं। यह मामूली व्यवहार जो नहीं जानते वे समाज के अन्याय-निवारण की लड़ाई में सफलता नहीं पा सकते। सत्याग्रही तत्वज्ञान का व्यवहार भी इसी नीति से किया जाता है और होता है।

हम जो यह कहते हैं कि सत्याग्रह की अहिंसात्मक असहयोग क्रांति का तत्व केवल विदेशी राजसत्ता पर ही नहीं, स्वकीय राजसत्ता और स्वकीय धनिक वर्ग पर भी लागू पड़ता है उसके लिए टाल्सटाय के विचारों का भी आधार है। टाल्सटाय जिस देश में पैदा हुए वह राजनैतिक लिहाज से परतंत्र न था इस कारण उन्होंने इसी बात का विचार किया है कि अहिंसात्मक असहयोग का सिद्धान्त अपने तथा इतर स्वतंत्र देशों के धनिक वर्ग व सरकार के खिलाफ काम में लाकर संसार के सब श्रमजीवी अपनी मुक्ति किस प्रकार कर सकते हैं। १९०१ में लिखे (The Only Means) नामक निबन्ध में वे लिखते हैं:—

"संसार में १ अरब से ज्यादा मजदूर हैं। संसार का सब धन-धान्य, लोगों के जीवन व वैभव के सब साधन मजदूर ही तैयार करते हैं परन्तु जिस चीज को वे बनाते हैं उनका फायदा उन्हें नहीं मिलता, बल्कि

सरकार व धनिक वर्ग को मिलता है……। मजदूर सतत दरिद्रता, अज्ञान, और गुलामी में सड़ते हैं और जिन लोगों के लिए अन्न-वस्त्र और घर बनाते हैं व जिनकी वे सेवा करते हैं वही लोग उनके साथ तुच्छता का व्यवहार करते हैं। किसानों की जमीनें जब्त होती हैं, छिन जाती हैं और वे उन लोगों की निजी मिलकियत बन जाती हैं जो उसके लिए कष्ट और श्रम नहीं करते। इससे जमीन के मालिक जो कुछ मजदूरी या मावजा दे देते हैं उसी पर उन लोगों को जो जमीन पर मरते-खपते हैं अपनी गुजर करनी पड़ती है। जो जमीन छोड़कर किसी कारखाने में काम करने जाते हैं तो वे पूँजीपतियों के गुलाम बनते हैं। अगर उन्होंने करबंदी या लगानबंदी का आन्दोलन किया या हड़ताल करने की कोशिश की तो फौज और पुलिस का धावा होता है व उन्हें जबरदस्ती कर देने व काम करने पर मजबूर किया जाता है।

"जमींदार, सरकार व मिल मालिक व सैनिक अधिकारी इनके खिलाफ मजदूरों को बहुत शिकायतें रहती हैं। मगर वही मजदूर जमींदारों, सरकारों आदि की मदद करते हैं। जिन बातों की वे शिकायत करते हैं वही खुद करने के लिए तैयार हो जाते हैं। इसीसे जमींदार जमीन की पैदावार हड़प जाता है, सरकार कर वसूल कर लेती है, मिल-मालिक मजदूरों की खबर ले लेते हैं और सैनिक हड़ताल तोड़ डालते हैं।……मजदूरों की यह फरियाद है कि जिस जमीन को हम अपना मानते हैं उस पर जब हम कब्जा करने लगते हैं या सरकारी कर नहीं दिया या हड़ताल का संगठन किया तो हम पर फौज चढ़ाई करती है। मगर जो फौज उन पर भेजी जाती है उसके सैनिक इन किसान-मजदूरों में से ही आते हैं। अलबत्ता वे अपने व्यक्तिगत स्वार्थ से या सजा के भय से फौज में नौकरी करते हैं और उन्हें यह कसम दिलाई जाती है कि अपने मनोदेवता व ईश्वरीय-नियम को एक ओर ताक में रखकर अधिकारी जिसको कत्ल करने का हुक्म देंगे उसको कत्ल कर डालूँगा। मतलब यह कि मजदूरों की तमाम मुसीबतों का कारण खुद वही हैं। अगर वे धनिक वर्ग व सरकार से सहयोग करना छोड़ दें तो उनकी तमाम आपत्तियों का अन्त अपने आप हो जायगा"।

टाल्सटाय ने पूँजीवाद और सैनिक सत्ता के जुल्म से आत्म-बल के द्वारा मुक्त होने का मार्ग तो दिखाया परन्तु वे खुद रूस में उसके अनुसार प्रत्यक्ष कार्य न कर सके। इसीसे वहाँ लेनिन आदि का सशस्त्र क्रान्तिवाद फैला। परन्तु यहाँ म० गांधी ने टाल्सटाय के अहिंसात्मक असहयोग का अवलंबन करके भारत के राष्ट्रीय स्वातंत्र्य के झगड़े को कैसे सफलता-पूर्वक निपटाया जाय इसका पाठ भारतीय जनता को पिछले २० साल से पढ़ाया है। म० गांधी में टाल्सटाय की अपेक्षा व्यावहारिक राजनीतिज्ञता व नेतृत्वकला अधिक है और यहाँ शासकों ने भी दूरदर्शी स्वार्थ से क्यों न हो, निःशस्त्र क्रान्तिवाद के प्रचंड संगठन करने का थोड़ा-बहुत अवसर दिया है। जारशाही के बनिस्बत ब्रिटिश-साम्राज्यशाही में नागरिक स्वतंत्रता कुछ अधिक है। इसीसे म० गांधी टाल्सटाय के निःशस्त्र क्रान्ति-शास्त्र को बहुत परिणत अवस्था तक ले जा सके। फिर भी उनका कार्य विदेशी सत्ता से अपनी जनता को मुक्त करना था। इससे स्वकीय राजा और धनिकों के विरुद्ध लड़ाई का रूप उसे नहीं मिला। स्वतंत्रता का कार्य सिद्ध होने के बाद उसी क्रान्ति-शास्त्र का उपयोग टाल्सटाय के बताये काम में करना पड़ेगा। कहना नहीं होगा कि यह भावी कार्य म० गांधी के आगे की पीढ़ी के सत्याग्रही नेताओं को करना होगा। आज पं० जवाहरलाल जैसे नवीन पीढ़ी के नेता अहिंसात्मक क्रान्ति-शास्त्र का समर्थन करते हुए भी यह साफ-साफ कहते हैं कि स्वराज्य की प्राप्ति के बाद जब तक हम समाज-सत्ताक प्रजातंत्र की स्थापना न करेंगे तब तक यहाँ की आम जनता व मध्यम-वर्ग की दाल-रोटी का प्रश्न अच्छी तरह हल नहीं हो सकता। इससे यह अन्दाज करना धृष्टता न होगी कि कांग्रेस आगे चलकर पूर्ण स्वराज्य का अर्थ समाज-सत्ताक प्रजातंत्र करेगी। नेहरूजी की प्रेरणा से आज एक समाजवादी दल कांग्रेस में कायम हो गया है। यद्यपि इस पक्ष का पूरा विश्वास अभी निःशस्त्र क्रान्ति-शास्त्र पर नहीं बैठा है तथापि अनुशासन व व्यावहारिक नीति के तौर पर उन्होंने उस क्रान्तिशास्त्र का अवलम्बन किया है और हमें इसमें कोई शक नहीं मालूम होता कि ज्योंही हिन्दुस्तान अहिंसात्मक क्रान्ति के द्वारा पूर्ण स्वराज्य की स्थापना कर लेगा

त्योंही अहिंसात्मक क्रान्ति-शास्त्र पर इस पक्ष की निष्ठा अधिक दृढ़ हो जायगी।

भारतीय संस्कृति का भी स्वरूप समाजसत्ताक होगा, इस विषय में अब कांग्रेस की नयी पीढ़ी में बहुत-कुछ एकवाक्यता होने लगी है। फिर भी एक बात पर यहाँ विशेष रूप से विचार कर लेने की जरूरत है। वह है औद्योगिक विकेन्द्रीकरण (Industrial de-centralisation)। इसके लिए आधुनिक योरप के इन चार प्रमुख अर्थ-शास्त्रज्ञों की विचार-प्रणाली का तुलनात्मक अध्ययन करने की जरूरत है—ॲडम स्मिथ, फ्रेडरिक लिस्ट, कार्ल मार्क्स व प्रिंस क्रोपाटकिन। इनमें ॲडम स्मिथ व्यक्तिवादी, फ्रेडरिक लिस्ट राष्ट्रवादी, व कार्ल मार्क्स तथा प्रिंस क्रोपाटकिन समाजवादी अर्थ-शास्त्रज्ञ थे। ॲडम स्मिथ के व्यक्तिवादी अर्थ-शास्त्र से खुले मैदान का, अनिर्बंध स्पर्धा का, और भौगोलिक श्रम-विभाग का सिद्धान्त स्थिर हुआ। उसी के आधार पर ब्रिटिश पूँजीवाद और साम्राज्यवाद की वृद्धि हुई। भौगोलिक श्रम-विभाग के तत्वानुसार एशिया के उर्वर राष्ट्र महज खेती करके अनाज और कच्चा माल दें और इङ्गलैंड आदि योरपीय देश पक्का माल बनानेवाले अधिक मुनाफे के काम-धन्धे करें—यह श्रम-विभाग निसर्गसिद्ध माना जाने लगा। खुले व्यापार व अनिर्बंध स्पर्धा के सिद्धान्त की बदौलत जब नेपोलियन ने सारे योरप में महायुद्ध की ज्वाला फैलाई थी, उस समय में ब्रिटिश पूँजीवाद को, जो हिन्दुस्तान को निगलकर बैठा था, औद्योगिक क्षेत्र में मिली अपनी अग्रसरता स्थिर करने का मौका मिला और एशिया की तरह योरप के लोगों को भी पक्का माल देने का ठेका ब्रिटिश पूँजीवाद को मिलने लगा। यह देखकर जर्मन अर्थ-शास्त्रज्ञ फ्रेडरिक लिस्ट ने खुले व्यापार के सिद्धान्त पर आघात करके संरक्षक जकात का नवीन राष्ट्रीय अर्थ-शास्त्र निर्माण किया। इस अर्थ-शास्त्र के सिद्धान्तानुसार बाल्यावस्था के उद्योग-धन्धों को विदेशी माल पर जकात के द्वारा संरक्षण देकर इङ्गलैंड की तरह प्रत्येक योरपीय देश अपने यहाँ प्रचंड उद्योग-धन्धे खड़े करे और एशिया के देशों से अन्न तथा कच्चा माल लाकर पिछड़े हुए देशों को पक्का माल पहुँचाने की ठेकेदारी में सब योरपीय देश ब्रिटिशों

से स्पर्धा करें--इस तरह का नवीन साम्राज्यवादी राष्ट्रीय अर्थ-शास्त्र पैदा हुआ। फ्रेडरिक लिस्ट ने ॲडम स्मिथ प्रभृति ब्रिटिश अर्थ-शास्त्रियों के व्यक्तिवादी तत्त्वज्ञान के अन्दर छिपे राष्ट्रीय स्वार्थ की तो कलई खोल दी परन्तु ऐसा करते हुए उसने अपने राष्ट्रीय स्वार्थ को नहीं छोड़ा। उसने अपने राष्ट्रीय अर्थशास्त्र में यह साफ साफ लिखा है कि एशिया के देशों को योरपीय देशों के कारखानों के लिए आवश्यक कच्चा माल तैयार करने के लिए ही प्रकृति या ईश्वर ने पैदा किया है।

इस तरह फ्रेडरिक लिस्ट ने १९वीं सदी के मध्य में जर्मन राष्ट्रवाद को साम्राज्यशाही दीक्षा देनेवाले अर्थशास्त्र की बुनियाद डाली। हमारे यहाँ न्या० रानडे के समय से इसी राष्ट्रीय अर्थशास्त्र के ढंग पर भारतीय अर्थशास्त्र निर्माण हुआ। परन्तु हिन्दुस्तान में साम्राज्यवादी अर्थशास्त्र खड़ा नहीं हो सकता था। अतः यह भारतीय अर्थशास्त्र आगे की भारतीय संस्कृति की नींव डालने के लिए काफी न था। इसके बाद जर्मनी में कार्ल मार्क्स ने अपना संसार-प्रसिद्ध समाजवादी अर्थशास्त्र तैयार किया। इसका मुख्य सिद्धान्त यह है कि देश के कारखाने व जमीन पर किसी का निजी स्वामित्व न हो, बल्कि राष्ट्र का सामूहिक स्वामित्व हो। इस सिद्धान्त को स्वीकार किये बिना हिन्दुस्तानियों के अन्न-वस्त्र का प्रश्न ही हल नहीं हो सकता, वर्ग-विग्रह से राष्ट्रीय भावना के टुकड़े हुए बिना नहीं रहते और प्रजासत्ता धनिक-शाही का रूप ले लेती है--ये मत आज भारतीय समाजवादियों द्वारा मान्य हो चुके हैं। तथापि इतने ही सिद्धान्तों के आधार पर भावी भारतीय संस्कृति की आर्थिक नींव नहीं डाली जा सकती। उसके लिए प्रिन्स क्रोपाटकिन द्वारा प्रतिपादित औद्योगिक विकेन्द्रीकरण का सिद्धान्त हिन्दुस्तान को स्वीकार करना पड़ेगा। क्रोपाटकिन समाजवादी था। फिर भी हिन्दुस्तान में जो समाजवाद आज आ रहा है वह मार्क्स के अनुयायियों द्वारा आ रहा है, इससे क्रोपाटकिन के औद्योगिक विकेन्द्रीकरण के सिद्धान्त की ओर समाजवादी दल का जितना चाहिए, ध्यान नहीं जाता। इसका प्रतिपादन ग्रामोद्योग का संगठन करनेवाले गांधीजी के अनुयायी बहुत बार करते हैं। परन्तु वे क्रोपाटकिन के इन समाजवादी विचारों का विशेष उल्लेख नहीं करते कि

इस संगठन में नैसर्गिक शक्ति का व यन्त्रकला का उपयोग कर लेना चाहिए व धनोत्पादन के सब साधनों पर समाज का स्वामित्व कर देना चाहिए। वस्तुतः भारतवर्ष को औद्योगिक विकेन्द्रीकरण और धनोत्पादन के साधनों पर सामुदायिक स्वामित्व इन दोनों तत्वों का अवलम्बन करना पड़ेगा। ऐसा होने पर ही हिन्दुस्तान में खेती व उद्योग-धन्धे दोनों की कड़ी ठीक तरह से जुड़ सकेगी, भारतीय संस्कृति का ग्राम-प्रधान स्वरूप कायम रक्खा जा सकेगा, औद्योगिक विकेन्द्रीकरण के साथ ही राजसत्ता का भी विकेन्द्रीकरण करके जनसत्ता का अधिक परिपोष किया जा सकेगा और भरत खण्ड के सब विभागों की सर्वांगीण उन्नति होकर राजसत्ता के व धनोत्पादन के केन्द्रीकरण से उत्पन्न सब आपत्तियाँ दूर हो सकेंगी। प्रत्येक राष्ट्र, उसका प्रत्येक प्रान्त, और प्रान्त-विभाग आर्थिक दृष्टि से भरसक स्वयंपूर्ण बनाया जाय, प्रत्येक विभाग के लिए आवश्यक कच्चा व पक्का माल भरसक जहाँ का वहीं तैयार किया जाय, प्रत्येक विभाग के लोगों की सब शक्तियों का विकास होने के लिए उस विभाग का औद्योगिक जीवन भरसक विविधता-सम्पन्न किया जाय और इस तरह प्रत्येक राष्ट्रविभाग को स्वावलम्बी व भरसक सर्वगुण-सम्पन्न बनाने का ध्येय अपने सामने रखा जाय—यह क्रोपाटकिन की विचार-प्रणाली है। इस तरह से स्थानिक स्वयंपूर्णता व स्वावलंबन का सिद्धांत ग्रहण करने से खेती व दूसरे उद्योग-धन्धे, कच्चे व पक्के माल की निपज, उत्पादक व उपभोक्ता, खेती का व कारखाने का काम इन सबका समुचित मेल बैठाकर नियोजित आर्थिक संगठन (Planned economy) बनाना बहुत आसान व सुविधाजनक हो जाता है। चूँकि यह संगठन छोटे क्षेत्र व छोटे लोक-समुदाय से शुरू होता है वह बहुत फुटकर नहीं बनने पाता। इस कारण स्थानिक लोगों की आवश्यकताओं व मतों का उस पर उचित प्रभाव पड़ता है, वह अधिक लोकमतानुवर्ती रह सकता है व उसके मातहत प्रत्येक विभाग के लोगों की स्वतंत्रता व सुख अधिक सुरक्षित रह सकते हैं। इसके अलावा खुली हवा, काफी पानी, खुले मैदान, और सूर्य किरणों का सुपास आदि प्राकृतिक सम्पत्ति का काफी लाभ सबको मिलेगा जिससे राष्ट्रीय जीवन अधिक नीरोगी, तेजस्वी, सम्पन्न और सुसंस्कृत हो सकता

है। उद्योग-धंधे व खेती में बिजली जैसी प्राकृतिक शक्ति के उपयोग करने का ज्ञान आज हमारे पास है। इसी तरह लोकसत्ता व समाजसत्ता जैसी शासन व समाज व्यवस्था-सम्बन्धी पद्धति भी हमें उपलब्ध है। इन सबका उपयोग करने से भावी भारतीय संस्कृति को पहले की तरह ग्राम-प्रधान व कृषि-प्रधान रखकर भी भौतिक दृष्टि से अधिक सम्पन्न, बौद्धिक दृष्टि से अधिक प्रगतिशील, सामाजिक दृष्टि से अधिक समतापूर्ण, राज-नैतिक दृष्टि से अधिक लोकसत्ताक और धार्मिक दृष्टि से अधिक प्रवृत्ति-मय किन्तु शान्ति-प्रधान बनाना शक्य है। परन्तु इसके लिए भौतिक विद्या, यन्त्रकला, बुद्धि-स्वातंत्र्य, व्यक्ति-स्वातंत्र्य, सामाजिक व आर्थिक समता, लोकसत्ता व समाजसत्ता इन आधुनिक जगत् के तमाम भौतिक व सामाजिक आविष्कारों से पूरा लाभ उठाना चाहिए व ऐसा करते हुए हमारी प्राचीन आध्यात्मिक सम्पत्ति को न गवाँते उसकी वृद्धि के लिए ही इन सबका उपयोग हमें करना चाहिए। इस तरह की भावी भारतीय संस्कृति की नींव डालने में हमें क्रोपाटकिन के उस अर्थशास्त्र से जो राष्ट्र-वादी व समाजवादी अर्थशास्त्र का समन्वय करके उसने बानाया है पूरा पूरा लाभ उठाना पड़ेगा।

परन्तु आज जर्मनी व इटली में राष्ट्रीय समाजवादी अर्थ-शास्त्र के रूप में जो साम्राज्यवादी अर्थ-शास्त्र आगे आ रहा है उसका क्रोपाटकिन के अर्थ-शास्त्र से कोई सम्बन्ध नहीं है। इसे फासिस्ट या नाजी अर्थ-शास्त्र समझ लेने की भूल पाठक न करें। हिटलर का नाजी अर्थ-शास्त्र भले ही अपने को राष्ट्रीय समाजवादी अर्थ-शास्त्र कहता रहे, वस्तुतः वह पूँजीवादी व साम्राज्यवादी अर्थ-शास्त्र ही है व उसने समाजवाद को कभी से धता बता दी है। एक अर्थ में वह व्यक्तिवादी अर्थ-शास्त्र के खिलाफ है और इसी से उसे 'राष्ट्रीय' कहते हैं। उसका उद्गम फ्रेडरिक लिस्ट के अर्थ-शास्त्र से हुआ है व उसका समाजवाद से कोई सम्बन्ध नहीं है। ब्रिटिश पूँजीवाद की वृद्धि व्यक्तिवादी वातावरण में हुई है इससे वहाँ के पूँजीवाले शेर जैसे बन गये हैं। वे संघ बनाकर रहने व चलने की बहुत प्रवृत्ति नहीं दिखाते और जर्मन पूँजीवाले राष्ट्रवादी अर्थशास्त्र की छत्र छाया में बढ़े हैं, इससे उनमें संघ-भावना ज्यादा है। वे सियाल की तरह

रहते हैं। दोनों एक से हिंस्र हैं और दोनों का सच्चा अर्थ-शास्त्र साम्राज्यवादी ही है। सच्चे राष्ट्रवादी व समाजवादी अर्थ-शास्त्रों में विरोध नहीं है, उनका समन्वय हो सकता है और वह कैसे हो सकता है यह प्रिंस क्रोपाटकिन ने अच्छी तरह दिखा दिया है। इसी अर्थ-शास्त्र के आधार पर भावी भारतीय संस्कृति की इमारत हमें खड़ी करनी होगी।

अब हम वर्ग-विग्रह व समाजवाद दोनों का भारतीय संस्कृति की परंपरा की दृष्टि से विचार करें व यह देखें कि भारतीय संस्कृति की प्रगति कब व कैसे रुकी। तब इस बात का निश्चय करें कि भावी भारतीय संस्कृति का रूप क्या होगा अथवा मानव-संस्कृति को भारतीय-संस्कृति कौन-सा महत्त्वपूर्ण सन्देश देगी? भारतीय संस्कृति संसार की एक महान् व अत्यन्त प्राचीन संस्कृति है व संसार उससे बहुत-कुछ सीख सकता है। जितनी यह बात सही है उतनी ही यह भी सही है कि अब उसकी प्रगति रुक गयी है व वह मौजूदा समय में योरपीय संस्कृति से पिछड़ गयी है। हमारी संस्कृति की प्रगति क्यों रुक गयी है, यह जानकर जब तक हम आगे कदम न बढ़ावेंगे, तब तक उसे उज्ज्वल स्वरूप प्राप्त न होगा और न मानव-संस्कृति में वृद्धि करने की हमारी आकांक्षा ही सफल हो सकती है। मानव-संस्कृति की वृद्धि का कार्य मध्य युग तक योर-पीय व भारतीय दोनों संस्कृतियाँ प्रायः एक समान करती रहीं। बल्कि यह कहना होगा कि कुछ बातों में मध्ययुगीन भारतीय संस्कृति तत्कालीन योरपीय संस्कृति से अधिक श्रेष्ठ व सम्पन्न थी। परन्तु आधुनिक-काल में अलबत्ते योरपीय संस्कृति आगे निकल गयी है। किन्तु अब उसकी भी गति कुण्ठित हो गयी है और आगे रास्ता ढूँढने की शक्ति उसमें बाकी नहीं है। योरप के तत्वज्ञों को आगे का मार्ग दिखाई न देता हो सो बात नहीं। परन्तु लोगों को उस मार्ग पर ले चलने का सामर्थ्य वहाँ के लोकनायकों में नहीं है। योरपीय संस्कृति पूँजीवाद व साम्राज्य-वाद के भँवर में पड़ गयी है और उसके चक्कर में से उसे बचा ले जाने की शक्ति उसके नाविकों या कर्णधारों में नहीं दिखाई देती। योरप में चार राष्ट्र प्रमुख हैं—इंग्लैंड, फ्रांस, जर्मनी व इटली। इनमें जर्मनी व

इटली में सामर्थ्योपासकों का एक-एक सम्प्रदाय उत्पन्न हो गया है व हिटलर तथा मुसोलिनी जैसे समर्थ पुरुषार्थी राष्ट्रनायक भी उन्हें प्राप्त हो गये हैं। इस तरह जर्मनी व इटली में सामर्थ्य तो उत्पन्न हुआ है परन्तु उसका उपयोग मानव संस्कृति की प्रगति में नहीं बल्कि उसे प्रतिगामी व आसुरी बनाने में किया जा रहा है। आधुनिक योरप में फूले-फले प्रजा-सत्ता व नागरिक स्वातन्त्र्य के तत्वों को उन्होंने दिन दहाड़े पैरों तले रौंदकर मानों इस बात का बीड़ा उठा लिया है कि चाहे सारी मानव या योरपीय संस्कृति नष्ट-भ्रष्ट हो जाय, पर हम प्रजातंत्रात्मक समाज-सत्ताक संस्कृति को योरप में न पनपने देंगे। उनके देश के धनिक इसमें उनके पृष्ठ-पोषक हैं। इस धनिक वर्ग की सेवा से लाचार व भावी साम्राज्यशाही के लोभ से मोहित बुद्धि-प्रधान मध्यम वर्ग तत्व-भ्रष्ट होकर उनकी सेवा करने में तत्पर है व अज्ञान किसान वर्ग को मजदूरों से फोड़कर उन्होंने समाज सत्ता के लिए झगडनेवाली जनता की टाँग ही तोड़ दी है। उनकी स्थापित "जारशाही" से जनता को मुक्त कराने के लिए खून की नदी बहानेवाली सशस्त्र क्रान्ति के सिवा दूसरा मार्ग वहाँ के नेताओं को आज नहीं दिखाई दे रहा है। परन्तु हिटलर-शाही व मुसोलिनी-शाही तो आज जारशाही से भी ज्यादा वैज्ञानिक बन गयी है और उनका राज्य मन्त्र भी आज तो अधिक कार्यक्षम दिखाई देता है। इस कारण प्रचंड महायुद्ध के होमकुंड में उनकी आहुति हुए बिना उनके जबड़े से योरपीय संस्कृति का छुटकारा होता नहीं दीखता। इस महायुद्ध के होम कुंड की अग्नि जब कभी बुझेगी तब योरपीय संस्कृति का कितना भाग शेष रहेगा व मानव संस्कृति में उसका क्या स्थान रहेगा, इसका अन्दाज करना कठिन है। योरप के दूसरे दो देशों ने—इंगलैंड व फ्रांस ने—अभी लोक-सत्ता का बुरका खुल्लम-खुल्ला उतार कर नहीं फेंक दिया है व वे संसार को यही दिखाते हैं कि आधुनिक योरप की संस्कृति की रक्षा हमारे ही कारण हो रही है। परन्तु आज उनकी स्थिति जर्मनी व इटली से भी, एक तरह से, गयी-गुजरी हो गयी है। इनमें अब किसी प्रकार का सामर्थ्य बाकी नहीं दिखाई देता। अपने साम्राज्य की रक्षा भी उनके लिए दूभर हो गयी है व इधर साम्राज्य का लोभ भी छूटता नहीं है।

वहाँ के अनेक विद्वान् तो यह मानते हैं कि योरपीय संस्कृति की वृद्धि व प्रगति अब समाज सत्ता के ही द्वारा हो सकती है; परन्तु अपनी इस विद्वत्ता को राष्ट्र के गले उतारने व राष्ट्र से समाज सत्ता की स्थापना कराने का सामर्थ्य आज उन किसी में भी नहीं दिखाई देता। जिस समय देश को महान् समर्थ व पुरुषार्थी नेताओं की आवश्यकता होती है उस समय यदि वे पैदा नहीं होते तो यही कहना पड़ता है कि उस देश के अधःपात का समय आ गया है या उसकी संस्कृति का विनाश नजदीक है। संस्कृति-वृक्ष में जब घुन लग जाता है तब महान् व पुरुषार्थी पुरुष रूपी फल उसमें नहीं लगते। आज इंग्लैण्ड व फ्रांस की ऐसी ही शोचनीय स्थिति हुई दीखती है। आधुनिक-कालीन राष्ट्रीयता, प्रजा सत्ता व पूँजीवाद का उदय इन देशों में हुआ। उन्होंने कुछ समय तक मानव-संस्कृति का नेतृत्व भी किया। भौतिक व सामाजिक विद्या की बहुत वृद्धि भी उन्होंने की व इस बात की भी खोज की कि अब आगे के इतिहास में मानव-संस्कृति किस युग में प्रवेश करेगी। परन्तु अपनी संस्कृति की प्रगति करने का सामर्थ्य आज उनमें नहीं बच रहा है। इंग्लैण्ड व फ्रांस में आज यही अनुभव हो रहा है। वहाँ की राष्ट्रीयता छिन्न-भिन्न हो रही है व प्रजा-सत्ता धनिक-सत्ता बन गयी है। उनकी बुद्धि तो यह जानती है कि इन दोनों से आगे जाने का समय अब आ गया है, किन्तु वैसा हाथ से किया नहीं जाता। उनकी ऐसी दुर्बल व शोचनीय अवस्था हो गई है। 'जानामिधर्मं नच मे प्रवृत्तिः। जानाम्यधर्मं नच मे निवृत्तिः' ऐसी दशा को ये देश आज आ पहुँच चुके हैं।

आधुनिक भारत के म० गांधी व पं० जवाहर लाल नेहरू जैसे प्रतापी पुरुष आज इंग्लैण्ड में नहीं दिखाई देते। वहाँ की आम जनता साम्राज्य-वाद की लूट से मिली सम्पत्ति के कारण तत्त्व-भ्रष्ट हो गयी है। जिस राष्ट्र ने प्युरिटन-काल में प्रस्थापित राजसत्ता के खिलाफ बगावत करके सत्ताधारी वर्ग द्वारा संस्कृति के प्रवाह पर बाँधे बाँध के तोड़ डालने का सामर्थ्य दिखाया था उसमें आज निःशस्त्र क्रान्ति का सामर्थ्य बाकी नहीं बच रहा। आधुनिक भारत ने १९३० व ३२ में अपूर्व सत्याग्रह-संग्राम किया

और प्रस्थापित राजसत्ता द्वारा बे-कायदा घोषित कांग्रेस का लड़ाऊ क्रान्ति-यन्त्र प्रतिपक्ष के द्वारा होने वाले दमन के उग्र व भयंकर शस्त्र-संपात के बावजूद एक साल तक चालू रक्खा। किन्तु १९२६ में ब्रिटिश मजदूरों ने जब सार्वत्रिक हड़ताल रूपी प्रत्यक्ष प्रतिकार का हथियार प्रस्थापित राजसत्ता पर चलाया तो उसके बेकायदा घोषित करने की धमकी भर से उठाकर दूर फेंक दिया और मानों अपनी इस कृति के द्वारा संसार को यह बता दिया कि किसी भी प्रकार की राज्यक्रान्ति करने का सामर्थ्य हममें नहीं रहा व अब हम आगे अपनी संस्कृति की प्रगति नहीं कर सकते। उसके बाद तो मैकडोनल्ड जैसे नेताओं का कंजर्वेटिव दल से मिलकर, जन्म भर नेतृत्व करके पाले-पोसे समाजवादी दल व तत्वज्ञान को दगा देना क्रमप्राप्त ही था। इसके विपरीत म० गांधी ने सत्याग्रही तत्वज्ञान की सहायता से आधुनिक भारत में एक प्रचण्ड सामर्थ्य उत्पन्न किया है। इस सामर्थ्य का अधिष्ठान प्राचीन भारत का आत्मबल है और इस सामर्थ्य की बदौलत आधुनिक भारत में अपनी प्राचीन संस्कृति का अभिमान भी पैदा हुआ है। उसके साथ ही आधुनिक योरपीय संस्कृति के प्रति एक तरह की तुच्छता या अनादर भी उत्पन्न हुआ है। इस अनादर-भाव के कारण, संभव है, आधुनिक भारत का अधःपात भी हो जाय। यदि भारतीय अंतःकरण में यह भावना प्रबल होती गयी कि आधुनिक योरप की प्रत्येक बात व विचार त्याज्य व तुच्छ है तो वह अपनी प्राचीन संस्कृति के दोषों से चिपका रहेगा—इतना ही नहीं बल्कि, कुछ विचार-शील लोगों को आज ऐसा भी लगने लगा है कि यह अनादर करते-करते कहीं उसके उज्ज्वल अंग का अनादर न होने लगे व हीन अंगों का, अनजान में, आदर। किन्तु यह बात पक्की है कि आधुनिक भारत आज कार्यक्षम व समर्थ बनने लगा है। उसकी यह कार्य-क्षमता व सामर्थ्य एक-सा बढ़ भी रहा है। इसलिए ऐसी आशंका के सच होने की गुंजायश बहुत कम रह जाती है। जब कोई देश जी-जान से अपने उद्धार के प्रयत्न में जुट पड़ता है व उसके लिए आवश्यक त्याग करने की भावना यदि उसके बुद्धिशाली लोगों में बढ़नें लगी तो उसके तत्वज्ञान के दोष रहते हुए भी उसका अधःपात नहीं होता, बल्कि उसके उद्योग-

सामर्थ्य से वह धीरे-धीरे निर्दोष बनने लगता है। आत्मोद्धार के लिए ऐसा उद्योग करने की आत्म-प्रेरणा आज भारत में जाग्रत हो गयी है व हमें यह पक्की आशा है कि वह अपने राष्ट्रीय तत्वज्ञान को अधिकाधिक निर्दोष व शुद्ध बनाता जायगा। फिर भी हमें यह देख लेना जरूरी है कि हमारे तत्वज्ञान में, पूर्वोक्त कारण से, आज कौन-सी बुराई आ जाने का डर है, किस बुराई के कारण प्राचीन संस्कृति की प्रगति कुण्ठित हुई व उसे आधुनिक योरपीय संस्कृति के सामने हार खानी पड़ी। अतः अब इसी की तरफ ध्यान दें।

आधुनिक योरपीय संस्कृति की उत्पत्ति वर्ग-कलह के रूप में हुई व आज उसका विनाश भी सम्भवतः वर्ग-कलह में ही होता दीखता है। इससे कुछ लोगों की यह मानने की प्रवृत्ति है कि वर्ग-कलह का सिद्धान्त हमें बिल्कुल मंजूर नहीं। हमें ऐसा लगता है कि यह प्रवृत्ति कदाचित् हमारी प्रगति में रुकावट डाले। आज तो यह कहा जा सकता है कि हम एक राष्ट्रीय स्वातंत्र्य की लड़ाई में लग रहे हैं, इसलिए वर्ग-कलह को एक ओर रखकर केवल राष्ट्रीय बंधुत्व पर जोर देने की नीति वर्तमान स्थिति व प्रचलित राजनीति के अनुरूप है व जब तक यह साबित न हो कि वर्ग-कहल का अवलम्बन किये बगैर पूर्ण राष्ट्रीय स्वातंत्र्य नहीं मिल सकता तब तक इस नीति को छोड़ना उचित भी नहीं है। यदि हम राष्ट्र-संघ की वर्तमान योजना को नष्ट-भ्रष्ट न कर सके व ब्रिटिश राजनेताओं की हमारे राष्ट्रीय-संग्राम को आज ही वर्ग-विग्रह का रूप देने की चाल या साजिश सफल हो गई तो फिर हमें वर्तमान नीति को छोड़कर भी राष्ट्रीय स्वातंत्र्य के लिए ही, वर्ग-युद्ध की नीति ग्रहण करनी पड़ेगी। किन्तु हमें यह विश्वास है कि कांग्रेस ब्रिटिशों के इस षड्यन्त्र में आनेवाली नहीं है, इसलिए हमारी बुद्धि यही निर्णय करती है कि आज वर्ग-युद्ध की नीति अख्त्यार न करनी चाहिए। तथापि हमारा यह स्पष्ट मत है कि पूर्ण स्वराज्य की प्राप्ति के बाद हमें वर्ग-विग्रह का तत्व मंजूर करना पड़ेगा व सत्याग्रह से उसका समन्वय करना पड़ेगा। आधुनिक योरप ने जो वर्ग-विग्रह किया या उसका अवलंबन किया उसमें उसने कोई गलती नहीं की। मगर उसने जो भूल की वह तो यह

कि वर्ग-विग्रह के करते हुए उसने हिंसात्मक साधनों का अतिरेक कर दिया, राष्ट्रीय बन्धुत्व से उसका बिल्कुल समन्वय नहीं किया व इस वर्ग-विग्रह के सिलसिले में प्रजासत्ताक संस्थाओं की बिल्कुल जरूरत न होगी—यह मानकर प्रजासत्ता पर ही तलवार खींच ली। सत्याग्रह यदि वर्ग-विग्रह की नीति बना ले तब भी राष्ट्रीय बंधुत्व को आंच आने की जरूरत नहीं है; क्योंकि सत्याग्रही संग्राम में प्रतिपक्ष के व्यक्तियों के द्वेष की गुंजायश नहीं होती। वह तो खास तौर की अन्यायी समाज-रचना या खास संस्थाओं के विरुद्ध हो सकता है, उसके किसी व्यक्ति के खिलाफ नहीं। पूँजीवादी संस्था या वर्ग को मिटाने का अर्थ पूँजीवाले व्यक्तियों को मिटाना नहीं है। समाजवादी तत्वज्ञान की भी तत्वतः यही भूमिका है। कार्ल मार्क्स ने अपने 'कैपिटल' नामक ग्रन्थ की प्रस्तावना में यह बात स्पष्ट रूप से कही है कि हमारा झगड़ा पूँजीवाले व्यक्तियों से नहीं, पूँजीवादी संस्था से है। यदि सत्याग्रही तत्वज्ञान ने समाज-सत्ताक व्यवस्था स्थापित करने का निश्चय किया तो वह इस विचार-सरणि का और भी जोर से समर्थन करेगा व क्रान्ति काल में भी अहिंसात्मक वातावरण कायम रक्खेगा—इसमें कोई सन्देह नहीं है। इसी तरह सत्याग्रही तत्वज्ञान लोकसत्ता व सत्याग्रही प्रत्यक्ष प्रतिकार का समन्वय करके निःशस्त्र क्रान्ति को सफल कर बतावेगा। इस तरह सत्याग्रही तत्वज्ञान के यह बिल्कुल काबू की बात है कि वह वर्ग-विग्रह व समाज-सत्ताक क्रान्ति को मानकर भी उसका राष्ट्रीयता व लोकसत्ता से समन्वय कर दे। अलबत्ते वर्ग-विग्रह व समाज-सत्ताक क्रान्ति का अवलंबन किये बिना वह भावी भारतीय संस्कृति की इमारत खड़ी न कर सकेगा। यह मत हमें नहीं जँचता कि वर्ग-विग्रह का तत्व प्राचीन भारतीय संस्कृति से बिल्कुल असंगत है। हाँ, यह सच है कि आधुनिक योरप के व्यापारी पूँजीवाले वर्ग ने सामंत वर्ग के खिलाफ जिस तरह का वर्ग-विग्रह किया, अथवा वहाँ मजदूर आज पूँजीवाद के खिलाफ जिस तरह वर्ग-कलह कर रहे हैं वैसा भारत के वैश्यों ने नहीं किया व अब तक यहाँ के मजदूर भी पूँजीवाद के खिलाफ वैसा नहीं कर रहे हैं। तथापि उसके साथ ही यह भी सच है कि प्राचीन भारतीय संस्कृति आधुनिक योरपीय संस्कृति के

मुकाबले में पिछड़ गयी, उसकी प्रगति रुक गयी व अन्त में उसे उसके (आ० यो० संस्कृति के) सामने हार खानी पड़ी। आधुनिक योरपीय व्यापारी मध्यम वर्ग ने धर्माधिकारी व सामन्त वर्ग के खिलाफ किसान-वर्ग की सहायता से सफल बगावत की, योरपीय जनता को, निदान मध्यमवर्ग को, श्रद्धायुग से बुद्धि-युग में लाकर छोड़ दिया, राजसत्ता पर नागरिक स्वतंत्रता का बंधन लगाकर उसे लोक-नियंत्रित बना दिया, सामन्त वर्ग को नष्ट करके सामाजिक समता व लोकसत्ता के आदर्श का समर्थन किया व मानव संस्कृति में समाज-सत्ताक युग की भविष्यवाणी की। लेकिन यह सब करते हुए उसने अध्यात्म विद्या की पूरी उपेक्षा की, समस्त विद्याओं व कलाओं को एक धनोत्पादन की दासी बना दिया, आत्मबल को भुला दिया, व महज शस्त्र-बल पर सारा दारोमदार रक्खा। आधुनिक योरप की ये भूलें भी बहुत बड़ी हैं। यह सब सच है, किन्तु आधुनिक योरप की सारी संस्कृति पर तुच्छता का परदा डालकर हम भावी संस्कृति का निर्माण न कर सकेंगे। अगर हमने समाज के कनिष्ट वर्ग को वरिष्ठ वर्ग के विरुद्ध खड़ा होकर अपने हक-हकूक प्राप्त करने की कला न सिखायी तो इससे यह नहीं कहा जा सकता कि हमारी प्राचीन संस्कृति में वर्ग-कलह नहीं था। प्राचीन भारत में ब्राह्मण व क्षत्रियों का वर्ग-कलह हुआ था। ब्राह्मण-क्षत्रियों ने वैश्यों से कलह किया है व द्विजों ने शूद्र-अतिशूद्रों को दासता में रखने के अनेक प्रयत्न किये हैं।

ये सब बनाव-बिगाड़ वर्ग-कलह के बगैर नहीं हुए हैं। हाँ, योरप की तरह यहाँ उसके द्वारा एक राष्ट्रीयता, लोक-सत्ता, नागरिक स्वतंत्रता की स्थापना नहीं हुई। समाज में कोई शूद्र न रहे, ऐसा आदर्श नहीं पुकारा गया। किन्तु इसे हमारी संस्कृति का बड़प्पन या गौरव नहीं कह सकते। योरपीय वैश्यों ने वर्ग-कलह में हिंसा-नीति स्वीकार की यह उनकी गलती हो सकती है; परन्तु हमारे वैश्यों ने यह गलती नहीं की, इसके लिए उनकी स्तुति नहीं की जा सकती; क्योंकि उन्होंने योरपीय वैश्यों की तरह पराक्रम व पुरुषार्थ भी तो नहीं दिखाया और न राष्ट्रीयता व लोकसत्ता की स्थापना ही की। ब्राह्मण से लेकर शूद्र तक हमारे सब वर्ग राष्ट्रीय

व प्रजा सत्ता से अछूते रहे व ईस्ट इंडिया कम्पनी की सहायता करके अपना सारा देश परतंत्रता में डाल दिया। वरिष्ठ वर्ग के दमनकारी प्रभाव से वैश्य व शूद्र-अति शूद्र ये वर्ग पुरुषार्थहीन बन गये व उन्होंने अपने बल-बूते पर वर्ग-कलह नहीं किया, यह सही है; परन्तु उन्होंने विदेशी विजेताओं की सहायता करके दूसरी तरह से वरिष्ठ वर्ग के उस एकतर्फा वर्ग-विग्रह का बदला ही तो चुकाया। इसकी अपेक्षा योरपीय वैश्यों का वर्ग-कलह या वहाँ के वर्तमान मजदूरों का वर्ग-कलह हीन नहीं कहा जा सकता। हमारे वैश्य व शूद्र अति-शूद्रों ने तो अन्याय सहन करने का मानों व्रत ही ले रक्खा है व विदेशियों से मिलकर अपने देश को पराधीन बना दिया। इससे तो आधुनिक योरप ने वर्ग-कलह में हिंसा का अवलम्बन करके भी जो बड़ों के अन्याय से झगड़ने का सिद्धान्त कायम रक्खा व इस झगड़े के दर्मियान अनेक श्रेष्ठ सामाजिक व राजनैतिक आदर्श खड़े कर डाले, उसके लिए मानवी-संस्कृति के इतिहास-लेखकों को आधुनिक योरप के गुण गाने पड़ते हैं। अब आधुनिक भारत का तब तक उद्धार नहीं हो सकता जब तक कि वह बड़ों के अन्याय के खिलाफ बगावत करने का तत्व अंगीकार न कर ले। लेकिन हाँ, उसे आधुनिक योरप के दोष दिखाने का अधिकार तभी मिलेगा जब हम इस बगावत को शान्ति या अहिंसा द्वारा सफल बनाने का महाकार्य कर दिखावें।

आर्यों के भरतखण्ड में बस जाने पर उन्होंने वर्णाश्रम-धर्म के रूप में अपनी संस्कृति बनाई। इनमें शूद्र व अतिशूद्र वर्ण दासकर्म करनेवाले भी वर्ण थे। वास्तव में देखा जाय तो वर्णाश्रम-धर्म-संस्कृति ब्राह्मण, क्षत्रिय व वैश्य इन तीन वर्णों की ही संस्कृति थी, शूद्र व अतिशूद्र तो उनके दास ही थे। उस समय के सभी समाजों में दास प्रथा थी। योरपीय समाज में भी मध्य युग के अन्त तक हमारे चातुर्वर्ण्य की तरह चार वर्ग थे। उस काल में सामाजिक समता का अर्थ इन चार वर्गों को तोड़ना नहीं था बल्कि था किसी भी वर्ग से जन्मे हुए व्यक्ति का गुण कर्मानुसार दूसरे वर्ग में प्रवेश पाना। सबसे निचले शूद्र को भी सबसे ऊँचे ब्राह्मण वर्ग तक पहुँचने की छुट्टी रहे, इतना ही सामाजिक सुधार का अर्थ था। जब

समाज में धनोत्पादन की मात्रा बहुत कम होती है तब बहुजन-समाज संस्कृति व सम्पत्ति से दूर ही रहता है । ऐसे समय सभी को सुसंस्कृत व सुसम्पन्न करने का आदर्श बहुत करके किसी को सूझता ही नहीं है व सूझा भी तो वह व्यवहार में काम नहीं दे सकता । हमारे यहाँ भी जैन व बौद्ध काल से, बल्कि उसके भी पहले से शूद्रों की दासता कम की जाय व उनकी भौतिक उन्नति तथा ज्ञान-प्राप्ति के मार्ग खुले किये जायँ—इसके प्रयत्न होते आ रहे हैं । बहुतों का अनुमान है कि चार्वाक का लोकायत-मत इसी तरह का था । किसी भी वर्ण में जन्मे व्यक्ति को ब्राह्मणत्व का दर्जा मिलने की कल्पना वशिष्ठ–विश्वामित्र के समय से चली है व इसके प्रचार में से एक विचार-कलह व विचार-कलह में से एक प्रकार का वर्ग-कलह भी उत्पन्न हुआ था । श्रीकृष्ण के भागवत-धर्म में—'स्त्रियो वैश्यास्तथा शूद्रास्तेऽपि यान्ति परां गतिम्' यह मत मान्य हुआ है व स्त्रियों तथा शूद्रों को समाज में सर्वश्रेष्ठ दर्जा प्राप्त करने की छुट्टी दी गयी है । बौद्धकाल में तो एक तरह से सर्वांगीण समाज-क्रान्ति ही हुई थी व ऐसा लगता है कि उस समय विचार-कलह व वर्ग-कलह प्रचलित रहा होगा । हाँ, वह सच है कि बाद के काल में शूद्रों को वैदिक संस्कृति का अधिकार नहीं दिया गया; किन्तु यह कहना अनुचित न होगा कि खुद वह वैदिक संस्कृति ही पीछे रह गयी व बौद्ध तथा भागवत संस्कृति आगे आ गयी । बौद्ध संस्कृति ने तो वैदिक परम्परा के विरुद्ध खुल्लम-खुल्ला बगावत मचायी थी । भागवत-संस्कृति ने खुली बगावत का मार्ग नहीं ग्रहण किया तो भी उसमें गीता को वेद से भी अधिक श्रेष्ठ स्थान देकर वैदिक संस्कृति को गौणता ही दी । भागवतधर्मी संत खुल्लम-खुल्ला कहने लगे, वेद व उपनिषद् के अंतर्गत आत्मोद्धार संबंधी सारा तत्वज्ञान जब भगवद्गीता में है व भक्ति-मार्ग के इतर प्राकृत-ग्रन्थों में भी वह भरपूर है तो फिर वैदिक ज्ञान की क्या जरूरत या महत्ता हमारे लिए रही ? हालाँकि आज भी वैदिक कहलाने वाले ब्राह्मण ऐसा दुराग्रह रखते हैं कि शूद्र चाहे कितना ही बड़ा हो उसे हम ब्राह्मण नहीं कहेंगे, अथवा राज्याभिषेक नहीं करेंगे । किन्तु, इसके विपरीत व्यास-वाल्मीकि ऋषिकोटि में चले गये व शूद्र-अतिशूद्र जाति के साधुसन्त

हजारों ब्राह्मणों के आध्यात्मिक गुरु बन गये। शूद्रों का वैदिक पद्धति ने भले ही राज्याभिषेक न किया हो, परन्तु उन्होंने राजसत्ता व साम्राज्य-सत्ता का उपभोग किया एवं उनकी सेवा करके ब्राह्मणों ने उनकी स्तुतियाँ कीं व गुणगान गाये! जो शूद्र महज परिचर्यात्मक कर्म करने के योग्य माना गया था वह कृषि-गौरक्ष-वाणिज्य तो करने लगा ही; परन्तु मंत्री, राजा, नहीं नहीं, साधु-सन्त, ऋषि व आध्यात्मिक गुरु भी बन गया। भारतीय संस्कृति में यह एक प्रचण्ड क्रांति हुई थी। इतिहासाचार्य स्व० राजवाड़े उसका वर्णन इस तरह करते हैं—

"उत्तर कुरु में जो अर्ध-जंगली शूद्र महज दास कर्म कर के समाज-सोपान की बिल्कुल निचली सीढ़ी पर ठुकराया जाता था वह अब नंदों व मौर्यों के शूद्र व वृषल शासन-काल में अध्यात्म, नीति, प्रव्रज्या, एक-वर्णता, सर्व-समता व साम्राज्य का विजयी सञ्चालक हो गया। बुद्ध व जिन, विशेषतः गौतम बुद्ध, द्वारा की गयी यह क्रांति मामूली धर्म-क्रांति या राज-क्रांति अथवा मत-क्रांति नहीं थी, वह सर्वव्यापी भयंकर समाज-क्रांति थी। इस प्रचण्ड क्रान्ति ने वैदिक समाज की नींव उखाड़ दी, व चातुर्वर्णिक समाज उथल-पुथल हो गया।"

यह प्रचण्ड समाज-क्रांति बिना वर्ग-विग्रह के नहीं हुई। इसके बाद यद्यपि बुद्धधर्म हिन्दुस्तान में नहीं रहा तो भी उसका यह कार्य सदा के लिए कायम रहा। बुद्ध ने वैदिक देवताकाण्ड, यज्ञ यागादिक कर्मकाण्ड और सामाजिक विषमता के खिलाफ विद्रोह किया। फिर बुद्ध-धर्म से जाकर मूर्ति-पूजा उदय हुई और कुछ समय तक पौराणिक देवता-काण्ड, व्रतोद्यापन व पूजा-विधान एवं कुमारिल भट्टादि के कर्म-मीमांसा-धर्म का दौरदौरा रहा। लेकिन शंकराचार्य ने अद्वैत वेदान्त के ज्ञानकाण्ड को आगे करके देवता-काण्ड व कर्मठता को गौणत्व दिया और भागवत-धर्मी सन्तों ने अद्वैत वेदान्त के शुद्ध तत्वज्ञान को भक्ति-मार्ग में लाकर आम जनता को निष्काम भक्ति से आत्मोद्धार का व मोक्ष का मार्ग दिखा दिया। इन सब बातों के होते हुए कर्मठ मीमांसक ज्ञानमार्गी व भक्तिमार्गियों के पीछे पड़ गये। प्रत्येक साधु सन्त के समय उनकी समता-प्रस्थापना के कार्य का विरोध किया व एक प्रकार का वर्गकलह भी पैदा किया। परन्तु

साधु-सन्तों ने सत्याग्रही वृत्ति धारण करके अपना धर्म-सुधार जारी रक्खा। जो गौतमबुद्ध नास्तिक व वेद-निन्दक माना जाता था उसे हिन्दू जनता ने ईश्वरी अवतार बना दिया। इस प्रकार संस्कृति-सुधार का यह कार्य हुआ तो, पर मध्ययुगीन भारत आधुनिक युग में न आ सका। ब्रिटिश शासन-काल में अब म० गांधी के नेतृत्व में भागवत-धर्मी साधु-सन्तों की सत्याग्रही वृत्ति में से एक निःशस्त्र क्रान्तिशास्त्र निर्माण हो रहा है। यदि स्वतंत्र भारत में यह पैदा हुआ होता तो सहज ही उसे सर्वांगीणक्रांति का रूप मिल गया होता। वह अभी तक नहीं मिला है। हमारा खयाल है कि वह जल्द ही मिलेगा व उसके आश्रम से वर्ग-विग्रहात्मक सर्वांगीण समाज-क्रान्ति हुई भी तो वह भारतीय राष्ट्रीयता व प्रजासत्ता को आँच न आने देते हुए होगी। इस तरह आधुनिक योरप में निर्मित संस्कृति को आत्मसात् करके, जो क्रान्ति उसके द्वारा न हो सकी उसे अहिंसा के द्वारा सफल करके जब दिखा देगा तभी सत्याग्रही तत्वज्ञान की सच्ची महत्ता दुनिया को मालूम होगी व आधुनिक भारत को निर्माण करनेवाली संस्कृति आधुनिक योरपीय संस्कृति से श्रेष्ठ साबित होगी।

महात्मा गांधी भारत में श्रीकृष्ण अथवा गौतम बुद्ध की तरह ही एक अत्यन्त महान् विभूति हैं। उनके सत्याग्रही तत्वज्ञान में भागवत और बौद्ध दोनों धर्मों के तत्वों का समन्वय हुआ है और उसे उन्होंने सामाजिक और राजनैतिक क्रान्ति का रूप दे दिया है। श्रीकृष्ण या बुद्ध के समय जिस तरह की सर्वांगीण क्रान्ति भरतखण्ड में हुई उससे भी अधिक सर्वांगीण क्रांति का समय आज आ गया है। आज हमारे सामने सिर्फ इतना ही प्रश्न नहीं है कि शूद्र अथवा अति-शूद्र में से योग्य व्यक्ति को गुणकर्मानुसार द्विजत्व प्राप्त हो अथवा वैश्य क्षत्रिय या ब्राह्मण बन सके। **बल्कि आज तो समाज के वर्ग-भेद ही नष्ट करके एक-वर्ग समाज स्थापित करने की आवश्यकता व शक्यता मालूम होने लगी है।** आधुनिक योरप में व्यापारीवर्ग के नेतृत्व में जो संस्कृति निर्माण हुई उसके द्वारा लोकसत्ता व सामाजिक समता का आदर्श सामने आने से ही एकवर्ग समाज की कल्पना संसार के सामने प्रस्तुत हुई है। फ्रेंच राज्य-क्रान्ति के समय समता, स्वतन्त्रता व बन्धुता के सिद्धान्त पर मानव संस्कृति की रचना

करने का प्रयोग पहले पहल हुआ। उस समय यह समझा गया था कि प्रजासत्ता व नागरिक स्वतंत्रता की स्थापना हुई नहीं कि सब लोग एक ही वर्ग में आ जायँगे। सामन्तशाही खतम हुई, जमीदार-वर्ग नष्ट हुआ और सबको सामाजिक समता व नागरिक स्वतन्त्रता के अधिकार मिले नहीं कि शूद्र अथवा दास या भूदास-वर्ग खतम हुआ नहीं। इस तरह क्षत्रिय व शूद्र वर्ग जब न रहा तो समाज में सिर्फ किसान, मजदूर व व्यापारी इनका एक वैश्य वर्ग रह गया। प्रत्येक को जहाँ धार्मिक और बौद्धिक स्वतंत्रता मिली नहीं कि नैतिक, आध्यात्मिक या धार्मिक उन्नति के लिए स्वतंत्र रूप से धर्माधिकारी-वर्ग की भी आवश्यकता नहीं रहेगी। प्रत्येक किसान को अपनी जमीन व व्यापारी तथा कारीगर को मजदूरी या मुनाफा उनके कष्ट साहस और संयम के अनुपात में मिलने लगे तो समाज के किसी भी व्यक्ति को चाहे जो स्थान मिल सकता है। फलतः किसी व्यवसाय के लोगों को कुछ समय तक उचित से अधिक मुनाफा मिला तो उस व्यवसाय में दूसरे लोग शरीक हो जाते हैं और अनुचित मुनाफे का अनुपात कम हो जाता है। इसके बखिलाफ जब किसी व्यवसाय में काम करनेवाले को उसके काम का उचित मुआवजा नहीं मिलता सो उस व्यवसाय के लोग दूसरे धन्धे अपना लेते हैं और शेष लोगों को उचित मुनाफा मिलने लगता है। इस तरह व्यवसाय-स्वातन्त्र्य और ठहराव-स्वातन्त्र्य की नींव पर सब अपने अपने श्रम के अनुपात से संपत्ति प्राप्त कर सकेंगे व अपने-आप एकवर्ग समाज कायम हो जायगा ऐसी अपेक्षा उस समय थी। इसका कारण तो यह था कि औद्योगिक क्रान्ति से जो प्रचण्ड मिल-उद्योग शुरू हुए उनका वास्तविक रूप और परिणाम उस समय ध्यान में नहीं आया। ज्यों-ज्यों औद्योगिक क्रान्ति का स्वरूप विशद होने लगा और समाज के बहुसंख्यक लोगों पर उसके परिणाम दिखाई देने लगे त्यों-त्यों ऐसा दिखाई देने लगा कि नागरिक—स्वातंत्र्य, व्यवसाय-स्वातन्त्र्य व ठहराव या इकरार-स्वातन्त्र्य की बुनियाद पर प्रजा सत्ता के द्वारा एक-वर्ग समाज-रचना नहीं हो सकती। बड़े उद्योगों के कारण घरेलू धन्धे डूब गये और किसानों को मिली जमीन बेचने की स्वतन्त्रता से साहूकार, दुकानदार व पूँजीवालों के दमनकारी

प्रभाव में फिर बड़ी जमीदारियां बनने लगीं। यान्त्रिक सहायता से प्रचण्ड उद्योग-धन्धों की तरह विस्तृत खेती करना भी सुलभ है यह पता लगते ही छोटी-छोटी खेती नष्ट होकर औद्योगिक पद्धति की खेती का प्रचण्ड कृषि-व्यवसाय शुरू हुआ। इन सब प्रवृत्तियों का स्वाभाविक परिणाम यह होगा कि प्रत्येक देश के कारखाने जमीन व खानें एक अल्प-संख्यक धनिक-वर्ग के कब्जे में चली जायँगी और प्रत्येक राष्ट्र की बहु-संख्यक जनता इस अल्प-संख्यक मालिक-वर्ग की आर्थिक गुलामी में जा पड़ेगी। यह देखकर समाजवादी तत्वज्ञों ने यह ठहराया कि कारखाने, जमीन और खानों पर जब तक सार्वजनिक स्वामित्व स्थापित न होगा तब तक एक-वर्ग समाज, स्वतन्त्रता, समाज व बंधुत्व के आदर्श अमल में नहीं आ सकते। समाज-सत्ता का यह तत्व औद्योगिक क्षेत्र में लागू किया हुआ प्रजासत्ता का ही सिद्धान्त है। कार्ल मार्क्स ने यह प्रतिपादन किया कि इस प्रजा-सत्ता की स्थापना मालिक वर्ग की उदारता से नहीं बल्कि मजदूरों के विद्रोह से होगी। इस तरह शास्त्रीय समाजवाद का निरूपण करके पूँजीवाद के अन्तर्विरोध और वर्ग-कलह के आधार पर भावी समाजसत्ताक क्रान्ति का शास्त्रीय भविष्य कथन किया। यह भविष्य रूस में मोटे तौर पर सही निकला। और तब से समाज-सत्ता का एक-वर्ग समाज का आदर्श सब संसार में फैला। हिन्दुस्तान को प्रजा-सत्ता और राष्ट्रीय-स्वातन्त्र्य के साथ ही समाज सत्ता का आदर्श स्वीकार करना पड़ेगा व जमीन तथा कारखानों का व्यक्तिगत स्वामित्व मिटा कर सार्वजनिक स्वामित्व स्थापित करने का क्रान्ति-कार्य निःशस्त्र साधन से सफल करके दिखाना है। यह क्रान्ति संगठित असहयोग व सत्याग्रह के तत्वानुसार करना किसान और मजदूरों के लिए किस तरह संभवनीय है यह टॉल्स्टाय के इसी प्रकरण में दिये अवतरण से मालूम हो ही जाता है।

आधुनिक जगत् की भौतिक विद्या, उसकी बदौलत प्राप्त धनोत्पादन के भौतिक साधन, यन्त्रकला व बिजली जैसी नैसर्गिक शक्ति का उपयोग सुलभ होने के कारण आज समाज में शूद्र-अतिशूद्र जैसे दासवर्ग या दास सदृश वर्ग रखने की आवश्यकता किसी भी समाज में नहीं रही है। उसी तरह सामन्तशाही व पूँजीवाद की भी जरूरत आज समाज में नहीं रह

गयी है। जिस समय राज्यशास्त्र व युद्धकला बाल्यावस्था में थी तब सामन्तशाही समाज-रक्षा का काम अच्छी तरह कर रही थी व किसी राजा या समाज के जुल्म-ज्यादती करने पर बाहुबल से उसका मुकाबला करना सामन्त के लिए कठिन न था। बाद में जब बड़े-बड़े राज्य कायम हुए तब सामन्तशाही तोड़नी पड़ी व तमाम फौज व फौजी अफसरों को नकद तनख्वाह मिलने लगी। चाहे जो चाहे जितना प्रदेश जीत ले व बाहुबल पर राजा बन बैठे, यह व्यक्ति-स्वातन्त्र्य नष्ट हुआ। इससे सामान्य जनता की स्वतंत्रता बढ़ गयी। अब आज कारखानेदार जमींदार वर्ग को हटाकर आम जनता की स्वतंत्रता बढ़ाने व उसकी दासता मिटाने का समय आ गया है। जिस समय हरेक अपने कष्ट के अनुपात से ही धनार्जन कर सकता व बिना कष्ट के अधिक धन-संचय नहीं किया जा सकता था उस प्राथमिक औद्योगिक अवस्था में यह सिद्धान्त कि जो जितना चाहे पैसा पैदा करे व उससे लाभ उठावे, समाज की अभिवृद्धि का पोषक था। किन्तु आज के प्रचण्ड धनोत्पादन के समय में ऐसी स्वतंत्रता किसी को नहीं दी जा सकती। आज समाज की सम्पति व उसे प्राप्त करने के लिए किये जानेवाले कष्ट का अनुपात विषम या व्यस्त हो गया है। सम्पत्तिवालों को हजारों लोगों के जीवन पर सत्ता प्राप्त होने लगी है। इस सत्ता व सम्पत्ति को आप बतौर ट्रस्टी के रक्खें—यह कहकर इस प्रश्न को हल नहीं किया जा सकता। जब समाज के धनोपार्जन के साधन न्यायोचित होते हैं—अर्थात् धनार्जन से कष्ट का अनुपात सम रहता है—तब इस उपदेश से काम चल सकता है कि न्यायप्राप्त सम्पत्ति को समाज की थाती समझकर इस्तेमाल करो, बहुत जिम्मेदारी के साथ उससे लाभ उठाओ, ऐसा करते हुए आत्मकल्याण व लोककल्याण का भी ध्यान रक्खो व बिला जरूरत के उसका उपयोग न करते हुए शेष सम्पत्ति दान कर दो। परन्तु समाज में धनार्जन के कौन से साधन बाकायदा हों, इसके निर्णय का जो काम कानून का है वह इस नैतिक उपदेश से नहीं हो सकता। धनोत्पादन की पद्धति के बदलने से धनोत्पादन के मार्ग का रूप भी बदलता है और इस बदली हुई आर्थिक परिस्थिति में धनार्जन के कौन से मार्ग खुले रहें व कौन से बन्द, इसका फैसला कानून

के द्वारा करना पड़ता है। पहले की पद्धति में जो मार्ग समाज के लिए हानिकारक नहीं थे अथवा जिनमें समाज की ज्यादा हानि होने की सम्भावना नहीं थी वही मार्ग नवीन पद्धतिवाले समाज में अत्यन्त हानिकारक साबित होते हैं। फिर भी जिनके लिए वे मार्ग लाभदायक होते हैं उन्हें उन मार्गों से मिली सम्पत्ति कष्टार्जित ही मालूम होती है व वे इस बात को कुबूल नहीं करते कि यह सम्पत्ति अन्याय-पूर्वक अर्जित है। इन रास्तों को बन्द करने में ऐसे वर्गों की ओर से विरोध होता है और सो भी परम्परा व हक मिल्कियत के नाम पर। धनार्जन की मार्ग-परम्परा व उससे उत्पन्न हक मिल्कियत परिस्थिति-सापेक्ष होते हैं व जब तक व्यक्तियों के स्वामित्वाधिकार—हक मिल्कियत—की कानूनन मर्यादा न बाँधी जाय व जो अधिकार समाज को हानि पहुँचाते हैं वे न छीन लिये जायँ तब तक समाज की प्रगति नहीं हो सकती। ऐसे वर्ग इस सिद्धान्त को मंजूर नहीं करते। ऐसे वर्गों के विरोध के बदौलत ही समाज में क्रान्ति की नौबत आती है। औद्योगिक क्रान्ति के कारण आज समाज-सत्ताक क्रान्ति की जरूरत पैदा हो गयी है व इस क्रान्ति का कार्य इस सिद्धान्त से नहीं हो सकता कि व्यक्ति सम्पत्ति व सत्ता का उपभोग समाज के ट्रस्टी—वाली—के तौर पर करें। समाज में सत्ता व सम्पत्ति का बटवारा कैसे किया जाय, समाज के व्यक्तियों को सत्ता व सम्पत्ति का लाभ किस तरह मिले व सत्ता तथा सम्पत्ति के बँटवारे में समाज की नैतिक उन्नति व भौतिक साधनों का हिसाब लगाकर किस अनुपात से समता कानून-द्वारा अमल में लायी जाय व किस हिसाब से विषमता कायम रक्खी जाय, इसका निश्चय एक बार हो जाय और तत्कालीन भौतिक व नैतिक उन्नति के अनुरूप समाज-रचना का बाकायदा सिलसिला जम गया तो फिर उस समाज-रचना के अनुसार सत्ता व सम्पत्ति का जो भाग किसी व्यक्ति को मिलेगा उसका उपभोग वह कैसे करे यह बताने के लिए इस सिद्धान्त का जन्म हुआ है। इस सिद्धान्त से लोक-सत्ताक अथवा समाज-सत्ताक क्रान्ति का कार्य नहीं हो सकता; हाँ, समाज-सत्ताक क्रान्ति के बाद भी कुछ व्यक्तियों को अधिक सत्ता देनी पड़ेगी व कुछ को औरों से ज्यादा सम्पत्ति भी रखने देना पड़ेगी।

उस सत्ता व सम्पत्ति के उपभोग के सम्बन्ध में कानून के कुछ बन्धनों के रहते हुए भी उनसे यह काम पूरी तरह नहीं हो सकता। उनके लिए इस नैतिक तत्व के उपदेश की जरूरत रहेगी। परन्तु इस काम के लिए भी ऐसे सत्याग्रहियों की जरूरत रहेगी; जो इस उपदेश को प्रत्यक्ष अपने आचरण में लाकर दिखाते हों; कानूनन जो सत्ता व सम्पत्ति उन्हें मिल सकती है उसकी परवा न कर अपनी कम से कम जरूरतों के लिए आवश्यक सम्पत्ति कष्ट से प्राप्त करके अधिक सम्पति व सत्ता की अभिलाषा न रखते हों, यदि अधिकारी लोगों पर जोरो-जुल्म करते हों तो जनता को यह दिखा दें कि उसका प्रतिकार कैसे किया जाय व यह अन्याय अत्याचार जब असह्य हो उठे तब समाज-सत्ताक प्रजातंत्र के खिलाफ भी अहिंसात्मक असहयोग का प्रयोग करके प्रस्थापित राजयंत्र को बन्द कर दे। समाज-सत्ताक प्रजातंत्र के स्थापित हो जाने पर भी अधिकारी व प्रजा तथा शासक व शासित यह भेद रहने ही वाले हैं और जब तक यह भेद कायम है तब तक वास्तविक एक-वर्गी समाज रचना नहीं हो सकती। समाज-सत्ताक प्रजातंत्र मानव समाज की पूर्णावस्था नहीं है। इस समाज-सत्ताक प्रजातंत्र में भी ऐसे दूरदर्शी व निःस्वार्थ लोक-सेवक चाहिए ही जो उन अन्यायों को भी महसूस कर लें जो अधिकारी वर्ग या बहुमत को प्रतीत न हों या लाजिमी मालूम हों, व जो यह दिखा दें कि वे बखूबी टाले जा सकते हैं। ऐसा सत्याग्रही वर्ग जिसने सत्य-संशोधन व सत्यसंस्थापन को ही अपना नित्य व्यवसाय बना लिया है व जिसके लिए अपनी शारीरिक, बौद्धिक व आत्मिक शक्ति का उपयोग करने में ही जिन्हें सच्चा आनन्द व जीवन की कृतार्थता मालूम हो, समाज-सत्ताक प्रजातंत्र के भावी विकास के लिए अत्यन्त आवश्यक है।

म० गांधी सत्याग्रह के रूप में जिस आत्मबल को संगठित व संवर्धित करने का प्रयत्न कर रहे हैं उसकी परम्परा भारतवर्ष में बहुत बड़ी है। अत्यन्त प्राचीन काल में आश्रमवासी ऋषियों के ब्राह्मतेज के रूप में वह भरत खण्ड में जन्मा फिर ब्राह्मण-वर्ग ने यज्ञ-यागादि कर्मकाण्ड व देवता-काण्ड का प्रभाव बढ़ाकर स्वर्ग-प्राप्ति के सकाम धर्म को प्रधानता दी। तब गौतम बुद्ध ने इस आत्मबल का संरक्षण व संवर्धन करके देवता

काण्ड व सामाजिक विषमता के विरुद्ध क्रान्ति करने के लिए बुद्ध-धर्म का व भिक्षु संघ का संगठन किया। बाद को यह भिक्षुसंघ भी अवनत होकर परिग्रही बन गया व राजा लोगों की दासता में चला गया। तब कुमारिल भट्टादि ने वैदिक धर्म का जो पुनरुज्जीवन किया उसमें फिर कर्मकाण्ड व देवताकाण्ड की महिमा बढ़ी। इसके पश्चात् शंकराचार्य ने पीठों व मठों की स्थापना करके अद्वैत वेदान्त के आधार पर शिक्षित लोगों में शुद्ध तत्वज्ञान का प्रसार किया और भागवत्-धर्मी संतों ने इसी अद्वैत के आधार पर निष्काम भक्ति के मार्ग का उपदेश करके आम लोगों में आत्मबल जाग्रत किया। आज म० गांधी ने इसी परम्परागत प्राचीन आत्मबल का संगठन करके उसे राजनैतिक व सामाजिक क्रान्तिकारी रूप दिया है। सत्याग्रही वर्ग अब किसी खास मत पर अधिष्ठित कोई धर्म-सम्प्रदाय नहीं रह गया है। महज व्यक्तिगत आध्यात्मिक मोक्ष सत्याग्रह का ध्येय नहीं है। लोगों की सर्वांगीण उन्नति के लिए उन्हें सर्वांगीण क्रान्ति का मार्ग दिखानेवाला वह एक अखण्ड क्रान्तिशास्त्र है। लोक-सत्ता व समाज-सत्ता के रूप में उदित एकवर्ग समाज के आदर्शों को आत्मसात् करके मानव समाज को पूर्णावस्था प्राप्त होने तक उसका नेतृत्व करने का सामर्थ्य इस सत्याग्रही तत्वज्ञान में है। भौतिक विद्या व यन्त्रकला से उसका विरोध नहीं। बाह्य सृष्टि से कैसा व्यवहार किया जाय, व उसकी नियति को अपने अनुकूल व उन्नतिकारी कैसे बनाया जाय, यह ज्ञान मनुष्य को भौतिक-विद्या से ही प्राप्त हो सकता है। अन्न-मय प्राण व प्राणमय पराक्रम इस भौतिक सत्य की तरफ से प्राचीन भारत ने आँखें नहीं मूँद ली थीं। भूखे आदमी को ब्रह्म अन्न के ही रूप में प्रतीत होता है और वेदान्ती मनुष्य को भी दोपहर को १२ बजे 'अन्न पूर्णब्रह्म है' यह कहकर भोजन करना पड़ता है। इसको भुलाकर कोई भी समाज-रचना नहीं टिक सकती व टिकाने का प्रयत्न भी किया तो वह सफल नहीं हो सकता। पूँजीवादी धनोत्पादक पद्धति से बहुसंख्यक लोगों की दाल-रोटी का सवाल अच्छी तरह नहीं हल होता व धनी-गरीब का सापेक्ष अन्तर बढ़कर समाज व राष्ट्र के दो विरोधी गुट्ट बन जाते हैं। जीवन व धन की क्षणभर भी शाश्वति न होने के कारण बहुसंख्य सामान्य

जनता की नीतिमत्ता भ्रष्ट होने लगती है—'बुभुक्षितः किन्न करोति पापम् । क्षीणा नरा निष्करुणा भवन्ति' के अनुसार सामाजिक नीतिमत्ता की बुनियाद अन्न-प्राप्ति के भौतिक आधार पर पड़ी हुई है। सत्याग्रही तत्वज्ञान इसकी उपेक्षा नहीं करता। किन्तु हाँ, यह तत्व उसे मान्य नहीं है कि मनुष्य-समाज की आवश्यक भौतिक जरूरतें पूरी होने के पश्चात् भौतिक सम्पत्ति की बढ़ती के अनुपात से उसकी नैतिक उन्नति होती है अथवा उसकी संस्कृति अधिक उन्नत बनती है।—'नात्यश्नतस्तु योगाऽस्ति न चैकान्तमनऽश्नतः' अर्थात् अधिक खाने से भी योग प्राप्ति नहीं होती व बिलकुल न खाने से भी नहीं होती—यह आध्यात्मिक उन्नति का सिद्धान्त है। पूँजीवादी समाज में परिमित भौतिक उपयोग करने-वाला एक छोटा मालिक वर्ग व उसकी आर्थिक दासता में खपनेवाला दूसरा बुभुक्षित बहुसंख्य सेवक वर्ग बनता रहता है–इससे ऐसे समाज में शान्ति व नीति की अपेक्षा ही नहीं की जा सकती। जिस समाज के बहुसंख्य लोगों को अपने जीवन व जीवन-साधनों की बिल्कुल शाश्वति नहीं उसमें शान्ति व नीति का रहना अशक्य है। हिन्दुस्तान जैसे खण्ड-तुल्य राष्ट्र में चालीस करोड़ लोगों की दाल-रोटी का सवाल पूँजीवाद व साम्राज्यवाद के द्वारा हल करना असम्भव है व इतनी बड़ी लाक-संख्या की जीवन-यात्रा सुखपूर्वक चलाने का सामर्थ्य महज हस्त-व्यवसाय व ग्रामोद्योगों में या छोटे पैमाने पर की गयी खेती में है–ऐसा भी दिखाई नहीं देता। फिर इतना बड़ा भारतीय समाज महज आश्रमवासी ऋषियों की तरह भौतिक सुखों से विरक्त रहकर आत्मिक सुख पर ही संतुष्ट रहेगा; यह बात शक्य कोटि की नहीं। खण्ड-तुल्य भारत की इस समस्यापूर्ति के लिए भौतिक विद्या और यन्त्रकला का पूरा-पूरा उपयोग करना चाहिए व यह काम धनोत्पादन व धन-विभाजन के कार्य को समाज-सत्ता के अधीन करके ही करना चाहिए पर इस समाज-सत्ता को स्थापित करते हुए व स्थापित होने के बाद भी सत्याग्रही वर्ग की आवश्यकता भरत-खण्ड को ही नहीं, सारी मानव-संस्कृति को भी रहेगी।

इसके बाद अब भारतीय संस्कृति व मानव-संस्कृति का भेद नहीं रह जायगा। भौतिक दृष्टि से आज सारा मानव-समाज एक कुटुम्ब में

अथवा एक घर में लाकर रख दिया सा हो गया है। उसके लोगों को एकत्र रहे बिना गति नहीं है व उनके एकत्र रहने में ही मानव-कुल की उन्नति है। परन्तु एक घर में एकत्र रहनेवाले लोगों की तरह उन्हें बन्धु-भावना से रहना सीखना चाहिए। इससे आगे अब मानव-संस्कृति की उन्नति इस बन्धु-भावना के प्रचार व प्रस्थापना पर अवलम्बित है। मानव हृदय की इस बन्धु भावना को प्रेम कहते हैं व यह प्रेम-रूपी परमेश्वर प्रत्येक के अन्तःकरण में रहता है यह सिद्धान्त सत्याग्रही संस्कृति का आधार है। एक राष्ट्र के द्वारा दूसरे राष्ट्र पर अथवा एक वर्ग के द्वारा दूसरे वर्ग पर होनेवाले अन्याय का प्रतिकार करने के लिए जोर-शोर की लड़ाई करते हुए भी इस बन्धु-भावना के अन्तिम सिद्धान्त पर सत्याग्रह की दृढ़ श्रद्धा है। मानवी अन्तःकरण की न्याय-भावना व प्रेम-भावना अथवा सत्य अहिंसा से श्रेष्ठ परमेश्वर का कोई दूसरा स्वरूप नहीं। जिनका सत्य व प्रेम पर विश्वास है व सत्य-संशोधन तथा सत्य-संस्थापन के लिए आवश्यक त्याग व कष्ट-सहन की जिनकी तैयारी है वे अपने को ईश्वरवादी कहें या निरीश्वरवादी; वे बुद्ध की तरह शून्यवादी हों अथवा शंकराचार्य की तरह क्षर सृष्टि के मूल में एक अक्षर व अज्ञेय निर्गुणतत्व के माननेवाले हों, वे ईसा के अनुयायी हों या मुहम्मद के, वे सत्याग्रही बन सकते हैं। सत्याग्रही के लिए आत्मविद्या की जरूरत है लेकिन इस आत्मविद्या में गूढ़ अथवा विवादास्पद जैसी कोई बात नहीं है। आत्मा रथी व बुद्धि सारथि है, इन्द्रियाँ घोड़े हैं, मन उनकी लगाम है इतना अध्यात्मशास्त्र उसके लिए काफी होता है। बुद्धिरूप सारथी विषयोपभोग में डूब न जाय, उसके हाथ की मनोनिग्रह की बागडोर ढीली न पड़ जाय और विषयभोग के चक्कर में पड़कर इन्द्रिय रूपी घोड़े सरपट न दौड़ने लगें, इतना ही अध्यात्मशास्त्र है। बाह्य सृष्टि पर प्रभुत्व स्थापित करने व समाज के भौतिक सुखों की समस्या हल करने के व्यवहारों के लिए जिस तरह भौतिक विद्या की आवश्यकता है, उसी तरह अन्तः-सृष्टि पर प्रभुत्व स्थापित करने के व्यवहारों के लिए आत्म विद्या की जरूरत है। सत्याग्रही की आत्म-विद्या विवाद के लिए नहीं, व्यवहार के लिए है। ग्रन्थ-प्रमाण नहीं, अनुभव-प्रमाण उसकी

अन्तिम कसौटी है । केवल भौतिक विद्या की उपासना करनेवाले लोग अन्धकार में पड़ते हैं व केवल आत्मविद्या की उपासना करनेवाले उससे भी घोर अन्धकार में पड़ते हैं, ऐसा ईशोपनिषद् में कहा है। इसका अनुभव आधुनिक योरप के इतिहास से और पिछले तीन-चार सौ साल के भारत के इतिहास से संसार को हो चुका है । आधुनिक भारत उसके अत्यन्त कटुफल खूब चख चुका है । अतः अब आगे वह भौतिक विद्या अथवा आत्म विद्या दोनों में से किसी की भी उपेक्षा करेगा, ऐसा नहीं मालूम होता ।

अनियंत्रित विदेशी राजसत्ता से स्वकीय लोक-सत्ता में आधुनिक-भारत के प्रवेश करने का समय बहुत निकट आ गया है । इसके बाद जल्दी ही जिस सत्याग्रही तत्व के सहारे वह लोक-सत्ता की स्थापना करेगा उसी के बल पर वह समाज-सत्ता की भी स्थापना करेगा, किन्तु समाज-सत्ता भी भारत का अन्तिम सन्देश नहीं है । उसका अन्तिम सन्देश तो आत्म-सत्ता है । इस आत्मसत्ता की प्रस्थापना होकर मानव-समाज में जब किसी दण्डधारी राजनैतिक संस्था की बिल्कुल आवश्यकता न रहेगी तभी सच्ची एकवर्ग समाज-रचना स्थापित होगी । आधुनिक काल की एकवर्ग समाज-रचना के व प्राचीन ब्राह्मणत्व के ध्येय में बहुत अन्तर नहीं है व जिस तरह सत्ययुग में सिर्फ एक ही ब्राह्मण वर्ग था उसी तरह फिर समाज में वैसी ही एक वर्ग अवस्था प्राप्त हो यही मानव समाज की पूर्ण अवस्था की कल्पना भारत के हृदय में समाजवाद को आत्मसात् करने के बाद उदय होगी । आधुनिक भारत के समाज-वादी नेता पं० जवाहरलाल नेहरू ने इसी तरह के विचार अपनी 'मेरी कहानी'* में प्रदर्शित किये हैं। इस तरह आधुनिक संसार के अन्य राष्ट्रों के

---

* But the West also brings an antidote to the evils of this cut-throat civilisation—the principles of Socialism, of Co-operation, and service to the community for the common good. This is not so unlike the old Brahmin ideal of service but it means the Brahmanisation (not in the religious sense of course) of all classes and groups and the abolition

वर्तमान-कालीन इतिहास से अपने कार्यों में स्फूर्ति पानेवाले आधुनिक भारत के समाजवादी नेता और प्राचीन भारत की आध्यात्मिक संस्कृति का अभिमान रखनेवाले महात्मा गांधी जैसे सत्याग्रही जगद्वन्द्य नेता दोनों के दृष्टि पथ में आनेवाली भावी भारतीय संस्कृति के चित्र का द्वैत नष्ट हो सकता है। जिस अनुपात से स्वतंत्र भारत की भावी संस्कृति मूर्त-रूप धारण करने लगेगी उसी अनुपात से यह द्वैत पूर्णतः नष्ट होकर उसका स्पृहणीय रूप सारी मानव जाति की भौतिक व आत्मिक आकांक्षाओं को सन्तुष्ट करने में समर्थ होगा और वही भारतीय संस्कृति मानव-संस्कृति कहलाकर सारे संसार में फैलेगी यह हमारा दृढ़ विश्वास है।

सर्वेऽत्र सुखिनः सन्तु। सर्वे सन्तु निरामयाः ॥
सर्वे भद्राणि पश्यन्तु। मा कश्चिद्दुःखमाप्नुयात् ॥

---

of class distinctions. It may be that when India puts on her new garments, as she must, for the old torn and tattered, she will have it cut in this fashion, so as to make it conform both to present conditions and her old thought. The ideas she adopts must become racy to her soil. P. 432.

हिन्दी-मन्दिर
प्रयाग